प्रकाशक :
श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर, बीकानेर ३३४४०३

प्रकाशन सौजन्य :
श्रीमती छगनीदेवी दस्साणी

संस्करण :
सप्तम : सन् २००६

मूल्य : पचास रुपये मात्र

मुद्रक :
कल्याणी प्रिन्टर्स
अलख सागर रोड़, बीकानेर
दूरभाष : २५२६८९०

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की स्थापना हुई। संस्था जवाहर–साहित्य को लागत मूल्य पर जन–जन को सुलभ करा रही है और पण्डित शोभाचन्द्रजी भारिल्ल के सम्पादकत्व में सेठजी ने 33 जवाहर किरणावलियों का प्रकाशन कर एक उल्लेखनीय कार्य किया है। बाद में संस्था की स्वर्णजयन्ती के पावन अवसर पर श्री बालचन्दजी सेठिया व श्री खेमचन्दजी छल्लाणी के अथक प्रयासों से किरणावलियों की संख्या बढ़ाकर 53 कर दी गई। आज यह सैट प्रायः बिक जाने पर श्री जवाहर विद्यापीठ में यह निर्णय किया गया कि किरणावलियों को नया रूप दिया जावे। इसके लिए संस्था के सहमंत्री श्री तोलाराम बोथरा ने परिश्रम करके विषय–अनुसार कई किरणावलियों को एक साथ समाहित किया और पुनः सभी किरणावलियों को 32 किरणों में प्रकाशित करने का निर्णय किया गया।

ज्योतिर्धर श्री जवाहराचार्यजी म.सा. के साहित्य के प्रचार–प्रसार में जवाहर विद्यापीठ, भीनासर की पहल को सार्थक और भारत तथा विश्वव्यापी बनाने में श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, बीकानेर की महती भूमिका रही। संघ ने अपने राष्ट्रव्यापी प्रभावी संगठन और कार्यकर्ताओं के बल पर जवाहर किरणावलियों के प्रचार–प्रसार और विक्रय–प्रबन्धन में अप्रतिम योगदान प्रदान किया है। आज संघ के प्रयासों से यह जीवन–निर्माणकारी साहित्य जैन–जैनेतर ही नहीं, अपितु विश्व–धरोहर बन चुका है। संघ के इस योगदान के प्रति हम आभारी हैं।

धर्मनिष्ठ, सुश्राविका श्रीमती राजकुंवर बाई मालू धर्मपत्नी स्व. डालचन्दजी मालू द्वारा आरम्भ में समस्त जवाहर–साहित्य–प्रकाशन के लिए 60,000 रु. एक साथ प्रदान किये गये थे जिससे पूर्व में लगभग सभी किरणावलियाँ उनके सौजन्य से प्रकाशित की गई थीं। सत्साहित्य–प्रकाशन के लिए बहिनश्री की अनन्य निष्ठा चिरस्मरणीय रहेगी।

प्रस्तुत किरणावली का पिछला संस्करण श्रीमान् शांतिलालजी साण्ड, बैंगलोर एवं श्रीमती मंजूला बेन, बड़ोदरा के सौजन्य से प्रकाशित किया गया और प्रस्तुत किरण 30 (भगवती सूत्र व्याख्यान भाग 5 एवं 6) के अर्थ–सहयोगी श्रीमती छगनीदेवी दस्साणी हैं। संस्था सभी अर्थ–सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करती है।

निवेदक

चम्पालाल डागा
अध्यक्ष

सुमतिलाल बांठिया
मंत्री



आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा.

जीवन–तथ्य

जन्म स्थान	:	थांदला, मध्यप्रदेश
जन्म तिथि	:	वि.सं. 1932, कार्तिक शुक्ला चतुर्थी
पिता	:	श्री जीवराजजी कवाड
माता	:	श्रीमती नाथीबाई
दीक्षा स्थान	:	लिमड़ी (म.प्र.)
दीक्षा तिथि	:	वि.सं. 1948, माघ शुक्ला द्वितीया
युवाचार्य पद स्थान	:	रतलाम (म.प्र.)
युवाचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, चैत्र कृष्णा नवमी
आचार्य पद स्थान	:	जैतारण (राजस्थान)
आचार्य पद तिथि	:	वि.सं. 1976, आषाढ़ शुक्ला तृतीया
स्वर्गवास स्थान	:	भीनासर (राज.)
स्वर्गवास तिथि	:	वि.सं. 2000, आषाढ़ शुक्ला अष्टमी

आचार्य श्री जवाहरलालजी म. सा.

आचार्यश्री जवाहर–ज्योतिकण

- विपत्तियों के तमिस्र गुफाओं के पार जिसने संयम–साधना का राजमार्ग स्वीकार किया था।
- ज्ञानार्जन की अतृप्त लालसा ने जिनके भीतर ज्ञान का अभिनव आलोक निरंतर अभिवर्द्धित किया।
- संयमीय साधना के साथ वैचारिक क्रांति का शंखनाद कर जिसने भू–मण्डल को चमत्कृत कर दिया।
- उत्सूत्र सिद्धांतों का उन्मूलन करने, आगम–सम्मत सिद्धांतों की प्रतिष्ठापना करने के लिए जिसने शास्त्रार्थों में विजयश्री प्राप्त की।
- परतंत्र भारत को स्वतंत्र बनाने के लिए जिसने गांव–गांव, नगर–नगर पाद–विहार कर अपने तेजस्वी प्रवचनों द्वारा जन–जन के मन को जागृत किया।
- शुद्ध खादी के परिवेश में खादी–अभियान चलाकर जिसने जन–मानस में खादी–धारण करने की भावना उत्पन्न कर दी।
- अल्पारंभ–महारंभ जैसी अनेकों पेचीदी समस्याओं का जिसने अपनी प्रखर प्रतिभा द्वारा आगम–सम्मत सचोट समाधान प्रस्तुत किया।
- स्थानकवासी समाज के लिये जिसने अजमेर–सम्मेलन में गहरे चिंतन–मनन के साथ प्रभावशाली योजना प्रस्तुत की।
- महात्मा गांधी, विनोबा भावे, लोकमान्य तिलक, सरदार वल्लभ भाई पटेल, पं. श्री जवाहर लाल नेहरू आदि राष्ट्रीय नेताओं ने जिनके सचोट प्रवचनों का समय–समय पर लाभ उठाया।
- जैन व जैनेतर समाज जिसे श्रद्धा से अपना पूजनीय स्वीकार करता था।
- सत्य सिद्धांतों की सुरक्षा के लिये जो निडरता एवं निर्भीकता के साथ भू–मंडल पर विचरण करते थे

"हुक्म संघ के आचार्य"

1. **आचार्य श्री हुक्मीचंदजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1870, स्वर्गवास वि.स. 1917**
   ज्ञान-सम्मत क्रियोद्धारक, साधुमार्गी परम्परा के आसन्न उपकारी।
2. **आचार्य श्री शिवलालजी म.सा. – दीक्षा वि.स. 1891, स्वर्गवास वि.स. 1933**
   प्रतिभा–सम्पन्न प्रकाण्ड विद्वान, परम तपस्वी, महान शिवपथानुयायी।
3. **आचार्य श्री उदय सागरजी म.सा. – दीक्षा 1918, स्वर्गवास वि.स. 1954**
   विलक्षण प्रतिभा के धनी, वादी–मान–मर्दक, विरक्तों के आदर्श विलक्षण।
4. **आचार्य श्री चौथमलजी म.सा. – दीक्षा 1909, स्वर्गवास वि.स. 1957**
   महान क्रियावान, सागर सम गंभीर, संयम के सशक्त पालक, शांत–दांत, निरहंकारी, निर्ग्रन्थ–शिरोमणि।
5. **आचार्य श्री श्रीलालजी म.सा. – दीक्षा 1944, स्वर्गवास वि.स. 1977**
   सुरा–सुरेन्द्र–दुर्जय कामविजेता, अद्‌भुत स्मृति के धारक, जीव–दया के प्राण।
6. **आचार्य श्री जवाहरलालजी म.सा. – दीक्षा 1947, स्वर्गवास वि.स. 2000**
   ज्योतिर्धर, महान क्रांतिकारी, क्रांतदृष्टा, युगपुरुष।
7. **आचार्य श्री गणेशीलालजी म.सा. – दीक्षा 1962, स्वर्गवास वि.स. 2019**
   शांत क्रांति के जन्मदाता, सरलता की सजीव मूर्ति।
8. **आचार्य श्री नानालालजी म.सा. – दीक्षा 1996, स्वर्गवास वि.स. 2056**
   समता–विभूति, विद्वद्‌शिरोमणि, जिनशासन–प्रद्योतक, धर्मपाल–प्रतिबोधक, समीक्षण–ध्यानयोगी।
9. **आचार्य श्री रामलालजी म.सा. – दीक्षा 2031, आचार्य वि.सं. 2056 से**
   आगमज्ञ, तरुण तपस्वी, तपोमूर्ति, उग्रविहारी, सिरीवाल–प्रतिवोधक, व्यसनमुक्ति के प्रबल प्रेरक, बालब्रह्मचारी, प्रशांतमना।

अर्थ–सहयोगी परिचय

श्रेष्ठीवर्य समतासाधक, शासनसेवी उदारमान श्रीमती छगनीदेवी दस्साणी

संस्कारित जीवन मनुष्य का अनमोल धन है। उसी अनमोल धन के खजाने को प्राप्त करने वाली तथा अपने पीहर और ससुराल अर्थात् दोनों पक्षों में विद्यमान धार्मिक और सामाजिक कुल परम्परा से अभिषिक्त और पोषित श्रीमती छगनीदेवी का जन्म उदयरामसर के सुप्रसिद्ध दानवीर स्व. श्री भैरोंदानजी सिपाणी और मातु श्री धन्नीदेवी के पुत्री रत्न के रूप में हुआ। सिपाणी परिवार की संघनिष्ठा और शासन समर्पणा चिरकाल से सराहनीय रही है। श्रीमती छगनीदेवी को इसी गौरवशाली सिपाणी परिवार के रत्न सर्वश्री सोहनलालजी सिपाणी, गोकुलचंदजी और रिद्धकरणजी सिपाणी जैसे विख्यात भाई तथा श्रीमती मोहिनीदेवी लूणिया जैसी संस्कारवान बहिन प्राप्त हुई।

आपका मंगल परिणय श्री भंवरलालजी दस्साणी सुपुत्र श्री डूंगरमलजी–रतनीदेवी दस्साणी बीकानेर निवासी के साथ हुआ। दस्साणी परिवार बीकानेर के धर्मध्वजी परिवारो मे एक वरेण्य परिवार है। वंशानुगत सुधार्मिक दस्साणी परिवार के कार्य विस्तार के साथ श्रीमती छगनीदेवी अपने पति के साथ कोलकाता पधारी। कोलकाता के सामाजिक, धार्मिक, व्यावसायिक जीवन मे प्रतिष्ठित दस्साणी परिवार की कुलवधू के रूप मे श्रीमती छगनीदेवी दान और समाज सेवा के क्षेत्र मे सकल समाज की श्रद्धाभाजन बनी। श्रीमती छगनीदेवी गृहस्थ के कर्त्तव्यो का सुचारू रूप से पालन करते हुए भी साधु–साध्वी की सेवा मे अग्रणी रहती थी। हुक्मसंघ के आचार्यों के प्रति

समारोह में समता विभूति स्व. आचार्य श्री नानेश की नेश्राय में दीक्षा ग्रहण की और महासती श्री सरिता श्री जी म.सा. के नाम से दीक्षित हुई। धर्मरूचि दस्साणी परिवार ने इस दीक्षा के उपलक्ष में समता सरिता सेवानिधि की स्थापना की। आपके परिवार में एक देवर श्री मूलचन्दजी—स्व. श्रीमती पुष्पादेवी और पाँच ननद श्रीमती पुष्पादेवी—धनराजजी डागा, श्रीमती शारदा—जयचन्दलालजी कोचर, श्रीमती शान्ता—दिलीपकुमारजी बरड़िया, श्रीमती रीता—अरुणकुमारजी कोचर है। आपके दो पुत्र प्रकाशचंदजी—श्रीमती माणकदेवी, प्रदीपकुमार—श्रीमती ललितादेवी तथा दो पुत्रियाँ श्रीमती कान्तादेवी—उत्तमचन्दजी गादिया, श्रीमती सरोजदेवी—स्व. श्री डालमचन्दजी बेताला है।देवरजी के पुत्र श्री दिलीपकुमार—श्रीमती सन्तोषदेवी, एक पुत्री श्रीमती मंजू—राजेन्द्रकुमारजी सेठिया है। आपके पौत्र व पौत्रवधुएं श्री विनीतकुमार—श्रीमती प्रियंका, श्री ऋषभकुमार—श्रीमती हंसा, यश, दीपेश एवं एक पौत्री दिशा है। दोहिते— श्री संदीप—श्रीमती कविता, कुलदीप—श्रीमती स्वाति, संदीप—श्रीमती सपना, दोहिती— स्व. संगीता, सोनल। इस प्रकार भरा—पूरा संस्कारवान परिवार है। श्रीमती छगनीदेवी अंत समय में धर्म अराधना करती हुई 76 वर्ष की आयु में दिनांक 26.11.07 को कालधर्म को प्राप्त हुई। समाजसेवा को समर्पित श्री भंवरलालजी दस्साणी चिरायु हो और सेवा करते रहें यही मंगलकामना।



अनुक्रम

श्रीमद्भगवती सूत्र

प्रथम शतक

पंचम उद्देशक

विषय प्रवेश

चौथे उद्देशक तक का व्याख्यान देहली चातुर्मास मे पूर्ण हो गया था, अब पांचवां उद्देशक आरम्भ किया जाता है। आचार्यो की कृपा से गणधरो की वाणी सूत्रो मे लिखी हुई है। पंचमकाल के लोगों के लिए यह बड़ी कल्याणकारिणी है। उनका अहोभाग्य है कि जिन्हें भगवान् की पवित्र वाणी सुनने का अवसर प्राप्त होता है। सूत्र की वाणी हर्ष के साथ श्रवण करना चाहिए।

चौथे उद्देशक के अन्त में गौतम स्वामी ने प्रश्न किया था, भगवन्! अर्हन्त जिन केवली को अलमस्तु कह सकते हैं? इस प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने फरमाया था– हां, गौतम! कह सकते है।

गौतम स्वामी के इस प्रश्न में अनेक रहस्य छिपे हैं। संसार में जब भ्रम फैल जाता है, तो उत्तम तत्व का कुछ का कुछ अर्थ होने लगता है। अर्थ की इस विपरीतता के कारण वातावरण में गंदगी फैलने लगती है। गौतम स्वामी ने संसार को गंदगी से बचाने के उद्देश्य से यह प्रश्न किया था।

शिक्षा दी गई है कि तुम्हारे मन की जरासी वात पूरी हो जाने के कारण तुम उन साधक योगियों की मिथ्या प्रशंसा करके उनकी उन्नति मत रोको। उन्हें अवनति के गड्ढे में न डालो।

अव यह प्रश्न उपस्थित होता है कि संसार में पूर्ण पुरुप किसे माना जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जिसने अनादिकालीन राग–द्वेष आदि समस्त आत्मिक विकारों पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, जिसका ज्ञान पूर्णता की पराकाष्ठा पर पहुंच गया है–जिससे कोई वात छिपी नहीं है। इस प्रकार जो जिन, अर्हन्त और केवली हो, वे ही पूर्ण पुरुष हैं।

चार ज्ञान के धनी और अनुपम बुद्धि के अक्षय भंडार गौतम स्वामी पूर्ण पुरुष–'अलमस्तु' की व्याख्या न जानते हों– यह संभव नहीं। लेकिन उन्होंने संसार का भ्रम मिटाने के लिये अपने मुख से न कहकर, विशेष श्रद्धा एवं प्रतीति उत्पन्न करने के लिए भगवान् के मुखारविन्द से कहलाया है। स्वयं जानते हुए भी महापुरुष से कहलाने की बड़ी अच्छी दलाली गौतम स्वामी ने की है।

भगवान् के मुख से कहलाने में एक सूचना और भी है। तुच्छ बुद्धि मनुष्य अपने मन में सोचते हैं कि किसी बात का निर्णय अगर दूसरे महापुरुष से कराऊंगा तो मेरी लघुता प्रकट होगी। लोग समझेंगे इन्हें इतना भी नहीं आता। मगर गौतम स्वामी में यह निर्बलता नहीं थी। उनमें ऐसा विचार होता तो उनके हृदय से गुरुभक्ति चली जाती। इसके साथ ही भगवान् से निर्णय न कराने पर ओर स्वयं ही निर्णय कर लेने पर वह पद भी चक्कर में पड़ जाता। जिस पर वह पहुंचना चाहते थे। वह केवली पद राग–द्वेष नष्ट करने पर ही मिल सकता है। राग–द्वेष नष्ट करने के लिए गौतम स्वामी ने अपने आपको लघु बनाने का मार्ग पसंद किया।

पर कर मेरु समान, आप रहे रज कण जिसा।
ते मानव धन जाण, मृत्युलोक में राजिया।।

सचमुच ऐसे महापुरुष ही धन्य हैं। अहंकारी ठोकरें खाते हैं। अहंकारियों को शुभगति प्राप्त नहीं होती। भारी पत्थर सिर पर नहीं चढ़ता, लेकिन वही पत्थर जब रज–कण बन जाता है तब राजा के भी सिर पर चढ़ जाता है। गौतम स्वामी ने इस प्रश्न का निर्णय भगवान से करवा कर यह शिक्षा दी है कि अगर ऊपर चढ़ना है तो छोटे बनो, पत्थर के समान भारी अहंकारी मत बनो। जिस दिन तुम्हारे भीतर सच्ची लघुता आ जायगी, उस दिन तुम त्रैलोक्य के भी पूज्य बन जाओगे।

हम जैसे तो गौतम स्वामी के रज-कण के समान भी नहीं हैं, फिर किस बूते पर हम अभिमान कर सकते हैं? हमारे पास ऐसा कौन-सा विशेष वैभव है, जिस पर हम अभिमान कर सकें ? इतने ज्ञानवान् गौतम स्वामी ने भी अभिमान नहीं किया, यह विचार कर अभिमान का त्याग करो। अब भगवती सूत्र के प्रथम शतक के पांचवे उद्देशक का व्याख्यान आरंभ होता है।

प्रत्येक उद्देशक की तरह इस उद्देशक के प्रारंभ में भी पूर्ववत् उपोद्घात किया गया है। अर्थात् वह समय, वह काल, वही राजगृह नगर, गुणशील उद्यान, आदि बतलाया गया है। प्रत्येक उद्देशक में इस प्रकार का उपोद्घात समय स्थान आदि बतलाने के उद्देश्य से किया गया है।

नरका वास

प्रश्न-कइ णं भंते! पुढवीओ पण्णत्ताओ?

उत्तर-गोयमा! सत्त पुढवीओ पण्णत्ताओ, तंजहा-रयणप्पभा जाव तमतमा।

प्रश्न-इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए कति निरयावास सयसहस्सा पण्णत्ता?

उत्तर-गोयमा! तीसं निरयावास सयसहस्सा पण्णत्ता। गाहाः

तीसा य पण्णवीसा पण्णरस दसेव या सयसहस्सा।
तिण्णेगं पंचूणं पंचेव अणुत्तरा निरया ।।

प्रश्न-केवइया णं भंते! असुरकुमारावास सयसहस्सा पवण्णत्ता?

उत्तर-एवंः-

चउसट्ठी असुराणं चउरासीई य होइ नागाणं।
बावत्तरिं सुवण्णाणं वाउकुमाराण छण्णउई।।
दीव-दिसा-उदहीणं विज्जुकुमारिंद-थणियमग्गीणं।
छण्हं पि जुयलयाणं, छावत्तरिमो सयसहस्सा।।

प्रश्न-केवइया णं भंते! पुढ़विक्काइया वास सयसहस्सा पण्णत्ता?

उत्तर-गोयमा! असंखेज्जा पुढ़विक्काइयावास सयसहस्सा पण्णत्ता, जाव-असंखिज्जा जोइसिए विमाणा वास सयसहस्सा पण्णत्ता।

प्रश्न-सोहम्मे णं भंते! कप्पे केवईया विमाणावासा पण्णत्ता?

उत्तर-गोयमा! बत्तीसं विमाणावास सयसहस्सा पण्णत्ता। एवं-

बत्तीस-अट्ठावीसा बारस-अट्ठ-चउरो सयसहस्सा।
पण्णा-चत्तालीसा छच्च सहस्सा सहस्सारे।।
आणय-पाणयकप्पे चत्तारि सयाऽऽरणच्चुए तिण्णी।

सत्त विमाणसयाइं चउसु वि एएसु कप्पेसु।।
एक्कारसुत्तरं हेट्ठिमेसु सत्तुत्तरं सयं च मज्झमए।
सयमेगं उवरिमए, पंचेव अणुत्तर विमाणा।।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–कति भगवन् पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः?

उत्तर–गौतम! सप्त पृथिव्यः प्रज्ञप्ताः तद्यथा–रत्नप्रभा यावत् तमस्तमा।

प्रश्न–अस्यां भगवन्! रत्नप्रभायां पृथिव्यां कति निरयाऽऽवास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर–गौतम! त्रिंशद् निरयाऽऽवास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।
गाथा :–

त्रिंशच्च पंचविंशतिः पंचदश दशैव च शतसहस्राणि। त्रीणि एक पंचानं पंच एवानुत्तरा निरया।

प्रश्न–कियन्ति भगवन्! असुर कुमारावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर–एवं :–

चतुः षष्ठिः असुराणां चतुरशीतिश्च भवति नागानाम्।
द्वासप्ततिः सुवर्णानां वायु कुमाराणां षण्णवतिः।।
द्वीप–दिग्–उदधीनां विद्युत्कुमारेन्द्र स्तनिताऽग्नीनाम्।
षण्णामपि युगलकानां, षट्सप्ततिः शतसहस्राणि।।

प्रश्न–कियन्ति भगवन्! पृथिवीकायिकावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर–गौतम! असंख्यति पृथिवीकायिकावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि। यावद् असंख्येयानि ज्योतिषिक विमानावास शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।

प्रश्न–सौधर्मे भगवन्! कल्पे कियन्तो विमानावास प्रज्ञप्ताः?

उत्तर–गौतम! द्वात्रिंशद् विमानावासा शतसहस्राणि प्रज्ञप्तानि।
एवं :–

द्वात्रिंशद्–अष्टविंशतिर्द्वादशाष्ट–चत्वारि शतसहस्राणि।
पंचाशत्–चत्वारिंशत् षट् च सहस्राणि सहस्रारे।।
आनत प्राणतकल्पे चत्वारि शतानि आरणाच्युते त्रीणि।
सप्तविमान शतानि चतुर्ष्वपि एतेषु कल्पेषु।।

एकादशोत्तर यअघस्तनेषु सप्तोत्तरं शतं च मध्यमके।
शतमेकं उपरितने पंच, एवं अनुत्तर विमानानि।।

प्रश्न—भगवन्! कितनी पृथ्वियां कही हैं?

उत्तर—हे गौतम! सात पृथ्वियां कही हैं। वह इस प्रकार है—रत्नप्रभा यावत् तमस्तमाप्रभा।

प्रश्न—भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में कितने लाख निरयावास—नारकों के रहने के स्थान—कहे है?

उत्तर—गौतम! तीस लाख निरयावास कहे हैं। सब पृथ्वियों मे निरयावासो की संख्या बतलाने वाली गाथा इस प्रकार है—पहली पृथ्वी मे तीस लाख, दूसरी मे पच्चीस लाख, तीसरी मे पन्द्रह लाख, चौथी मे दस लाख, पाचवी में तीन लाख, छठी मे पांच कम एक लाख और सातवी मे सिर्फ पांच निरयावास कहे गये है।

चौथे उद्देशक के अन्त में सर्वज्ञ संबंधी प्रश्नोत्तर थे और उसके पश्चात् पांचवे उद्देशक की आदि में नरक–पृथ्वी संबंधी प्रश्न किया गया है। यहां यह देखना चाहिए कि सर्वज्ञ सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के साथ नरक–पृथ्वी के प्रश्नोत्तर में क्या कुछ संबंध है? ऊपरी दृष्टि से देखा जाय तो सर्वज्ञ विषयक प्रश्नोत्तर एवं पृथ्वी संबंधी प्रश्नोत्तर परस्पर असंवद्ध से प्रतीत हो रहे हैं। इस विषय में टीकाकार का कथन है कि यह दोनों प्रश्नोत्तर असंबद्ध नहीं हैं किन्तु प्रस्तुत पृथ्वी संबंधी प्रश्न सर्वज्ञ विषयक प्रश्नोत्तर से संबंध रखता है। वह संबंध यह है कि सर्वज्ञ पृथ्वी पर ही होते हैं अथवा पृथ्वीकाय रूप गति से निकल कर मनुष्यभव पाकर ही अर्हन्त–सर्वज्ञ होते हैं। अतएव सर्वज्ञ और पृथ्वी का संबंध है।

'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।'

अर्थात्–जननी और जन्मभूमि स्वर्ग से भी अधिक बढ़कर हैं।

जिसने जन्मभूमि के महत्व पर विचार किया है, वह इस बात को अवश्य ही स्वीकार करेगा कि अर्हन्त भी इसी भूमि पर होते हैं।

संसार में बिना पगड़ी के, बिना जूते के और बिना कपड़े के काम चल सकता है। इसके अभाव में कोई काम नहीं रुकता। साधु न पगड़ी बांधते हैं और न जूते ही पहनते हैं। कई जिनकल्पी महात्मा कपड़े भी नहीं पहनते। इस प्रकार इनके अभाव में काम चलते तो देखा जाता है लेकिन क्या कोई ऐसा भी है जो पृथ्वी की सहायता के बिना–पृथ्वी का आश्रय लिये बिना रहता हो ? 'नहीं।'

फिर पगड़ी की तो लाज रखते हो, पगड़ी की प्रतिष्ठा बनाये रखने की चिन्ता करते हो मगर इस पृथ्वी की भी लाज रक्खोगे या नहीं? जिस पगड़ी के बिना काम चल सकता है उसकी लाज रखने की तो चिन्ता करते हो लेकिन जिस पृथ्वी पर स्वयं रहते हो और जिस पृथ्वी पर 'जिन' भी रहते हैं, उसकी लाज रखने की चिन्ता क्यों नहीं करते?

गौतम स्वामी ने चौथे उद्देश्य के अन्त में आधेय का प्रश्न किया था इस पांचवे उद्देशक के आरंभ में आधार का प्रश्न किया है। बहुत से लोग आधार का महत्व ही नहीं समझते। कई जैनधर्मी भी कहते हैं कि यह तो पृथ्वीकाय का जीवन है, इसमें क्या धरा है? लेकिन अगर पृथ्वीकाय में कुछ न होता तो गौतम स्वामी भगवान् से प्रश्न ही क्यों करते?

यह पृथ्वी आधार है और इस पर रहने वाले आधेय हैं। भगवान् ने शास्त्र में कहा है–'पाढ़वं शरीरं।' अर्थात् यह शरीर पार्थिव है–पृथ्वी से पैदा होने वाला है।

लोक में अन्न, जल, वस्त्र आदि सभी जीवनोपयोगी वस्तुएं पृथ्वी की सहायता से ही प्राप्त होती हैं। लोकोत्तर में सामायिक पौषध साधुता, श्रावकपन, आत्मिक सिद्धि, योगसिद्धि आदि पृथ्वी पर ही होती हैं। आप लोग बराबर हिसाब लगा कर पृथ्वी के उपकार का विचार कीजिए।

राते रौज विचारो आज कमाया शूं अहीं रे।
सूता मन महीं रे। राते.।
खोवो पीवो प्रभुए दीधूं ते साटे मैं शूं शूं कीधूं
ए खातो सरवर कीधी छे के नहीं रे। राते.।

आपने कभी पिछली रात में यह भी विचार किया है कि हमने इस संसार में क्या किया? कमाई ज्यादा या खर्च ज्यादा किया। यह हिसाब आपने शायद ही लगाया हो। अलबत्ता पैसों का हिसाब आपने जरूर किया होगा। लेकिन पैसों का हिसाब करते समय कभी यह भी सोचा है कि हमने वेतन के रूप में प्रजा का इतना पैसा लिया है तो उसके बदले प्रजा का क्या काम किया है? जिस प्रकार दुकानदार अपने पैसे का हिसाब मिला लेता है उसी प्रकार अपना हिसाब आप भी देखो। इस संसार में जन्म ग्रहण करके इस पृथ्वी का दिया खाया है तो इसके बदले में उसका क्या उपकार किया है ?

उक्त कविता में कहा है कि खाना–पीना भगवान ने दिया है, तो क्या यह कथन ठीक है? आप कहेंगे यह किसी अजैन की बनाई हुई कविता है। वास्तव में यही बात है। लेकिन उसमें जो यह बात मुख्य रूप से बतलाई गई है उसकी ओर ही ध्यान देना चाहिए। इसके अतिरिक्त एक बात यह भी है कि निमित्त को भी कर्त्ता माना जाता है और इस प्रकार व्यवहार किया जाता है। सूर्य भक्त कहता है कि मैंने जो कमाई की है वह सूर्य के ही प्रताप से। यह सूर्य के प्रति उसकी भक्ति का ही द्योतक है। अगर कोई यह कहे कि सूर्य ही देता है तो फिर हमें क्यों नहीं देता? तो यह कथन निमित्त और उपादान को न समझने के कारण है। सूर्य भक्त का यह कथन कि मैंने सूर्य के प्रताप से कमाई की, निमित्त की अपेक्षा से ही माना जा सकता है, क्योंकि अगर सूर्य का प्रकाश न होता तो यह कमाई कैसे कर पाता! हां, सूर्य का प्रकाश होने पर भी मिला है उद्योग और लाभान्तराय कर्म के क्षयोपशम से भी। लेकिन प्रकाश देने वाले का उपकार तो न भूलना चाहिए।

दस बोल की योगवाई (प्राप्ति) धर्म के प्रताप से होती ही है! फिर भी लोग इस बात को भूल जाते हैं।

करके किसी का आत्मा दुखाउंगा तो दया कहां रहेगी? यहां यह कहा जा सकता है कि तप संवर और निर्जरा के लिए कहा गया है, फिर यहाँ दया के लिए क्यों कहते हैं? इसका उत्तर यह है कि संवर और निर्जरा भी वस्तुतः स्वदया ही है। अतएव दया के लिए तपस्या करना असंगत नहीं है।

लोग घर में माल होने पर किवाड़ खुले नहीं रखते। हां घर में कुछ न हो तो भले ही रखते हैं। इस प्रकार तप रूपी धन को क्रोध रूपी चोर न चुरा ले जावे, इसके लिए क्षमा और शान्ति रूपी किवाड़ सदा बन्द रक्खो। निन्दा एवं क्रोध आदि से तप का महत्त्व घट जाता है। करोड़ों वर्षों का तप भी क्रोध की आग में भस्मीभूत हो जाता है। इसलिए तप को करुणा, दया और क्षमा की पेटी में वंद रक्खो। ऐसा करने पर अभूतपूर्व और अद्‌भुत आनंद प्राप्त होगा। जैसे वायु के विना अग्नि प्रज्वलित नहीं होती किन्तु वुझ जाती है इसी प्रकार बिना क्षमा के तप भी नहीं ठहरता।

अब मूल वात पर आइए। पृथ्वी का उपकार सव पर है। क्या जैन और क्या वैष्णव–सभी एक स्वर से यह वात स्वीकार करते हैं। यह पृथ्वी माता है। माता को नंगी करने के लिए अगर कपड़े खींचे जाएं तो यह देख कर किसका हृदय दुखी न होगा? माता के कपड़े उंतार कर पुत्र को पहनने के लिए दिये जावें तो कौन पुत्र उन्हें पहनना पसंद करेगा? इसी प्रकार जिस आर्य देश का खाते–पीते हो उस आर्य देश को अनार्य बनाते जाते हो–उसे दिन–दिन नंगा करते जाते हो, उसकी भी कुछ फिक्र है? आज आप चाहे इसकी पुकार न सुनें मगर कोई न कोई तो सुनेगा ही।

विलायत से आते हुए अंग्रेज से कोई पगड़ी बांधने के लिए कहे तो वह कदापि पगड़ी नहीं वांधेगा। वह कहेगा–हम यहां अपनी माता का गौरव घटाने नहीं आये हैं – गौरव बढ़ाने आये हैं। लेकिन अनेक हिन्दुस्तानी अपनी मातृभूमि में रहते हुए भी साहव सरीखा टोप लगाते हैं और अंग्रेजी पोशाक पहनकर मातृभूमि का गौरव घटाते हैं।

पृथ्वी का संवंध अर्हन्त से है। इसलिए गौतम स्वामी ने पृथ्वी के विषय में प्रश्न किया है। महापुरुष इस पृथ्वी पर ही जन्मे हैं। जिस पृथ्वी पर हम हैं, उस पर बड़े–वड़े अवतार हो गये हैं। यह बात नहीं है कि वे पूर्वपुरुष इस संसार में जन्म लेने से पूर्व किसी एक ही जगह रहते हों और फिर संसार में जन्म धारण करके उच्च गति प्राप्त करते हों। अन्य लोग अपने अवतारों एवं महापुरुषों के विषय में इसी प्रकार की बात कहते हैं लेकिन जैनधर्म ऐसा नहीं कहता। जैन धर्म यह बात नहीं मानता कि कोई भी शुद्ध आत्मा अपने स्थान

हों लेकिन उनका हृदय तो काम–क्रोध–युक्त ही है। इसके अतिरिक्त बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी जड़ प्रकृति के सम्पूर्ण रहस्यों को नहीं जानता। जड़ प्रकृति को जानने में भी अभी उसे न मालूम कितना समय लगेगा। और कौन कह सकता है कि वह कभी पायेगा या हमेशा ही उसके लिए जानना शेष रहेगा। जब जड़ प्रकृति की यह बात है तो सूक्ष्मतम आत्मा तो बड़ी दूर की बात है। यह यंत्रों की पकड़ में नहीं आती, दूरबीन से भी वह दूर ही रहती है। इसलिए लाख प्रयत्न करके भी वैज्ञानिक अपने यंत्रों की सहायता से आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। आत्मा के प्रत्यक्ष के लिए तो यंत्रों को तोड़ फोड़ कर फेंक देना होगा और देह में रहते हुए भी देहातीत दशा प्राप्त करनी होगी तभी आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश आविर्भूत होगा और उसी प्रकाश में आत्मा साक्षात्कार हो सकेगा। इस प्रकार आत्मा साक्षात्कार करने वाला महान् वैज्ञानिक ही हमारा पथ प्रदर्शक हो सकता है।

हमें आत्मोन्नति करनी है। एक मात्र आत्म–विकास ही हमारे जीवन का परम और चरम ध्येय है। काम–क्रोध वालों की बात हमारे उद्देश्य की पूर्त्ति में सहायक नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञान से भोगोपभोग में वृद्धि भले ही हो जाय लेकिन आत्मोन्नति नहीं हो सकती। अतएव सर्वज्ञों की कही बात में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि पृथ्वीकाय से निकल कर जीव मनुष्य होता और पूर्णता प्राप्त करता है।

अपनी पिछली पीढ़ी से स्वाभाविक प्रेम होता है। भाट से अपने पूर्वजों की नामावली और गौरवगाथा सुनकर किसका हृदय हर्ष से नहीं नाचने लगता? यह संसार का नियम है ऐसी अवस्था में जिन पृथ्वीकाय के जीवों में से अर्हन्त निकले हैं, उन पृथ्वीकाय के जीवों पर कितना प्रेम होना चाहिए?

टीकाकार कहते हैं – मैंने अपनी तरफ से तो यह साक्षी दी ही है कि पृथ्वी का और पूर्ण पुरुष का संबंध है, अतएव इस पांचवें उद्देशक में पृथ्वी का वर्णन किया है लेकिन एक साक्षी शास्त्र की भी है। पहले शतक के आरंभ में जो संग्रह गाथा कही गई है, उसमें यह उल्लेख किया गया है कि पांचवें उद्देशक में पृथ्वी संबंधी प्रश्नोत्तर किये गये हैं।

श्री गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर फरमाते हैं–पृथ्वी सात कही गई हैं।

यद्यपि पृथ्वीयां आठ भी मानी गई हैं, लेकिन गौतम स्वामी के प्रश्न का जो अभिप्राय है, उसे जानकर भगवान् ने सात ही बतलाई हैं, क्योंकि आगे गौतम स्वामी पृथ्वी सम्बन्धी और आन्तरिक प्रश्न भी पूछेंगे। जिस प्रकार

राजा अपने राज्य के घरों की गणना करता है, उसी प्रकार आगे पृथ्वी पर के घरों की गणना भी बतलाई जायेगी। छोटे–से राज्य का स्वामी अपने छोटे राज्य के घरों की गणना करता है, परन्तु भगवान् समस्त लोक के स्वामी हैं, अतः वे सारे संसार के घरों की गणना करेंगे।

सिद्धशिला की पृथ्वी आठवीं है लेकिन भगवान् ने उस पृथ्वी की विवक्षा न कर के सात ही पृथ्वियां बतलाई हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वी एक ही है और लौकिक भूगोल शास्त्र भी एक ही पृथ्वी बतलाता है, फिर सात पृथ्वियां कैसे कही गई हैं ? मगर लौकिक भूगोल शास्त्र का यह वर्णन अगर सत्य होता तो गौतम स्वामी को भगवान से यह प्रश्न करने की आवश्यकता न होती। प्रचलित भूगोल की बात असत्य होने के कारण ही तो गौतम स्वामी को सर्वसाधारण की [illegible] मिटाने के लिए यह प्रश्न पूछना पड़ा है। इसी कारण भगवान ने उत्तर भी दिया है कि पृथ्वियां सात हैं। इनमें से एक प्रत्यक्ष है और छह [illegible]

चौदह राजू लोक का जैन शास्त्र में बहुत वर्णन है। अन्य लोगों ने भी चौदह राजू लोक को भुवन–तबक आदि के नाम से [illegible] चौदह राजू लोक को तुलसीदासजी ने चौदह भुवन मानकर [illegible]

हों लेकिन उनका हृदय तो काम–क्रोध–युक्त ही है। इसके अतिरिक्त बड़े से बड़ा वैज्ञानिक भी जड़ प्रकृति के सम्पूर्ण रहस्यों को नहीं जानता। जड़ प्रकृति को जानने में भी अभी उसे न मालूम कितना समय लगेगा। और कौन कह सकता है कि वह कभी पायेगा या हमेशा ही उसके लिए जानना शेष रहेगा। जब जड़ प्रकृति की यह बात है तो सूक्ष्मतम आत्मा तो बड़ी दूर की बात है। यह यंत्रों की पकड़ में नहीं आती, दूरबीन से भी वह दूर ही रहती है। इसलिए लाख प्रयत्न करके भी वैज्ञानिक अपने यंत्रों की सहायता से आत्मा को प्रत्यक्ष नहीं कर सकता। आत्मा के प्रत्यक्ष के लिए तो यंत्रों को तोड़ फोड़ कर फेंक देना होगा और देह में रहते हुए भी देहातीत दशा प्राप्त करनी होगी तभी आत्मा का उज्ज्वल प्रकाश आविर्भूत होगा और उसी प्रकाश में आत्मा साक्षात्कार हो सकेगा। इस प्रकार आत्मा साक्षात्कार करने वाला महान् वैज्ञानिक ही हमारा पथ प्रदर्शक हो सकता है।

हमें आत्मोन्नति करनी है। एक मात्र आत्म–विकास ही हमारे जीवन का परम और चरम ध्येय है। काम–क्रोध वालों की बात हमारे उद्देश्य की पूर्त्ति में सहायक नहीं हो सकती। आधुनिक विज्ञान से भोगोपभोग में वृद्धि भले ही हो जाय लेकिन आत्मोन्नति नहीं हो सकती। अतएव सर्वज्ञों की कही बात में सन्देह करने का कोई कारण नहीं है कि पृथ्वीकाय से निकल कर जीव मनुष्य होता और पूर्णता प्राप्त करता है।

अपनी पिछली पीढ़ी से स्वाभाविक प्रेम होता है। भाट से अपने पूर्वजों की नामावली और गौरवगाथा सुनकर किसका हृदय हर्ष से नहीं नाचने लगता? यह संसार का नियम है ऐसी अवस्था में जिन पृथ्वीकाय के जीवों में से अर्हन्त निकले हैं, उन पृथ्वीकाय के जीवों पर कितना प्रेम होना चाहिए?

टीकाकार कहते हैं – मैंने अपनी तरफ से तो यह साक्षी दी ही है कि पृथ्वी का और पूर्ण पुरुष का संबंध है, अतएव इस पांचवें उद्देशक में पृथ्वी का वर्णन किया है लेकिन एक साक्षी शास्त्र की भी है। पहले शतक के आरंभ में जो संग्रह गाथा कही गई है, उसमें यह उल्लेख किया गया है कि पांचवें उद्देशक में पृथ्वी संबंधी प्रश्नोत्तर किये गये हैं।

श्री गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान महावीर फरमाते हैं–पृथ्वी सात कही गई हैं।

यद्यपि पृथ्वीयां आठ भी मानी गई हैं, लेकिन गौतम स्वामी के प्रश्न का जो अभिप्राय है, उसे जानकर भगवान् ने सात ही बतलाई हैं, क्योंकि आगे गौतम स्वामी पृथ्वी सम्बन्धी और आन्तरिक प्रश्न भी पूछेंगे। जिस प्रकार

राजा अपने राज्य के घरों की गणना करता है, उसी प्रकार आगे पृथ्वी पर के घरों की गणना भी बतलाई जायेगी। छोटे–से राज्य का स्वामी अपने छोटे राज्य के घरों की गणना करता है, परन्तु भगवान् समस्त लोक के स्वामी हैं, अतः वे सारे संसार के घरों की गणना करेंगे।

सिद्धशिला की पृथ्वी आठवीं है लेकिन भगवान् ने उस पृथ्वी की विवक्षा न कर के सात ही पृथ्वियां बतलाई हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि पृथ्वी एक ही है और लौकिक भूगोल शास्त्र भी एक ही पृथ्वी बतलाता है, फिर सात पृथ्वियां कैसे कही गई हैं ? मगर लौकिक भूगोल शास्त्र का यह वर्णन अगर सत्य होता तो गौतम स्वामी को भगवान से यह प्रश्न करने की आवश्यकता न होती। प्रचलित भूगोल की बात असत्य होने के कारण ही तो गौतम स्वामी को सर्वसाधारण की भ्रमणा मिटाने के लिए यह प्रश्न पूछना पड़ा है। इसी कारण भगवान् ने उत्तर भी दिया है कि पृथ्वियां सात हैं। इनमें से एक प्रत्यक्ष है और छह अप्रत्यक्ष हैं।

चौदह राजू लोक का जैन शास्त्र में बहुत वर्णन है। अन्य लोगों ने भी चौदह राजू लोक को भुवन–तबक आदि के नाम से स्वीकार किया है। चौदह राजू लोक को तुलसीदासजी ने चौदह भुवन मानकर कहा है :–

चौदह भुवन एक पति होई।

चौदह राजू लोक के नक्शे में क्रम से सात पृथ्वियां बतलाई हैं। उनमें से हम लोग केवल एक पृथ्वी देख सकते हैं, शेष नहीं।

अहमदनगर में एक जैन वकील हैं। अब तो वे जैन धर्म को सर्वोत्कृष्ट मानते है परन्तु जब वे कॉलेज से नये–नये निकले थे, तब जैनधर्म को कुछ समझते ही नही थे। जब उन्होंने सूयडांग सूत्र का अध्ययन किया, तब कहने लगे सूयडांग में जैसा उत्कृष्ट उपदेश है वैसा अन्यत्र हो नहीं सकता।

उन वकील ने एक बार मुझ से पूछा–यदि स्वर्ग–नरक न मानें तो क्या हानि है ? स्वर्ग–नरक दिखाई नहीं देते, इसी कारण ऐसा प्रश्न करने की आवश्यकता प्रतीत हुई। मैंने उन्हें उत्तर दिया–तो क्या आप यह देख चुके है कि स्वर्ग–नरक नही हैं? अगर नहीं देखा तो कैसे कह सकते हैं कि स्वर्ग–नरक नही हैं? बिना देखी चीज तो आप मानना नही चाहते? स्वर्ग–नरक का अस्तित्व प्रकट करने वाले प्रमाण तो हम बतलाते भी है, लेकिन उनका अभाव सिद्ध करने के लिए आपके पास क्या प्रमाण हैं? एक बंद कोठरी के विषय मे एक आदमी कहता है– इस कोठरी मे एक तिजोरी है, जिसमे लाख रुपये का माल है। दूसरा उसी के सम्बन्ध मे कहता है–इस कोठरी मे कुछ

भी नहीं है। अब इस दूसरे आदमी से पूछा गया कि इस कोठरी में कुछ नहीं है, इसके लिए तुम्हारे पास क्या प्रमाण है ? तब उसने कहा अगर कुछ होता तो दिखाई देता। कुछ दिखाई नहीं देता, इस कारण कुछ भी नहीं है। मगर यह कैसे मान लिया जाय कि वास्तव में कोठरी में कुछ नहीं है। कोठरी में भीतर जाकर देखा नहीं, फिर उसे सूनी किस प्रकार कह सकते हैं? जो आदमी उसमें धन बतलाता है उस के पास तो प्रमाण हैं। उसके बाप–दादा बही में लिख गये हैं कि अमुक कोठरी में इतना धन है लेकिन जो कहता है कि इसमें कुछ नहीं है, उसके पास क्या प्रमाण है? उसका कथन तो सर्वथा निराधार और मनःकल्पित ही है। इसी प्रकार स्वर्ग–नरक हैं, यह बात तो शास्त्रों में लिखी हुई है लेकिन स्वर्ग–नरक नहीं हैं, इस बात को सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने सात पृथ्वी बतलाई और कहा–पहली पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा है। दूसरी शर्कराप्रभा, तीसरी बालुकाप्रभा, चौथी पंकप्रभा, पांचवी धूम्रप्रभा, छठी तमःप्रभा और सातवीं तमस्मतः प्रभा है। पहली पृथ्वी एक राजू लम्बी–चौड़ी और एक राजू गहरी है। दूसरी पृथ्वी दो राजू गहरी है। इस प्रकार सातवीं पृथ्वी सात राजू लम्बी–चौड़ी और एक राजू गहरी है। सातों पृथ्वी एक के ऊपर एक पुड़ की तरह सुधर्म देवलोक और नवग्रैवेयक तक चली गई हैं। लोक का नक्शा पुरुषाकार है। उस पुरुषाकार लोक के नक्शे की गर्दन को ग्रैवेयक कहते हैं।

मैंने अहमदनगर के वकील से पूछा–आप पृथ्वी को गोल बतलाते हैं लेकिन इसके नीचे क्या है? वकील बोले–कुछ होगा! तब मैंने कहा–आप तो कुछ होगा ही कहते हैं और हम कहते हैं–पृथ्वी के नीचे नरक है; तो ऐसा मान लेने में क्या बाधा है? आपको भूगोल–खगोल से जैन शास्त्र को मिलाने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे व्यवहार की पुस्तकें हैं और यह धर्म शास्त्र हैं।

पहली पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा है। हम लोगों को जो पृथ्वी दिखाई देती है, वह भी रत्नगर्भा कहलाती है। जिसके गर्भ में रत्न हो, उसे रत्नगर्भा कहते हैं। स्त्री के गर्भ में जब कोई महापुरुष आया होता है तो उसे रत्न–कूंखधारिणी कहते हैं। इसी प्रकार इस पृथ्वी में भी ऐसे–ऐसे रत्न हैं कि उनका पार नहीं।

जैन शास्त्रों में रत्नप्रभा पृथ्वी के तीन हिस्से किये हैं–रत्नकाण्ड, जलकाण्ड और पंककाण्ड। रत्नकाण्ड में नरकावास की जगह छोड़कर दूसरी जगह अनेक रत्न होते हैं; जिनकी प्रभा पड़ती रहती है। इस कारण पहली

पृथ्वी का नाम रत्नप्रभा पड़ा है इसी प्रकार शेष पृथ्वियों के नामों की भी उत्पत्ति समझ लेना चाहिए। सातवीं पृथ्वी पर घोर अंधकार है, इसलिए उसका नाम तमस्तमःप्रभा या महातमःप्रभा है।

इसके प्रश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी में कितने लाख नरकावास हैं? अर्थात् नरक–स्थान कितने हैं?

यहां 'इससे' शब्द आया है, जो उंगली–निर्देश को सूचित करता है। अर्थात् गौतम स्वामी जिस पृथ्वी पर थे, उसी पृथ्वी को बताकर कहते हैं कि इस पृथ्वी में कितने नरकावास हैं?

प्रश्न होता है–जिस पृथ्वी पर गौतम स्वामी रहते थे, उसी पृथ्वी पर हम भी रहते हैं। फिर यह पृथ्वी क्या नरक है? क्या हम नरक पर हैं?

लोग नरक से डरते हैं, नरक के नाम से घबराते हैं और नरक में रहना सुनकर अपना अपमान अनुभव करते हैं। लेकिन जैन शास्त्र कहते हैं कि पृथ्वी, रत्नप्रभा पृथ्वी का ही ऊपरी तल है। नरक भी इसी पृथ्वी में हैं। इस पृथ्वी के भीतर ही भीतर तह चली गई है, जिनका हिसाब बारह अन्तर और तेरह प्रस्तर के नाम से बहुत अधिक है।

जैसे शरीर में नाभि मध्यभाग में है, इसी प्रकार यह रत्नप्रभा पृथ्वी भी मध्य में है। लेकिन मध्यभाग की सीमा बांधनी ही पड़ेगी। जैसे नाभि के ऊपर मस्तक और नीचे पांव होते हैं, उसी प्रकार रत्नप्रभा भूमि का यह भाग नाभि है, इसके ऊपर का भाग स्वर्ग और नीचे का भाग नरक है। शास्त्र कहता है कि यह भाग है तो उसी पृथ्वी का, लेकिन इस भाग (क्षेत्र) की विशेषता यह है कि स्वर्ग भी इसका दास है। स्वर्ग या नरक में यहीं से जाया जाता है। जैसे एक विस्तीर्ण भूभाग जल से परिपूर्ण हो और बीच में सिर्फ एक छोटा–सा टापू हो तो भी वह सारा प्रदेश जलप्रदेश ही कहलाएगा। अर्थात् अधिकता के अनुसार ही प्रायः व्यवहार होता है। यही बात इस पृथ्वी के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिए। पहले नरक की मोटाई एक लाख, अस्सी हजार योजन है और लम्बाई–चौड़ाई एक राजू है। अन्त में दस योजन का एक हिस्सा बचता है, जिस पर मनुष्य और तिर्यंच बसते हैं। यह हिस्सा भी उसी पृथ्वी का है।

आप कहते होंगे–क्या हम नरक पर बसते हैं? लेकिन साफ–सुथरे रहने पर भी आपका जीवन किस आधार पर टिका हुआ है? 'मूल–मूत्र पर!'

उस मल–मूत्र को भी तो नरक ही कहते हैं। अगर मल–मूत्र एक मिनिट के लिए ही सूख जाय तो मनुष्य–जीवित नहीं रह सकता। मनुष्य का

जीवन इतर पर नहीं वरन् मल–मूत्र पर निर्भर करता है। फिर भी अगर कोई यह बात कहता है तो सुनने वालों को बुरा लगता है। मगर इससे सच्चाई कैसे बदल सकती है? सत्य तो सत्य ही है, चाहे किसी को वह पसन्द हो या नहीं। अतएव यह भूमि–रत्नप्रभा नरक के तल पर है, ऐसा मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए।

गौतम स्वामी ने रत्नप्रभा पृथ्वी के विषय में पूछते हुए 'इसीसे' कहा है, लेकिन अन्य पृथ्वियों के सम्बन्ध में प्रश्न करते समय इस शब्द का प्रयोग नहीं करेंगे। 'इसीसे' कहकर गौतम स्वामी ने मनुष्यों को यह बतलाया है कि गर्व न करो हम सब नरक पर ही बसे हैं। ज्ञानी जन असली बात नहीं भूलते, इसी कारण गौतम स्वामी ने 'इसीसे' कहा है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–'हे गौतम ! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं।'

नरकावास के विषय में पूछने के साथ ही और सब जीवों के वास के सम्बन्ध में भी भगवान से गौतम स्वामी ने प्रश्न किये हैं। यह बड़े घर का इतिहास है। कहां नरक और जल के जीव और कहां जगत् के नाथ भगवान्? फिर भी गौतम स्वामी ने उन सब के विषय में प्रश्न किये और भगवान् ने सब प्रश्नों के उत्तर दिये।

अगर कोई राजा अपने राज्य के घरों की गणना करेगा तो केवल ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि सवर्णों के घर ही गिनेगा या सभी पूजा के घर गिनेगा? अगर वह भंगी के घरों की गणना छोड़ देता है तो उसके राजतंत्र में त्रुटि आ जायेगी। ऊंच नीच का भेदभाव लोगों में भले रहे, मगर जब गणना होगी तब सभी की गणना होगी। हां, भेद विचार तो सभी जगह रहेगा लेकिन अभेद विचार से सब की गणना हो जाती है और सब जीवों की गणना करके भगवान् ने सबके साथ प्रीति जोड़ी है।

यह विचारणीय बात है कि गणधर भगवान् ने इन सब जीवों का हिसाब क्यों लगाया है? नरक के जीवों के रहने के स्थान कितने ही हों, उन्हें इनसे क्या प्रयोजन था? लेकिन जो बात की बारीकी को समझता है, वह सब लोगों को अपने हाथ में कर लेता है। वह सब से प्रेम रखता है। इसी प्रकार ज्ञानियों ने सब जीवों को अपने हाथ में कर रक्खा है। उन्होंने यह हिसाब लगाकर स्वर्ग के जीवों को नरक के जीवों से प्रेम करवाया है। इसलिए ऊपरी भेदभाव को भूलकर आत्मतत्त्व का विचार करना चाहिए।

रत्नप्रभा पृथ्वी के नीचे पहली नरक भूमि है। उसमें नरक वासों की संख्या तीस लाख है। समस्त पृथ्वियों में कितने–कितने नरकवास हैं, यह बताने के लिए एक संग्रहगाथा दी गई है। उसका अर्थ यह है कि पहली पृथ्वी में तीस लाख नरकावास हैं, दूसरी में पच्चीस लाख, तीसरी में पन्द्रह लाख, चौथी में दस लाख, पांचवीं में तीन लाख, छठी में पांच कम एक लाख और सातवीं में केवल पांच अनुत्तर नरकावास हैं।

पहली रत्नप्रभा पृथ्वी में जो तीस लाख नारकावास हैं, उनमें से कई असंख्यात योजन लम्बे–चौड़े और कई संख्यात योजन लम्बे–चौड़े हैं। संख्यात योजन लम्बे–चौड़े नरकावासों में संख्यात जीव रहते हैं और असंख्यात योजन लम्बे–चौड़े नरकावासों में असंख्यात जीव रहते हैं।

प्राणियों के चार विभाग हैं–(1) नरक योनि के प्राणी (2) तिर्यंच योनि के प्राणी (3) मनुष्य योनि के प्राणी और देवयोनि के प्राणी। पांचवां भेद सिद्धों का भी है लेकिन उनकी गणना संसारी प्राणियों में नहीं है और ये चार भेद संसारी जीवों के हैं।

सातों भूमियों के नरकावास मिलकर सब चौरासी लाख होते हैं। जीवयोनि भी चौरासी लाख हैं और नरकावास भी चौरासी लाख हैं।

पहली पृथ्वी में प्रस्तर और अन्तर कहे गये हैं। पोलार को अन्तर कहते हैं और ऊपर की मंजिल को प्रस्तर कहते हैं। इस भूमि में बारह अन्तर हैं और तेरह प्रस्तर हैं। इनमें से दस अन्तरों में दस प्रकार के भवनवासी देव रहते हैं। भवनवासी देवों के रहने की दिशा दक्षिण और उत्तर है। दक्षिण दिशा में रहने वाले भवनवासी असुर कुमारों के चौंतीस लाख भवन हैं और उत्तर दिशा में रहने वालों के तीस लाख भवन हैं। इसी प्रकार नाग कुमार आदि के आवास हैं। सब मिलाकर सात करोड़ बहत्तर लाख भवन भवनपतियों के हैं। दण्डक की गणना से पृथ्वीकायादि जीवों का हिसाब भी आता है। पृथ्वीकाय, अप्काय, तेजस्काय, वायुकाय और वनस्पतिकाय, यह पांच स्थावर जीव हैं। इनके भी असंख्य–असंख्य स्थान हैं। इनके पश्चात् दो इन्द्रिय वाले त्रस जीव हैं। ऐसे जीवों की दो लाख जातियां है और इनके रहने के भी असंख्य स्थान हैं। जिनके स्पर्शन, रसना और घ्राण–ये तीन इन्द्रियां हैं, ऐसे त्रीन्द्रिय जीवों के भी असंख्य स्थान हैं। जिन जीवों को, कान को छोड़कर चार इन्द्रियां प्राप्त हैं, ऐसे चार इन्द्रिय वाले जीवों के भी असंख्य स्थान हैं।

जिन जीवों के कान, आंख, नाक, जीभ और स्पर्शनेन्द्रिय हैं, उन्हें पंचेन्द्रिय जीव कहते हैं। पंचेन्द्रिय जीवों के दो भेद हैं :– मनुष्य और

तिर्यंच–पंचेन्द्रिय। तिर्यंच पंचेन्द्रिय जीवों के कई भेद हैं। कोई हाथों और पैरों के सहारे चलता है, कोई सिर्फ हाथों के अथवा पैरों के ही सहारे चलता है, कोई आकाश में चलता है, इत्यादि अनेक भेद हैं। इनके भी असंख्य–असंख्य स्थान हैं।

मनुष्य पंचेन्द्रिय जीव के दो भेद हैं :– गर्भज और संमूर्छिम। जो जीव गर्भ से उत्पन्न होते हैं, वे गर्भज कहलाते हैं और मल, मूत्रादि अशुचि स्थानों में उत्पन्न होने वाले संमूर्छिम कहलाते हैं। मल–मूत्रादि से उत्पन्न होने वाले भी कोई–कोई जीव मनुष्य कहलाते हैं। उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग के बराबर होता है। इस कारण यद्यपि वे दिखते नहीं हैं, तथापि वह भी मनुष्य ही कहलाते हैं।

बहुत से लोग घरों में टट्टी जाते हैं और टट्टी सड़ती रहती है और उसमें जीव उत्पन्न होते रहते हैं। जब जीव उत्पन्न हो जाते हैं तब उन पर दया करने की बात सोचते हैं। लेकिन जीव जब उत्पन्न हो जाएंगे, तब उन पर क्या दया की जायगी? बेहतर तो यह है कि वहां जीव उत्पन्न ही न होने दिये जाएं। घर में टट्टी जाने से और टट्टी सड़ती रहने से क्या–क्या हानियां होती हैं, इस बात को जब तक भली भांति न समझ लिया जाय तब तक अहिंसा और स्वास्थ्य दोनों ही की रक्षा नहीं हो सकती।

संमूर्छिम मनुष्यों के भी असंख्य स्थान हैं और गर्भज मनुष्यों के भी असंख्य स्थान हैं।

रत्नाप्रभा पृथ्वी की मोटाई (जाड़ाई) की पोलार में वाणव्यन्तर देवों के असंख्य निवास स्थान हैं।

आगे ऊपर चन्द्र–सूर्य ग्रह हैं। चन्द्र–सूर्य यहां से तो एक एक ही दीखते हैं लेकिन तिर्यक् लोक में असंख्य द्वीप हैं और एक–एक द्वीप में अनेकानेक सूर्य हैं।

ज्योतिष–चक्र के ऊपर सौधर्म नामक पहला देवलोक है। यहां बत्तीस लाख विमान हैं। दूसरा ऐशान नामक देवलोक है, उसमें अट्ठाईस लाख विमान हैं। इसी प्रकार तीसरे सनत्कुमार देवलोक में बारह लाख, चौथे माहेन्द्र देवलोक में आठ लाख, पांचवें ब्रह्मलोक में चार लाख, छठे लान्तक में पचास हजार, सातवें शुक्र में चालीस लाख, आठवें सहस्रसार में छह हजार, नौवें आनत में और दसवें प्राणत में चार सौ, ग्यारहवें आरण और बारहवें अच्युत देवलोक में तीन सौ विमान हैं। इनके ऊपर नौ ग्रैवेयक विमान हैं। उनके तीन हिस्से हैं। पहले हिस्से में एक सौ ग्यारह, दूसरे में एक सौ सात और तीसरे

में एक सौ विमान हैं। इन तीनों हिस्सों के नाम क्रमशः अधस्तन, मध्यम और उपरितन हैं। इनके ऊपर पांच अनुत्तर विमान हैं। इस प्रकार सब मिलाकर चौरासी लाख, सत्तानवें हजार, तेईस विमान हैं।

भगवान् ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में संसार के जीवों के रहने के स्थान कितने हैं, यह बतलाया है। जब राज्य के घरों की गणना होती है तो उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ–इस प्रकार सभी घरों की गणना की जाती है। एक बड़ा महल, जिसमें बहुत से व्यक्ति रहते हैं, वह भी एक ही घर माना जाता है और जिसमें एक ही मनुष्य रहता है, ऐसा छोटा झौंपड़ा भी एक ही माना जाता है। यह बात तो आज सभी के वैज्ञानिक एवं प्राच्यविद्या के जानने वाले मानेंगे कि यह शास्त्र आज के विज्ञान से नहीं लिखे गये हैं। ज्ञानियों के ज्ञान से लिखे गये शास्त्रों में भी, जैसा कि राजा द्वारा कराई जाने वाली गणना में महल और झौंपड़ा एक ही माना जाता है, उसी तरह असंख्य योजन का विमान भी एक ही माना जाता है और पृथ्वीकाय के जीवों के रहने का छोटा–सा स्थान भी एक ही माना गया है। कीड़े–मकोड़े आदि सबके स्थानों की गणना इसमें आ गई है और यह हिसाब बतलाया गया है कि त्रिलोक के प्राणियों के रहने के स्थान कितने हैं?

अब यह प्रश्न होता है कि हमें इन कीड़ों–मकोड़ों आदि के स्थान जानने से क्या लाभ है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यह बात किसी राजा से जाकर पूछो कि तुम अपने राज्य के घरों की गणना क्यों कराते हो ? अगर दस–पच्चीस झौंपड़े अधिक हुए तो क्या और कम हुए तो क्या ? इसके उत्तर में राजा यही कहेगा कि राज्य के घरों की गणना कराने के लाभ राजनीतिज्ञ ही जान सकते हैं। इसी प्रकार त्रिलोकी के घरों की गणना में भी बहुत तत्व भरा है। इसमें क्या तत्व है, इस बात को ज्ञानी ही जानते हैं।

केवल पुस्तकें पढ़ लेना ही ज्ञान नहीं है। अध्यात्म शास्त्र के अनुसार ज्ञान क्या है, यह बात समझने योग्य है। गीता में भी ज्ञान की परिभाषा कुछ और ही बतलाई है। पढ़ना या न पढ़ना ज्ञान या अज्ञान नहीं है। गीता में कहा है :–

अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं, स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।।7।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहंकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि,दुःखदोषानुदर्शनम्।।8।।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।

नित्यं च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।9।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि।।10।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।11।।

—गीता अध्याय, 13, वां

आशय यह है कि जिसके प्राप्त होने पर अभिमान गल जाय वह ज्ञान है और जिसके प्राप्त होने से अभिमान में वृद्धि हो वह अज्ञान है। जिसके सेवन से रोग निवृत्त हो जाय वह औषध है और जिसके सेवन से रोग बढ़े, वह दवाई नहीं—कुपथ्य है। इसी प्रकार ज्ञान की कसौटी अभिमान का क्षीण होना है। चाहे पोथी पढ़ी हो, या न पढ़ी हो, लेकिन जिसमें अभिमान नहीं है वह ज्ञानी है और पढ़ने पर भी जिस पर अभिमान का भूत सवार है वह अज्ञानी है। इसी प्रकार दंभ का त्याग, अहिंसा, क्षमा, आर्जव (सरलता), आचार्य की उपासना, पवित्रता, स्थिरता, आत्मनिग्रह, इन्द्रियों के भोगोपभोग के प्रति विरक्ति, अहमत्व न रहना, जन्म—मरण व जरा रूप रोगों को दुःखरूप समझना और उनके दोषों को देखना, आसक्ति न होना, पुत्र कलत्र—गृह आदि में गृद्धि न होना, इष्ट और अनिष्ट विषयों में सदैव समभाव होना, ईश्वर में अनन्यभाव से अव्यभिचारिणी भक्ति होना, एकान्त वास करना, जनता के संसर्ग में अरुचि होना, नित्य अध्यात्मज्ञान होना, तत्वज्ञान प्राप्त करना, यह सब ज्ञान के लक्षण हैं। इस से विपरीत लक्षण होना अज्ञान है।

ऊंचे चढ़ने पर बड़ी चीज भी छोटी दिखने लगती है। यद्यपि वह वस्तु इतनी छोटी नहीं है— पहले की अपेक्षा तो वह तनिक भी छोटी नहीं हुई है लेकिन ऊपर चढ़ा होने के कारण दृष्टि में विकार आ जाता है और बड़ी चीज भी छोटी दिखाई देती है। कई लोग कहते हैं हम प्रत्यक्ष देखे बिना कोई बात नहीं मानते, लेकिन प्रत्यक्ष देखी जाने वाली बात के विपरीत भी मानना पड़ता है। ऊपर चढ़ा हुआ आदमी प्रत्यक्ष से देखकर जिस चीज को छोटी बतलाता है, उसी के विषय में, उसी का हृदय कहता है—वास्तव में वह छोटी नहीं है, वह तो ज्यों की त्यों बड़ी है। लेकिन ऊपर चढ़ने के कारण दृष्टि में विकार आ गया है। इसी कारण बड़ी वस्तु छोटी नजर आती है। भला सोचिए, ऐसे समय में प्रत्यक्ष की बात मानना उचित है या बुद्धि की? क्या इस समय बुद्धि को ठगना उचित होगा? यही बात एक उदाहरण से स्पष्ट की जाती है।

बुद्धिमान ने पूछा–क्या इस पत्ते पर लिखा वाक्य सही है?

ज्ञानी ने कहा–यह आंख से तो सही है, मगर बुद्धि से सही नहीं है। जो कुछ अनुभव हुआ, वह लिखा है और वह स्थान के साथ सही भी है। यहां से तुम किसी घोड़े को देखो तो मालूम होगा कि घोड़ा, कुत्ता–सा दिखाई देता है या नहीं?

इतने में ही पहाड़ के नीचे एक घोड़ा दिखलाई पड़ा। ज्ञानी पुरुष ने घोड़ा बतलाते हुए उन लोगों से पूछा–वह घोड़ा आपको कैसा नजर आ रहा है?

लोगों ने कहा–जी हां, वह तो कुत्ता सा दीख पड़ रहा है।

ज्ञानी ने पूछा–क्या वह वास्तव में कुत्ता है?

सब बोले–नहीं, कुत्ता तो नहीं है।

ज्ञानी ने कहा–तो मेरी बात आंख और स्थान से सही है, हां, वह बुद्धि से अवश्य गलत है।

मतलब यह है कि आत्मविचार की सचाई को प्रत्यक्ष के अभाव में झूठ ठहराना और आंखों देखी बात को ही सत्य मानना ठीक नहीं है। ऐसा करना भाव हिंसा है। सच्चे विचारों का नाश करना आत्महिंसा है।

शास्त्र कहते हैं, अभिमान का नाश होना ज्ञान का लक्षण है लेकिन गड़बड़ यह हो रही है कि अनेक लोग आज अभिमान को ही ज्ञान मान बैठे

हैं। लोग अपनी आंखों को सर्वदर्शी और अपने मस्तिष्क को ही सर्वज्ञ समझ रहे हैं। यह स्पष्ट है कि आत्मा ज्ञानी तभी बनता है, जब वह अभिमान का नाश कर दे। अभिमान का नाश किस प्रकार हो सकता है, यह जानने के लिए पर्वत पर रहने वाले उस ज्ञानी की ओर दृष्टि दौड़ाओ। जैसे पर्वत पर चढ़ने पर नीचे की वस्तु छोटी दिखाई दे और उस समय यह समझना चाहिए कि वस्तु छोटी नहीं है—यह तो मेरा भ्रम है। वस्तु तो वास्तव में बड़ी ही है। इसी प्रकार अहमन्यता के पहाड़ पर चढ़कर सब को छोटा मानना अभिमान है और यह विचार करना कि यह मेरा भ्रम है, मैं बड़ा नहीं हूं, अभिमान का नाश करना है। ज्ञानी जनों का कथन है कि हम छोटे–बड़े का भेद समझ कर अभिमान मिटाने के लिए ही सब जीवों का ठीक–ठीक हिसाब कर रहे हैं।

कदाचित् पहाड़ पर चढ़ा हुआ आदमी अभिमान का मारा नीचे के लोगों को छोटा भी समझे लेकिन नीचे वालों को पहाड़ पर चढ़ा हुआ व्यक्ति छोटा दिखाई देगा या बड़ा?

'छोटा !'

अब कौन बड़ा और कौन छोटा रहा? जो दूसरों को अपने से छोटा देखता है, उसे दूसरे लोग अपने से भी छोटा समझते हैं। अभिमानी पुरुष के लिए यह पुरस्कार संभवतः समुचित ही है। मगर ज्ञानी पुरुष कहते हैं– स्थान आदि को छोड़कर देखो तो मालूम होगा कि वास्तव में कौन बड़ा? और कौन छोटा है ? जिसके हृदय से अभिमान गया, वही सम्यग्–दृष्टि बन जाता है। ज्ञान होने पर भी अगर कोई सम्यग्दृष्टि नहीं है तो समझना चाहिए कि उसका ज्ञान, अज्ञान–मिथ्याज्ञान है। सच्चे ज्ञान के होने पर अभिमान उसी प्रकार गल जाता है, जैसे सूर्य के उदय होने पर तम विलीन हो जाता है।

इस संसार में किन–किन प्राणियों के निवास स्थान हैं, यह बात ऊपर बतलाई गई है। रत्नप्रभा पृथ्वी पर 84 लाख नरकावास हैं। उनमें असंख्य नारकी जीव रहते हैं। एक घर में अनेक मनुष्य होने पर भी घर एक ही गिना जाता है, उसी प्रकार एक–एक आवास में असंख्य असंख्य नारकियों का वास होने पर भी आवास एक ही गिना जाता है।

अब गौतम स्वामी यह प्रश्न करते हैं कि चौरासी लाख जीव योनियों में जैसा ऊंच–नीच का अन्तर है, वैसा इन नारकी जीवों में है या नहीं ? इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी जो जो जो प्रश्न करेंगे, वे दस बातों से सम्बन्ध रक्खेंगे। वह दस बातें एक संग्रहगाथा में बतलाई गई है। मूल पाठ इस प्रकार है :–

मूलपाठ –

पुढ़वि ठ्ठिइ–ओगाहण–सरीर संघयणमेव संठाणे।
लेस्सा–दिट्ठी–णाणे जोगुवओगे य दस ठ्ठाणा।।

संस्कृत–छाया

पृथ्वीषु स्थिति–अवगाहना–शरीर–सहननमेव संस्थानम्।
लेख्या–दृष्टि–ज्ञानं योगोपयोगौ च दश स्थानानि।।

पृथ्वियों में स्थिति, अवगाहना, शरीर, संहनन, संस्थान, लेश्या, दृष्टि, ज्ञान, योग और उपयोग इन दस बातों का विचार करना है।

व्याख्यान

आगे चलकर सर्व प्रथम स्थिति (आयु) का विचार करना है फिर अवगाहना का वर्णन करेंगे। अवगाहना का सम्बन्ध शरीर से है, अतः इसके बाद शरीर का वर्णन किया जायेगा। फिर शरीर से सम्बन्ध रखने वाले संहनन एवं संस्थान का विचार होगा। संस्थान का अर्थ आकार है। यह आकार भेद लेश्या से होता है, इसलिए फिर लेश्या का विचार किया जायगा। लेश्या होने पर भी आत्मा का उपयोग अलग रह जाता है और कोई प्रकृति पर विजय पाता है, दृष्टि भेद भी होता है, इस कारण लेश्या के अनन्तर दृष्टि अर्थात् सम्यग् दृष्टि–मिथ्या–दृष्टि का विचार किया जायेगा। दृष्टि ज्ञान से होती है अतएव तत्पश्चात् ज्ञान का वर्णन करेंगे। ज्ञान मन–वचन–काय के योग से वर्तता है, इस कारण फिर योग का वर्णन होगा और फिर ज्ञान, दर्शन और चारित्र के उपयोग का वर्णन होगा।

जैसे लोक में पहले घर गिने जाते हैं, फिर घरों में रहने वाले लोगों का अपने धर्म उम्र, पेशा, नाम आदि लिखा जाता है पूछा जाता है उसी प्रकार धर्म शास्त्र में भी पहले जीवों के स्थान के विषय में प्रश्नोत्तर किये गये और अब तत् सम्बन्धी विशेष बातों का विचार किया जायगा। अर्थात् उल्लिखित दस बातों की तहकीकात की जायगी।

स्थितिस्थान

प्रश्न–इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावास–सयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता, तंजहा–जहण्णिया, ठिईसमयाहिया, जहण्णिया ठिई दुसमयाहिया, जाव–असंखेज्ज समयाहिया जहण्णिया ठिई। तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिई।

प्रश्न–इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावास सयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि जहण्णियाए ठिईए वट्टमाणा णेरइआ किं कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता?

उत्तर–गोयमा! सव्वे वि ताव होज्जा कोहोवउत्ता य। अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ते य। अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य। अहवा कोहोवउत्ता य मायोवउत्ते य। अहवा कोहोवउत्ता य, मायोवउत्ता य लोहोवउत्ते य। अहवा कोहोवउत्ता य लोभोवउत्ता य। अहवा कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ते य। कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ता य। कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य, मायोवउत्ता य कोहोवत्ताय, माणोवउत्ता य, मायोवउत्ता य एवं कोह माण–लाभेण वि चउ। एवं कोह–माया–लोभे चउ। एवं 12। पच्छा माणेण, मायाए, लोभेण य कोहो भणियव्वो। ते कोहं अमुंचता। एवं सत्तावीसं भंगा णेयव्वा।

प्रश्न–इमीसेणं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावास सयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि समयाहियाए जहण्णट्ठिईए वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता माणोवउत्ता, मायोवउत्ता लोभोवउत्ता ?

उत्तर–गोयमा! कोहोवउत्ते य, माणोवउत्ते य, मायोवउत्ते य लोभोवउत्ते य। कोहोवउत्ता य, माणोवउत्ता य, मायोवउत्ता य, लोभोवउत्ता

य। अहवा कोहोवउत्ते य, माणोवउत्ते य। अहवा कोहावउत्ते य, माणोवउत्ता य। एवं असीतिभंगा नेयव्वा। एवं जाव–संखेज्ज समयाहिया ठिई असंखेज्ज समयाहिया ठिई, तप्पाउग्गु क्कोसियाए ठिईए सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–एतस्या भगवन्! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्त्रिंशति निरयावास शतसहस्रषु एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कियन्ति स्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर–गौयम! असंख्येयानिस्थितिस्थानानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथाः–जघन्या स्थितिः समयाधिका, जघन्यास्थिति–र्द्विसमयाधिका, यावत्–असंख्येयसमयाधिका जघन्या स्थितिः, तत्प्रायोग्योत्कर्षिका स्थितिः।

प्रश्न–एतस्या भगवन्! रत्नप्रभायाः पृथिव्यार्स्त्रिशति निरयावास शतसहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे जघन्यया स्थित्या वर्त्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधापयुक्ताः, मानोपयुक्ताः, मायोपयुक्ताः, लोभोपयुक्ताः?

उत्तर–गौतम ! सर्वेऽपि तावद् भवेयुः क्रोधोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च मायोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च लोभोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च। क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च। क्रोधापयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च मायोपयुक्ताश्च। एवं क्रोध–मान–लोभेनापि चत्वारः। एवं क्रोध–माया–लोभेन चत्वारः। एवं पश्चाद् मानेन, मायया, लोभेन च क्रोधो वक्तव्यः। ते क्रोधम् अमुंचन्तः। एवं सप्तविंशतिभंगा ज्ञातव्याः।

प्रश्न–एतस्या भगवन्! रत्नप्रभायाः पृथिव्यार्स्त्रिशति निरयावास शतसहस्त्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे समयाधिकया जघन्य स्थित्या वर्त्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः, मानोपयुक्ताः, मायोपयुक्ताः लोभोपयुक्ताः?

उत्तर–गौतम! क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च, लोभोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च। अथवा क्रोधोपयुक्ताश्च, मानोपयुक्ताश्च। एवं अशीतिर्भंगा ज्ञातव्याः। एवं यावत्

संख्येय समयाधिका स्थितिः, असंख्येय समयाधिका स्थितिः, तत्प्रायोग्योत्कर्षिक्या स्थित्या सप्तविंशतिभंगा भणितव्याः।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के एक–एक नारकावास में रहने वाले नारक जीवों के कितने स्थितिस्थान कहे हैं ? अर्थात् एक एक नारकावास के नारकियों की कितनी–कितनी उम्र है ?

उत्तर–हे गौतम! उनके असंख्य स्थितिस्थान कहे हैं। वह इस प्रकार हैं–जघन्य स्थिति दस हजार वर्ष की है, वह एक समय अधिक, दो समय अधिक–इस प्रकार यावत् जघन्य स्थिति असंख्यात समय अधिक तथा उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति भी। (यह सब मिलकर असंख्यात स्थितिस्थान होते हैं।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकवासों में के एक–एक नारकावास में कम से कम (जघन्य) स्थिति में वर्त्तमान नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं? मानोपयुक्त है? मायोपयुक्त है या लोभोपयुक्त हैं ?

उत्तर–गौतम! वे सभी क्रोधोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत–से क्रोधोपयुक्त और एक मानोपयुक्त है, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और एक मयोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और मायोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त और एक लोभोपयुक्त होता है, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त और लोभोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त, एक मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त एक मायोपयुक्त और बहुत मायोपयुक्त होते हैं, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त तथा बहुत मानोपयुक्त और एक मायोपयुक्त, अथवा बहुत क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त तथा मायोपयुक्त होते हैं। इस प्रकार क्रोध, मान और लोभ के साथ दूसरे चार भंग करने चाहिएं। और इसी प्रकार क्रोध, माया और लोभ के साथ भी चार भंग करने चाहिएं। फिर मान, माया और लोभ के साथ क्रोध द्वारा आठ भंग करने चाहिएं। तथा इन सबको, क्रोध को छोड़े बिना इस प्रकार सत्ताईस भंग जानने चाहिएं।

प्रश्न–हे भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में के एक–एक नारकावास में एक समय अधिक जघन्य स्थिति में वर्तमान नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं? मानोपयुक्त हैं? मायोपयुक्त है? या लोभोपयुक्त हैं?

उत्तर–हे गौतम! उनमें कोई–कोई क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त मायोपयुक्त और लोभोपयुक्त हैं। अथवा बहुत से क्रोधोपयुक्त, मानोपयुक्त, मायोपयुक्त और लोभपयुक्त है। अथवा कोई–कोई क्रोधोपयुक्त और मानोपयुक्त, अथवा कोई–कोई क्रोधोपयुक्त और बहुत–से मानोपयुक्त हैं। इत्यादि प्रकार से अस्सी भंग

समझने चाहिए। और इसी प्रकार यावत्–संख्येय समयाधिक स्थिति वाले नारकों के लिए भी जानना। असंख्येय समयाधिक स्थिति के उचित उत्कृष्ट स्थिति में सत्ताईस भंग कहना चाहिए।

व्याख्यान

पूर्वोक्त दस बातों में से पहले उम्र का विचार किया गया है। उम्र का विचार हुए बिना आयुकर्म की स्थिति की मर्यादा का पता नहीं लग सकता। अतएव गौतम स्वामी भगवान् महावीर से पूछते हैं–भगवन! पहली रत्नप्रभा नामक पृथ्वी में जो तीस लाख नारकावास हैं, उनमें रहने वाले जीवों की स्थिति (उम्र) बराबर है या स्थान–विभाग (कम–बढ़) है? अर्थात् एक नारकावास में रहने वाले जीवों की कितनी–कितनी स्थिति है?

गौतम स्वामी के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम? नरक में रहने वाले जीवों की स्थिति के स्थान भिन्न–भिन्न हैं। किसी की जघन्य स्थिति है, किसी की मध्यम और किसी की उत्कृष्ट स्थिति है। इस पहली पृथ्वी के पहले प्रस्तर में रहने वाले नारक जीवों की आयु कम से कम दस हजार वर्ष की है और अधिक से अधिक नब्बे (90) हजार वर्ष की है। कम से कम आयु जघन्य कहलाती है और अधिक से अधिक आयु उत्कृष्ट आयु कहलाती है, जघन्य और उत्कृष्ट के बीच की आयु को मध्यम आयु कहते हैं। मध्यामायु जघन्य या उत्कृष्ट के समान एक प्रकार की नहीं है। जघन्य आयु से एक समय अधिक की आयु भी मध्यम कहलाती है, दो समय अधिक की भी मध्यम कहलाती है, इसी प्रकार संख्यात और असंख्यात समय अधिक की मध्यम आयु ही कहलाती है। इस तरह मध्यम आयु के अनेक विकल्प हैं। अतः कोई नारकी दस हजार वर्ष की आयु वाला, कोई एक समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु वाला कोई दो समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु वाला, इसी प्रकार कोई असंख्यात समय अधिक दस हजार वर्ष की आयु वाला है, कोई अधिक उत्कृष्ट आयु वाला है। इसलिए नारकी जीवों के स्थितिस्थान असंख्य है।

श्रेष्ठ आचार की दृष्टि से तो प्रायः सब धर्मो का विचार समान होता है, लेकिन दार्शनिक सिद्धान्त की दृष्टि से जिसे जो धर्म युक्तिसंगत प्रतीत होता है, वही माना जाता है। उदाहरणार्थ–सत्य बोलने के विषय में सामान्य रूप से सभी धर्म एक हैं। असत्य बोलने का कोई धर्म समर्थन नहीं करता। यह एक स्थूल बात है। लेकिन सत्य कितने प्रकार का है, और उसका वास्तविक स्वरूप क्या है? और किस–किस प्रकार की वाणी असत्य होती हैं?

इत्यादि सूक्ष्म विचार में बहुधा भेद भी पाया जाता है। असत्य भाषण नहीं करना चाहिए, यह बात नास्तिक भी कहता है लेकिन असत्य भाषण क्यों नहीं करना चाहिए, यह बात अगर नास्तिक से पूछी जाय तो वह कहेगा–सत्य बोलना श्रेष्ठ आचार है। झूठ बोलने से जीवनक्रम नहीं चल सकता, समाज में शंका एवं अविश्वास का वातावरण फैलता है, अतः झूठ नहीं बोलना चाहिए। ऐसे समय में दार्शनिक सिद्धान्त बतलाकर यह सिद्ध करने की आवश्यकता है कि सिर्फ लोकाचार के लिए ही सत्य–भाषण नहीं किया जाता, किन्तु सत्य आत्मा का प्रसिद्ध बल है–आत्मा की प्रचंड एवं अजेय शक्ति है, इसलिए भी सत्य बोलने की आवश्यकता है। इसीके अनुसार गौतम स्वामी का यह प्रश्न है कि नरक के जीवों की जघन्य स्थिति से, उत्कृष्ट स्थिति से उत्कृष्ट स्थिति पर्यन्त कितने स्थान–विभाग हैं? भगवान् ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है– हे गौतम ! असंख्यात स्थान हैं।

यहा प्रश्न खड़ा हो सकता है कि दस हजार वर्ष की स्थिति के भेद गिनने में असंख्यात किस प्रकार हो गये? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि काल–गणका के लिए विभिन्न देशों में तरह–तरह के विभागों की कल्पना की गई है। यूरोप–निवासियों ने समय के विभाग को समझने के लिए घण्टे, मिनट और सैकिंड की कल्पना की है। सैकिंड तक पहुंचकर उनकी गति रुक गई। भारतीय ज्योतिषियों ने घड़ी, पल और विपल में समय का विभाग किया। शायद इससे अधिक सूक्ष्म काल–गणना की लोक–व्यवहार में आवश्यकता नहीं समझी गई होगी, अन्यथा सैकिंड के भी विभाग क्यों नहीं किये जा सकते? मगर ज्ञानियों ने सूक्ष्म तत्व का निरूपण करने के उद्देश्य से काल के सूक्ष्मतम अंश का भी निरूपण किया है। काल का यह सूक्ष्मतम अंश, जो निरंश है, जिसका दूसरा अंश संभव नहीं है, 'समय कहलाता है। यों तो 'समय' शब्द का सामान्य लोकप्रचलित अर्थ काल (टाइम) है, मगर यहां यह सामान्य अर्थ नहीं लिया गया है, वरन् पूर्वोक्त विशेष अर्थ ही लिया गया है। एक सूक्ष्मतम समय में ही अनेक काम हो जाते हैं। एक समय मात्र अनन्त गुणहीन जीव अनन्त–गुण अधिक हो जाता है और अनन्तगुण अधिक जीव, अनन्त गुणहीन हो जाता है। एक समय में पुद्गल का एक परमाणु चौदह राजू लोक की यात्रा करके सिद्धशिला तक जा पहुंचता है।

भारत से विलायत जो तार जाता है, वह कुछ ही सैकिंड में चला जाता है। लेकिन वह झट से एक खंभे पर से होकर दूसरे खंभे पर और इसी प्रकार आगे चलता है। इस प्रकार जितने खंभों पर होकर तार जाता है, सैकिंड

और मिनट के उनते ही विभाग हो जाते हैं। इसी प्रकार दस हजार वर्ष की स्थिति से नब्बे हजार वर्ष की स्थिति तक असंख्य विभाग–स्थितिस्थान–हो जाते हैं।

कहा जा सकता है कि यह असंख्यात स्थितिस्थान सिद्ध करने से लाभ क्या है? इसका उत्तर यह है कि यह विचार निष्कारण नहीं है। गणधर की बारीक बातों पर विश्वास हो जाय तो स्थूल बातों पर अविश्वास करने का कोई कारण नहीं रहेगा। जैसे एक गणितज्ञ के बताये हुए बारीक हिसाब पर विश्वास हो जाने पर स्थूल हिसाब पर अविश्वास नहीं होता, इसी प्रकार अगर कोई कहे कि जैनो के शास्त्रों में जो बात बतलाई गई हैं, जो हिसाब बतलाया गया है, उसकी सत्यता का प्रमाण क्या है? तो उसे संतुष्ट करने के लिए यह हिसाब बतलाया गया है। अगर यह हिसाब सही है और इसके सही होने में कोई भी बाधा नहीं है, तो उन महात्माओं की अन्य–अन्य बातों पर भी विश्वास करना चाहिए।

उन महात्माओं ने कहा है :–

दुल्लहे खलु माणुसे भवे, चिरकालेण वि सव्वपाणिणं।
गाढा य विवाग–कम्मुणो, समयं गोयम! मा पमायए।।

–उत्त. 10/4।

अर्थात्–हे गौतम ! मनुष्य–जन्म दुर्लभ है। बहुत से प्राणियों को अनंतकाल तक यह प्राप्त नहीं होता। कर्म–विपाक की तीव्रता के कारण अनंत काल तक वे इसे पाने में असमर्थ रहते हैं। गौतम! ऐसा अतीव दुर्लभ मनुष्य भव प्राप्त हुआ है, इसलिए 'समय' मात्र का भी प्रमाद न कर।

'समय' का अर्थ ऊपर बतलाया जा चुका है। अगर कोई यह सीख दे कि–बेटा, एक कोड़ी भी मत खोना। तो पिता की सीख मानने वाला पुत्र कोड़ी नहीं खोयेगा और रुपये–पैसे खोएगा? नहीं। जो आज कौड़ी न खोएगा, वह कल रुपये–पैसे की भी बचत करेगा। इसी प्रकार भगवान् ने समय मात्र प्रमाद में न जाने देने का जो उपदेश दिया है, उसे मानने वाला क्या दिन, वर्ष या सारा जीवन प्रमाद में गंवा देगा? नहीं। जो एक समय भी खोएगा वही दिन और आयु भी खो सकता है।

जिन महात्माओं ने ऐसी–ऐसी बारीक बातें बतलाई हैं, उन्हें किसी से कुछ लेना नहीं था। उन्हें किसी प्रकार का स्वार्थ–साधन नहीं करना था। वे सर्वस्व परित्यागी और वीतराग महात्मा थे, सर्वथा निष्काम और परहित निरत थे। पूर्ण ज्ञानी भी थे। उनके असत्य बोलने का कोई कारण नहीं था।

फिर वह मिथ्या उपदेश क्यों देते? अतएव उनके उपदेशों की सत्यता पर दृढ़ विश्वास रखकर समय मात्र का भी प्रमाद मत करो।

नव घाटी मांहे भटकत भटकत पायो नरभव सार।
जाने पछे देवता जीवा थे, किम जावो छो हार।।

एक घाटी में नहीं, किन्तु नौ घाटियों में चक्कर काटते–काटते गाड़ी पार हुई है। अब मनुष्य जन्म प्राप्त हुआ है। अब पार लगी हुई गाड़ी को जान–बूझकर फिर क्यों चक्कर में डालते हो? यह मनुष्य जन्म वह है, जिसके लिए देवता भी तरसते हैं।

भक्ति में लगे हुए भक्त को कहीं न कहीं से कोई अच्छी बात हाथ लग ही जाती है। भक्त तुकाराम कहते हैं :–

अनन्त जन्म ज्यांरी केल्या तपराशी, तरी हाता पवषी यने देह।
ऐसा हानिदान लाग लासी हाथी, ज्यांची केली माती भाग्यहीना।।अन।।
उत्तमाचा सार बेदाचा भंडार, जयाते पवित्रे तीर्थे होती।
म्हणो तुकिया बन्धु आणी खओप, नहीं यांचा जन्मी दयाव आसी।।अन।।

महाराष्ट्र प्रदेश में मैं बारह वर्ष रह आया हूं। कहावत प्रसिद्ध है–'पूत जावे दक्षिण, कुछ तो लावे लक्षण।' इसके अनुसार मैं दक्षिण से तुकारामजी की उक्त बात सीख कर आया हूं। हम मनुष्य हैं। हमारा कर्त्तव्य कम से कम मनुष्य मात्र से प्रेम रखना है। मनुष्य चाहे किसी भी जाति का हो, लेकिन मनुष्यत्व सभी के लिए दुर्लभ है।

तुकारामजी कहते हैं – अनन्तकाल तक तप किया–कष्ट उठाये, कीड़े–मकोड़े रहे तब कहीं यह मनुष्य–जन्म प्राप्त हुआ है। कहा जाता है कि पत्थर के कोयले और हीरे के परमाणु मूलतः एक ही जाति के हैं। जो कोयला पृथ्वी में करोड़ों वर्ष तक दबा रहता है, वह हीरे के रूप में परिणत हो जाता है; जो जल्दी खोद लिया जाता है वह पत्थर ही रह जाता है।

अगर यह सत्य है तो कोयले और हीरे के परमाणु एक ही हैं, अन्तर सिर्फ यह है कि कोयला जल्दी खोद लिया जाता है और हीरा पृथ्वी का भार वहन करता हुआ देर तक दबा पड़ा रहता है। फिर भी क्या कोयले को हीरे के समान माना जा सकता है? क्या दोनों के परमाणुओं को एक जाति समझ कर कोयले के बदले हीरा दिया जा सकता है? अगर कोई पुत्र ऐसा करेगा तो उसका पिता उसे कपूत और मूर्ख समझ कर नाराज न होगा?

इसी प्रकार चिरकाल तक अनेक विध कष्ट उठाने के पश्चात् अत्यन्त कठिनाई से मनुष्य जन्म मिलता है! तुकाराम कहते हैं, मूर्ख, ऐसे मनुष्यभव को मिट्टी के मोल गंवा रहा है।

शरीर में रक्त, मांस, हाड़, नस और मलमूत्र हैं। शरीर का रक्त, मांस आदि बढ़ाने के लिए खाते हो, पीते हो मगर जीवन के उच्च और प्रशस्त प्रयोजन की ओर ध्यान नहीं देते तो मनुष्यजन्म को मिट्टी में मिलाना नहीं तो और क्या है? तुकाराम कहते हैं—जैसे भाग्यहीन पुरुष कोयले के बदले हीरा नष्ट करता है, उसी प्रकार, रे मूर्ख! तू मनुष्य जन्म को मिट्टी कर रहा है।

कल्पना कीजिए, किसी के पास एक तिजोरी है। उसमें हीरा–पन्ना आदि जवाहरात भरे हैं। एक तिजोरी की बही है, जिसमें तिजोरी के भीतर की सब चीजों की सूची है। इन दोनों में महत्व किसका अधिक है—तिजोरी का अथवा बही का? आप सभी एक स्वर से कहेंगे—'तिजोरी का' ! बही में तो तिजोरी के भीतर की चीजों के नाम हैं। बही लिखने वाले ने बुद्धिमत्ता की है कि गुप्त भेद का पता दे दिया है। उस सूची से तिजोरी की चीजें देखने में सहायता मिलेगी। मगर सूची की बही के बदले तिजोरी मत दे दो। इसी प्रकार एक ओर धर्मशास्त्र हैं और दूसरी ओर शरीर है, जिसमें आत्मा विराजमान है। अब बतलाइए कि धर्मशास्त्र बड़ा या आत्मा बड़ा ? सब शास्त्रों में आत्मा और शरीर का हिसाब बतलाया गया है। गीता के 13 अध्याय में भी कहा है –

इदं शरीरं कौन्तेय, क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।1।।

अर्थात्—हे अर्जुन, यह शरीर क्षेत्र है और इसमें विराजने वाला आत्मा क्षेत्रज्ञ है।

इस प्रकार कहने वाली गीता शरीर में रहे हुए आत्मा की बही है। लेकिन क्या हो रहा है? लोग बही के लिए लड़ते–झगड़ते हैं और तिजोरी की चीजें जा रही हैं, उनकी ओर किसी का लक्ष्य ही नहीं है। धर्म के लिए लड़ते हैं। मगर आत्मा का पतन हो रहा है, इसकी किसी को चिन्ता नहीं। हां, शास्त्रों की उपयोगिता अवश्य है और बहुत अधिक है, मगर हमारा कर्त्तव्य यह है कि हम शास्त्र रूपी बही देखकर शरीर रूपी तिजोरी में बैठे हुए आत्मारूपी रत्न को देखें, संभालें और फिर शास्त्र रूपी बही को सही मानें।

मतलब यह है कि केवल शास्त्रों के शब्दों को ही पकड़ कर मत बैठो; किन्तु शास्त्र में जो कुछ लिखा है, वह आत्मा में है या नहीं, इसे देखो, अगर किसी आदमी के सामने उसके धर्मशास्त्र का अपमान किया जाय तो उसे बुरा लगेगा, कोई जला दे तो वह मुकदमा करेगा और कहेगा कि हमारे आत्मा की बही को जला दिया। बुरा लगना अनुचित नहीं है, लेकिन बही जलने का दुःख

मनाओ और जिसकी वह बही है, उस आत्मा का विनाश होने दो, यह उचित नहीं है।

हमारे आत्मा की बही (नोंध) तैयार करने में महात्माओं ने घोर परिश्रम किया है। शास्त्रों में आत्मा का अस्तित्व सिद्ध करने के लिए बड़े परिश्रम से युक्तियां दी गई हैं, हेतु दिये गये हैं। इन शास्त्रों का आदर करो। उन्हें प्रमाणभूत मानो। मगर यह न करो कि शास्त्रों को ही लेकर बैठ जाओ और आत्मा को भूल जाओ। जैसे आप अपनी जाति के किसी भाई को कुव्यसन में पड़ा देखकर दुःखी होते हैं, इसी प्रकार भक्तजनों को मनुष्य मात्र पर प्रेम और दया का भाव होता है और इसीलिए कुव्यसनों में पड़े मनुष्य को देख कर वे कहते हैं–यह अपने मनुष्यजन्म की मिट्टी कर रहा है। इसीलिए करूणा से प्रेरित होकर वे यह उपदेश देते हैं कि उत्तम और दुर्लभ मानव–भव पाया है तो इसे वृथा मत गंवाओ। भाग्यशाली होकर भाग्यहीन मत बनो। मनुष्य होकर मनुष्यजीवन का वास्तविक लाभ प्राप्त करो। जो ऐसा नहीं करते और भोगोपभोगों में एवं महलों में, मकानों में मस्त रहते हैं, उन्हें एक दिन महल–मकान छोड़कर नारकावास का अतिथि बनना पड़ता है।

भगवान् ने यह बताया है कि रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों में रहने वाले जीवों के स्थिति स्थान असंख्य हैं।

अब यह देखना है कि इन जीवों को नरक–स्थान में किसने रोक रक्खा है? एक अंग पर विश्वास हो जाने पर दूसरे अंग पर विश्वास करना बुद्धि का काम है।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में बसने वाले जघन्य स्थिति के जीव–जो जीव एक ही स्थिति में वर्तते हैं, उनमें क्रोध अधिक है, मान अधिक है, माया अधिक है या लोभ अधिक है? गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! वे सब जीव क्रोधी, मानी, मायी और लोभी हैं परन्तु कभी–कभी ऐसा हो जाता है कि वे सब जीव क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं। ऐसे समय में मान, माया और लोभ नहीं देखा जाता।

भगवान् ने नरक के जीवों को क्रोधी ही क्रोधी कहकर गति प्रत्यय का हिसाब लगाया है। जिसमें तमोगुण अधिक होगा, जो हल्की प्रकृति का होगा उसमें क्रोध ज्यादा मिलेगा, यह प्रत्यक्ष है। अतएव जहां ज्यादा क्रोध है वहीं नरक समझना चाहिए। नरक में क्रोध, परस्पर की लड़ाई और परस्पर की अशान्ति है। वहां के जीवों को आपस में मारामारी करना ही सूझता है;

क्योंकि उनमें क्रोध बहुत है। एक बाप के चार पुत्र हों और उनमें क्रोध न हों तो शान्ति रहेगी। अगर वे सब क्रोधी हुए, आपस में लड़ने-झगड़ने लगे तो घर ही नरक हो जायगा। घर में सांसारिक सुखों के सब साधन मौजूद भी हों तब भी अगर भाई-भाई में लड़ाई-झगड़ा चलता हो तो वही सुख के साधन, दुःख के साधन बन जाते हैं। यह बात किसी से छिपी नहीं है। क्रोध की अधिकता से किस प्रकार अशान्ति की प्रचंड ज्वालाएं भभकीं? कैसे-कैसे घमासान युद्ध मचे, इस विषय की कथाएं सुनने पर हृदय द्रवित हो जाता है। बाप-बेटे, भाई-भाई और जिनका संबंध आजकल बहुत समीप का समझा जाता है, उन पति-पत्नी की लड़ाई देखो तो ज्ञान होगा कि ये घर नहीं, नरक है।

कहावत प्रसिद्ध है कि रिस बड़ी सयानी होती है, इसलिए वह अपने पर ही आती है। अगर खुद का लड़का कोई काम बिगाड़ दे तो बहुत जल्दी आंखें लाल हो जाती हैं, कोई दूसरा बिगाड़े तो उतना और उतना जल्दी गुस्सा नहीं आता। लेकिन जहां प्रेम है, अपनापन है, वहां प्रेम के बदले क्रोध हो तो वहां नरक नहीं समझना चाहिए।

भगवान् ने कहा-कभी-कभी नरक के सब जीव क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके मान, माया और लोभ का क्षय हो जाता है। यहां भगवान् ने जो कहा है, वह शुद्ध ऋजुसूत्रनय की बात है। ऋजुसूत्रनय के अनुसार भगवान् ने फरमाया है कि नरक के सभी जीव कभी क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं। एक भाव की प्रबलता में दूसरे भाव स्वाभाविक ही दब जाते हैं। इसी नियम के अनुसार क्रोध की प्रबलता में मान, माया और लोभ दब जाते हैं। मगर चारों ही प्रकृतियां विद्यमान अवश्य रहती हैं। केवल जिस समय जीवों का उपयोग क्रोध में रहता है, उस समय मान आदि में नहीं रहता।

ऋजुसूत्रनय कहता है-मैं वर्तमान काल को ही मानता हूं, भूत और भविष्यकाल असत्-अविद्यमान हैं, इसलिए मैं उन्हें नहीं मानता। उदाहरणार्थ-एक आदमी सामायिक ग्रहण करके बैठा है। अगर उस समय उसका चित्त संसार के व्यवहार की ओर गया तो ऋजुसूत्रनय उसे संसार व्यवहारी मानेगा, सामायिक निष्ट नहीं मानेगा। सामायिक में बैठने वाले का मन अगर मोची की दुकान पर गया, तो ऋजुसूत्रनय कहता है-वह मोची की दुकान का ग्राहक है, सामायिक करने वाला नहीं। सामायिक करने वाला वह तभी माना जायगा, जब उसका ध्यान सामायिक में हो। इसी प्रकार नरक के जीव जब क्रोध में

होते हैं, उनका उपयोग क्रोध में होता है, तब वह क्रोधी हैं मानी, मायी और लोभी नहीं हैं।

इस विषय में एक उदाहरण और लीजिए। जिसे लाख रुपये मिलने वाले हों या जिसके पास लाख रुपये थे, वह लोकव्यवहार में लखपति कहलाता है। लेकिन ऋजुसूत्रनय उसे लखपति नहीं मानता। जिसके अधिकार में वर्त्तमान काल में लाख रुपये हों उसी को वह लखपति मानता है। लाख रुपये किसी के पास भले ही थे या होंगे लेकिन अगर वर्तमान में नहीं हैं, फिर भी उसे लखपति कहा जाय तो फिर चाहे जिसे लखपति कहा जा सकता है। इस प्रकार ऋजुसूत्रनय उसे लखपति नहीं मानता, चाहे व्यवहार में उसे लखपति कहा जाय।

जैनधर्म अनेकान्तवादी है। वह सभी बातों का समाधान कर सकता है। लेकिन आज हम लोगों में ही खैंचातानी चल रही है। अगर यह खैंचातानी छोड़कर देखें तो जैनधर्म वस्तु के किसी भी अंग का विरोधी नहीं है।

जब एक पक्ष का विरोध करके, दूसरे पक्ष की ही स्थापना की जाती है, तब विरोध उत्पन्न होता है। उदाहरण के लिए, अनेक अंग मिलकर हाथी का पूर्ण शरीर कहलाता है। अब कोई आदमी हाथी का पांव ही पकड़ कर कहता है कि हाथी खंभे के समान ही होता है, हमने टटोलकर देख लिया है। दूसरा सूंड पकड़ कर कहता है हाथी डगले बांह, मुद्गर सरीखा होता है। तीसरा पूंछ का स्पर्श करके कहता है हाथी रस्सी सरीखा होता है। चौथे ने कान पकड़ कर कहा–हाथी सूप–सा होता है। पांचवे ने कहा–हाथी कोठी के समान होता है, इत्यादि। ऐसे समय में ज्ञान कहता है–मेरा अभाव होने से ही ये सब लोग लड़ रहे हैं और एक दूसरे की बात को मिथ्या समझ रहे हैं। यद्यपि ये सब सच कह रहे हैं, लेकिन अपूर्ण ज्ञान (अज्ञान) के कारण दूसरों की आपेक्षिक सत्य बात को भी असत्य कहकर स्वयं असत्यवादी बन रहे हैं। जो आदमी हाथी को खंभे सरीखा बतलाता है, वह ठीक कहता है, क्योंकि हाथी के पैर खंभे सरीखे ही होते हैं। लेकिन जो भाई हाथी को (डगले की बाँह) मुद्गर सरीखा कहता है, वह भी झूठ नहीं कहता, क्योंकि हाथी की सूंड ऐसी होती है। इसी प्रकार दूसरों की कही बातों पर अगर विभिन्न दृष्टियों से विचार किया जाय तो सारा झगड़ा ही मिट जाय।

प्रत्येक मनुष्य के लिए, जो निष्पक्ष होकर सत्य का प्रकाश करना चाहता है, यही उचित है कि सब प्रश्नों पर यथोचित विचार करके न्याय करे। किसी एक ही पक्ष का दुराग्रह करना उचित नहीं है। वादी और प्रतिवादी की

बात सुनकर, निचोड़ निकाल कर निर्णय देना ही न्याय है। धर्म भी इसी बात का समर्थन करता है। धर्म का आदेश है कि दुराग्रह के वश होकर लड़ाई–झगड़ा करना और बुद्धि का दुश्मन बनना उचित नहीं है।

मतलब यह है कि एक पक्ष को पकड़कर दूसरे पक्ष का विरोध करना ही लड़ाई की जड़ है। इसीलिए ज्ञानी पुरुष किसी एक पक्ष को पकड़कर आग्रहशील नहीं होते और सब पक्षों पर यथायोग्य विचार करते हैं। वे हाथी के एक–एक अंग के आधार पर भिन्न–भिन्न रूप में हाथी बतलाने वाले सब लोगों को उस अंश में सत्य मानते हैं और इस आंशिक सत्य के समन्वय में सम्पूर्ण सत्य का स्वरूप देखते हैं।

धर्म से शान्ति मिलनी चाहिए, लेकिन लोगों ने उसका दुरुपयोग करके उसे अशान्ति फैलाने वाला बना दिया है। आज धर्म के नाम पर जो अशान्ति फैल रही है, वह अन्य कारणों से होने वाली अशान्ति से क्या कम है? हिन्दू और मुसलमानों को लीजिए, जैनों–जैनों को देखिए, ईसाई–ईसाई के व्यवहार पर दृष्टि डालिए, सर्वत्र खींचतान और अशान्ति का साम्राज्य दिखाई देगा। इस अशान्ति को देखकर बहुत से लोग धर्म से ही घृणा करने लगते हैं और कहते हैं संसार को धर्म की आवश्यकता नहीं। इस प्रकार का आन्दोलन भी प्रारंभिक रूप में आरंभ हो गया है। लेकिन यह विचारहीनता का परिणाम है। यह आन्दोलन कोरे मस्तिष्क की चंचलता है। हृदय की बात दूसरी है। हृदय का विकास होने पर लोग धर्म के लिए आग में जलने को तैयार हो जाएंगे, लेकिन धर्म न छोड़ेंगे। इस बात की सत्यता के प्रमाण यूरोप का इतिहास भी उपस्थित करता है। यूरोप में कई लोगों से कहा गया कि तुम अपनी मान्यता बदल लो, अन्यथा तुम्हें आग में जला दिया जायगा। लोग आग में जल गये मगर उन्होंने अपनी मान्यता बदलना स्वीकार न किया। सिर्फ मस्तिष्क के विचार वाला ऐसा नहीं कर सकता। मस्तिष्क कहता है–छोड़ो निगोड़े धर्म को, जल मरने में क्या रक्खा है? लेकिन हृदय धर्म के लिए जल मरने में संकोच नहीं करेगा।

इस प्रकार कई लोग धर्म को अशान्ति का कर्त्ता समझते हैं, लेकिन कइयों ने इसके लिए मरना भी स्वीकार किया है। वास्तव में धर्म बहिष्कार के योग्य चीज नहीं है। रही धर्म के नाम पर लड़ाई होने की बात, सो ऐसी लड़ाइयों में धर्म का नाम चाहे दिया जाय मगर लड़ाई का असली कारण लोगों में विद्यमान दुर्भावना ही है। लोग किसे आधार बनाकर नहीं लड़ते? राष्ट्रीयता को आधार बनाकर क्या कम खून–खच्चर होता है? फिर भी राष्ट्रीयता और

उसका राष्ट्र मिटाने की चीज नहीं है। धर्म वास्तव में शान्तिकर्त्ता है, अशान्तिकारक नहीं। धर्म ईश्वर या आत्मा का संदेश है। धर्म के बिना जीवन नहीं रह सकता और यदि रहेगा भी तो यहीं नरक के नजारे नजर आएंगे। धर्म के अभाव में सर्वत्र हाय–हाय मच जायगी। अगर माता में धर्मवुद्धि न हो तो वह बालक का पालन–पोषण क्यों करे? आज के लोग चाहे धर्म के प्रति कृतघ्न हो जावें, लेकिन बुद्धि से विचार करने पर उन्हें अवश्य मालूम हो जायगा कि हमारी जिन्दगी धर्म के प्रताप से ही है।

आज संसार में ऐसे उपाय चले हैं, जिनसे संतान उत्पन्न होना बंद हो जाता है। कई लोग सोचते हैं। संतान होने से माता को कष्ट उठाना पड़ता है और पिता पर उत्तरदायित्व आ जाता है, पति–पत्नी के भोग–विलास का सुख चला जाता है। इस प्रकार सन्तान सब तरह से सुखों में वाधक है। ऐसे दुर्विचारों से प्रेरित होकर बहुत से लोगों ने कृत्रिम उपायों से सन्तति–निरोध का आश्रय ग्रहण किया है।

ऐसे उपायों का आविष्कार हृदयहीन मस्तक की उपज है। मस्तक विचारता है कि हम भोग के लिए उत्पन्न हुए हैं। सन्तान हमारे भोग–विलास में बाधा पहुंचाती है, इसलिए इस बाधा को हटा देना ही अच्छा है। लेकिन सहृदय व्यक्ति ऐसा नहीं सोचेगा। वह विचार करेगा कि अगर हमें संतानोत्पत्ति रोकनी है तो भोगविलास का त्याग करके ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहिए। भोग–विलास का त्याग करना और सेवाधर्म, प्रेम, दया, सहानुभूति आदि सात्विक भावना सिखाने वाले सन्तान–प्रसव को कृत्रिम उपाय से रोकना अच्छा नहीं है। सन्तान–प्रसव किये बिना स्त्रियां माता पद नहीं पा सकती मरणान्तक कष्ट भोग करके भी सन्तान का पालन–पोषण करने के कारण ही माता का महिमामय पद उन्हें प्राप्त होता है। अतएव कृत्रिम उपायों से सन्तति–निरोध करना घोर पाप है।

आज संसार में यह बड़ी गड़बड़ी चल रही है कि आर्थिक हानि करने वाले को तो धिक्कार दिया जाता है, लेकिन विषयभोग से शक्ति एवं जीवन नष्ट करने वाले को उलाहना भी नहीं दिया जाता। बल्कि इसीके लिए पुरुष श्रृंगार करते हैं और पुरुषों को विषय की अग्नि में जलाने के लिए कुलटाएं जो श्रृंगार करती थी वह श्रृंगार कुलांगनाएं करने लगी हैं। वे शायद यही सोचती हैं कि हम सुन्दर सुन्दर वस्त्राभूषण पहनें और श्रृंगार सजाएं, जिससे पुरुष विषय की आग में कूद पड़ें। मां–बाप अपने लड़के को धन खोते देखकर तो उलाहना देते हैं, लेकिन अगर वह धन कमाऊ हो किन्तु विषयवासना की

आग में पड़कर अपना जीवन नष्ट करता हो तो उन्हें कोई चिन्ता नहीं। वे इस ओर ध्यान नहीं देते, बल्कि विषयभोग के साधन जुटा कर विषय–भोग सुलभ कर देते हैं। इस प्रकार धर्म का असली स्वरूप तो भूल गये, और धर्म के नाम से अधर्म का सेवन करके भोगविलास बढ़ाया और अब कहते हैं–धर्म और ईश्वर का बहिष्कार करो। धर्म भोगविलास बढ़ाने के लिए है या घटाने के लिए? मां ने आपकी रक्षा धर्म से की है या अधर्म से? अगर माता में धर्मभाव न होता, दया न होती तो वह आपको उसी प्रकार नष्ट कर देती जैसे नागिन अपने अंडे और कुत्ती अपने बच्चों को खा जाती है। अगर ऐसा होता तो आज आपका कहां पता चलता?

जिस दिन संसार से धर्म उठ जायगा, उसी दिन प्रलय मच जायगी, त्राहि–त्राहि की पुकार कानों को सुनाई देगी और संसार नरक बन जायगा। जिस दिन माता के दिल में दया–धर्म न होगा, उस दिन शिशुओं की क्या अवस्था होगी? इतिहास से प्रकट है कि बड़े–बड़े राजघरानों में अपनी कल्पित प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए, धन बचाने की कुत्सित कामना से या समान संबंधी न मिलने से, झूठे बड़प्पन के प्रलोभन से लड़कियों को जहर दे दिया जाता था। धर्म के अभाव में ऐसी घटनाएं क्या साधारण नहीं हो जाएगी, यह कौन कह सकता है ? मेरा विश्वास है कि आज लोग चाहे धर्म की महिमा भले ही न समझें, मगर जिस दिन धर्म न होगा, उस दिन सारा संसार उसी प्रकार तड़फड़ाएगा, जिस प्रकार भाड़ में पड़े हुए चने तड़फड़ाते हैं।

धर्म के विषय में यह कहकर कि मैं धर्म के नाम पर होने वाले झगड़ों और अत्याचारों का समर्थन नहीं करता, मैं शुद्ध धर्म की बात कहता हूं, धर्म के नाम पर होने वाला अन्याय और अत्याचार अवश्य निंद्य है; मगर ज्ञानियों ने ऐसे झगड़े मिटाने के लिए ही उपदेश दिया है। वे कहते हैं–हाथी का एक–एक अंग छूकर लड़ने वाले आंख खोलकर देख लें और आपस में विचार करें, एक दूसरे की बात की सचाई का अनुभव करें, तो झगड़ा खत्म हो जायगा। ज्ञानियों ने लड़ाई मिटाने का जो उपाय बताया है, वह अच्छा है या हाथी का पांव अथवा सूंड पकड़कर, एक–एक अंग को पूरा हाथी सिद्ध करने की चेष्टा में लड़ मरना अच्छा है?

अब यह प्रश्न होता है कि जैन धर्म एक ही वस्तु को एक रूप न कहकर अनेक रूप कहता है, सो यह कैसे ठीक हो सकता है? कभी हाथी को खंभे जैसा और कभी रस्सी जैसा कहना किस प्रकार उचित कहा जा सकता है? जिस वाद में वस्तु क्षण–क्षण में बदलती है, उसे अनेकान्तवाद न

कहकर भ्रमवाद या संशयवाद क्यों न कहा जाय ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अनेकान्तवाद वस्तु को जिस समग्रता से देखता है, उसी समग्रता से अगर आप भी देखें तो जैनधर्म को भ्रमवाद कहने का भ्रम नहीं रह जायगा। हाथी को चाहे रस्सी जैसा कहो, चाहे खंभे जैसा कहो, हाथी दोनों प्रकार के कथनों में आता है। हाथी एक है लेकिन धर्म उसमें अनेक हैं। अनेक धर्म होने के कारण उसकी अनेक पदार्थों से तुलना की जा सकती है। बल्कि ऐसा करने पर ही हाथी का पूरा स्वरूप समझा जा सकता है।

कल्पना कीजिए, एक मनुष्य मकान के दूसरे मंजिल पर बैठा है। अब आप उसके संबंध में एक ही निर्णय दीजिए कि वह ऊपर बैठा है या नीचे बैठा है? वह पूर्व में बैठा है अथवा पश्चिम बैठा है? जब आप उसे ऊपर बैठा कहेंगे तो आपको अपेक्षा लगानी पड़ेगी। पहले मंजिल वालों की अपेक्षा वह ऊपर है, इस प्रकार की अपेक्षा किये बिना आपके कथन का ठीक अर्थ नहीं घटेगा; क्योंकि तीसरे मंजिल वालों की अपेक्षा वह नीचे बैठा है। अगर बिना अपेक्षा के ही आपने कह दिया तो तीसरे मंजिल वाले कहेंगे—आप असत्य कहते हैं; वह हमसे नीचे बैठा है। इस प्रकार विभिन्न अपेक्षाओं का आश्रय लेकर ही आप उक्त प्रश्न का सही उत्तर दे सकते हैं। यही बात दिशाओं संबंधी प्रश्न में है। किसी अपेक्षा से उसे पूर्व में मानना होगा, किसी अपेक्षा से पश्चिम, उत्तर या दक्षिण में। वह पूर्व वालों से पश्चिम में और पश्चिम वालों की अपेक्षा पूर्व में कहलायगा।

एक उदाहरण और लीजिए। एक ही किसी व्यक्ति को पिता कहें, पुत्र कहें या मामा कहें? इस प्रश्न का उत्तर देने में आपको अपेक्षा का आश्रय लेना ही पड़ेगा। अगर आप बिना अपेक्षा के एक आदमी को पिता कहेंगे तो वह अपने पिता का भी पिता कहा जायगा। पुत्र कहेंगे तो अपने पुत्र का भी पुत्र कहलायेगा। हां, अगर आप एकान्तवाद के फेर में न पड़कर अपेक्षा का ख्याल करें तो सही उत्तर मिल जायेगा। वह व्यक्ति अपने पिता की अपेक्षा पुत्र है, अपने पुत्र की अपेक्षा पिता है, अपने मामा की अपेक्षा भानजा है और भानजा की अपेक्षा मामा है। इस पर भी अगर आप कहें कि एक ही आदमी को पिता, पुत्र आदि कहना कैसे उचित कहा जा सकता है, तो लाचारी है। वस्तु का स्वरूप जैसा है, उसे वैसा ही समझना चाहिए। अनुभव, व्यवहार और तर्क जिसका एकमत से समर्थन करते हैं, उसे स्वीकार न करना विवेकशीलता का लक्षण नहीं है।

आपसी झगड़े किस प्रकार मिट जाते हैं, इसके लिए एक उदाहरण लीजिए।

एक आदमी ऊंट पर चढ़कर जंगल में जा रहा था। जाते–जाते उसने देखा–ऊंटों का एक टोला सामने खड़ा है और तीन आदमी आपस में लड़–झगड़ रहे हैं। तीनों कहते हैं–मैं अपना हक नहीं छोड़ सकता, मैं अपना हक नहीं छोड़ सकता। आपस में बातें होते–होते मारामारी की नौबत आ पहुंची। यह ऊंट वाला समझदार था, इसलिए दूसरे के झगड़े को अपना झगड़ा और दूसरों की शान्ति को अपनी शान्ति समझता था। जब वह उनके पास पहुंचा तो उसने अपना ऊंट खड़ा किया और लड़ने वालों से पूछा–'भाइयों! आप लोग क्यों लड़ रहे हैं?'

उत्तर मिला–'तुम अपना रास्ता नापो। तुम्हें किसने पंच बनाया है ? हम भाई–भाई आपस में समझ लेंगे।'

ऊंट वाला–तुम्हारा कहना ठीक है। लड़ाई प्रायः संबंधी में ही होती है। लेकिन मैं भी तो तुम्हारा संबंधी हूं।

उन्होंने कहा–'अरे जाओ जी, रास्ते चलते संबंधी बनने आए हो !'

ऊंट वाला–मैं तुम्हारी तरफ से चाहे संबंधी न होऊं, लेकिन मैं अपनी तरफ से तो संबंधी ही हूं। अगर अपना झगड़ा मुझे बता दो तो हानि क्या है?

आखिर लड़ने वालों पर उसकी बात का प्रभाव पड़ा। उनमें से एक ने कहा–हम तीनों भाई–भाई हैं। यह सत्तरह ऊंट हमारे हैं। हम में हक का झगड़ा हो रहा है। इन ऊंटों में एक के आधे हैं, एक के चौथाई हैं और एक के आठवें हिस्से के हैं। कुल ऊंट सत्तरह हैं। आधे के हकदार के हिस्से में साढ़े आठ होते हैं, चौथाई वाले के हिस्से में सवा चार और आठवें हिस्से के हकदार के हिस्से में दो से कुछ अधिक आते हैं। अपने हक में से कोई आधा या चौथाई ऊंट छोड़ने को तैयार नहीं है और ऊंट काटा नहीं जा सकता। अब झगड़ा मिटे तो कैसे?

ऊंट वाले ने इन तीनों भाइयों से कहा–मैं भी तो आपका ही हूं। आप अपने सत्तरह ऊंटों में एक मेरा ऊंट मिला लो और अपना–अपना हिस्सा ले लो। आपका हिस्सा होने पर अगर मेरा ऊंट बचा तो ठीक, न बचा तो भी कोई बात नही।

ऊंट वाले की बात सुनकर तीनों भाई बड़े प्रसन्न हुए। मन में सोचने लगे–ऊंट देकर संबंध जोड़ने वाला यह खूब मिला! उन्होंने उसका स्वागत करते हुए कहा–अच्छा, आप ही हमारा झगड़ा निबटाइए।

मुसाफिर ने आधे के हकदार को बुलाकर कहा– 'तुम साढ़े आठ ऊंट चाहते हो, उनके बदले अगर नौ ऊंट दिये जाएं तो कुछ आपत्ति तो नहीं होगी!' उसने उत्तर दिया–'नेकी पूछ–पूछ! भला इसमें आपत्ति ही क्या है ? मैं आपके गुण गाऊंगा।' मुसाफिर ने उसे नौ ऊंट दे दिये।

तदनन्तर उसने चौथाई के हकदार को बुलाया और कहा 'तुम सवाचार ऊंट चाहते हो, लेकिन पांच ऊंट ले लो।' वह भी प्रसन्न हुआ।

सब के पीछे आठवें हिस्से का हकदार आया। वह दो से कुछ अधिक ऊंट चाहता था, मगर उसे तीन ऊंट दिये गये। उसकी प्रसन्नता का पार न रहा।

इस प्रकार उस मुसाफिर ने उन्हीं लोगों के सत्तरह ऊंट उन्हीं लोगों में बांटकर उन्हें प्रसन्न कर दिया। उनकी लड़ाई मिट गई और वह अपने ऊंट पर बैठ कर चला गया।

यह हृदय का न्याय है। यदि यह न्याय आप को पसंद आया हो तो आप भी सब भाइयों के ईश्वर की ओर से संबंधी हैं। यदि आप अपने इस संबंध को दृढ़ बनाना चाहते हैं तो सबको ईश्वर की सन्तान मानकर मुसाफिर की तरह अपना ऊंट घुसेड़कर उनका झगड़ा मिटाओ। ऐसा करने से आप ईश्वर के बन जाएंगे।

खयाल आता है मुझे, दिलजान तेरी बात का।
खबर तुझको है नहीं, आगे अंधेरी रात का।।
जोबन तो कल ढल जायगा, दरियाव है बरसात का।
बोर कोई न खाएगा, उस रोज तेरे हाथ का।।
तू तो निकल कल जाएगा, रह जायगी मिट्टी पड़ी।
नित हरी रहती नहीं, नादान! फूलों की छड़ी।।

जो ईश्वर का होगा, जिसे ईश्वर या धर्म का बनने का विचार होगा, उसे अपने आपको भूलकर दूसरे पर ध्यान देना होगा। जैसे अच्छे भाई अपना आपा भूलकर अपने भाई की भलाई का ख्याल करता है, उसी प्रकार संसार की भलाई पर ध्यान देना होगा।

कदाचित् कोई यह कहे कि संसार की भलाई–बुराई से आपको क्या प्रयोजन है? आप अपनी चिन्ता कीजिए, संसार की चिन्ता क्यों करते हैं? इसका संक्षिप्त समाधान यह है कि संतों का हृदय संसार के जीवों की हलचल देखकर दया से कांपता रहता है। वे विचारते हैं कि ये प्राणी क्या करने आये

थे और क्या कर रहे हैं? यह अपना हित क्यों नहीं सोचते? अन्त में इन्हें परलोक जाना ही पड़ेगा, तब कौन इनका सहायक होगा?

ज्ञानियों को संसार के प्राणियों के प्रति इस प्रकार की चिन्ता रहती है। लोग ताश और शतरंज में अपना समय व्यतीत करते हैं, मगर हित की बात नहीं विचारते। अगर कोई बतलाना भी चाहता है, तो उन्हें सुनने का अवकाश नहीं है। इसी कारण संत पुरुष ऐसा सोचते हैं और आपको भी ऐसा ही सोचना चाहिए।

मैं यह नहीं कहता कि मेरे पास व्याख्यान सुनने के लिए न आने वाले लोग धार्मिक नहीं हैं। जो निरोग हैं वह दवा क्यों लें? अच्छा वैद्य तो यही चाहता है कि रोगी का रोग जल्दी दूर हो जाय और इसका अस्पताल में आना बंद हो जाय। उस समय उसे भी चिन्ता हो जाती है जब रोग सार्वत्रिक रूप से फैल जाता है और उसके पास भीड़ जमा रहती है। यही बात हमारी है। अगर आपको भी संसार के मनुष्यों की ऐसी ही चिन्ता है तो आप ऊंट वाले के समान लोगों के संबंधी बन जाइए और उसका झगड़ा मिटाने की चेष्टा कीजिए। संसार में एक से एक बढ़कर दुःखी पड़े हैं। विधवाओं और अनाथों की जिंदगी किस प्रकार खराब हो रही है, खाने को न मिलने से किस प्रकार उनका पतन हो रहा है, यह कौन देखता है? अगर कोई सहृदयी, सच्ची सेवाभावना से प्रेरित होकर इनका उद्धार और सुधार करने के लिए खड़ा हो जाय और उनकी दशा सुधारने में ही अपनी जिन्दगी का सुधार माने तो सचमुच ही उनकी भी जिंदगी सुधर जाय।

आज संसार के लोगों ने यह मान रखा है कि ईश्वरभक्त द्वारा भी अगर अन्यायी की गरदन उड़ा दी जाय तो पाप नहीं है। राजनीति भी इसका समर्थन करती है। मगर यह सच्चाई नहीं है। तलवार के जोर से थोड़ी देर के लिए अन्याय दब सकता है, लेकिन उसकी प्रतिक्रिया बड़ी भयानक होगी। हिंसक उपाय से एक जगह अन्याय दबाया जायगा तो वह दूसरी अनेकों जगहों पर उत्पन्न हो जायगा। देवी भागवत में शुम्भ और निशुम्भ की कथा आई है। कहा गया है कि देवी ने दोनों का वध किया था। देवी एक जगह इन्हें काटती थी तो इनके एक रक्तबिन्दु से हजारों शुम्भ और निशुम्भ उत्पन्न हो जाते थे। मेरे खयाल से यह आलंकारिक वर्णन है। इसके आधार पर हिंसा मानना भूल है। साक्षात् देवी अहिंसा है। अगर हिंसा द्वारा शान्ति चाही जायगी तो अन्त में घोर अशान्ति ही पल्ले पड़ेगी। इसके विपरीत अगर अहिंसा की तलवार को लेकर राग-द्वेष का वध करोगे तो बैर का जहर मिट जायगा। यह

दूसरी बात है कि आप अहिंसा का पूर्णरूप से आचरण न कर सकें, लेकिन यह तो मानना ही पड़ेगा कि 'अहिंसा स्वयमेव एक अमोघ शक्ति है।' आज अकेला भारत ही अहिंसा की शक्ति नहीं मानता, वरन् सारा एशिया और यूरोप भी अहिंसा की महिमा से गूंज रहा है।

अहिंसा कायरों की शान्ति नहीं है। कायरों ने तो अहिंसा को कलंकित किया है। जबसे अहिंसा कायरों की गोद गई है, तभी से गिर गई है। आज आपमें पूर्वजों के प्रताप से अहिंसा के जो संस्कार हैं, उनके कारण कोई लाख रुपयों का प्रलोभन दे तो भी आप बकरा मारने को तैयार न होंगे। लेकिन दूसरी ओर अपनी कायरता और भीरुता के कारण ऐसे-ऐसे काम कर डालते हैं कि जिनका परम्परा-परिणाम मनुष्यवध तक हो जाता है, फिर भी इसकी चिन्ता नहीं की जाती। बकरे की ओर ही देखा और दूसरी ओर भीरुता के कारण ध्यान न दिया तो यह अहिंसा को दूषित करना होगा। अहिंसा का भक्त न स्वयं डरेगा और न दूसरे को डराएगा। अगर आपने अहिंसा की प्रतिष्ठा न बढ़ाई तो संसार नरक बन जायगा। जैसे नरक में कोई समय ऐसा आता है जब सभी नारकी क्रोधी ही क्रोधी हो जाते हैं, इसी प्रकार इस लोक में भी ऐसा समय आ सकता है कि सभी मनुष्य हिंसक ही हिंसक हो जाएं!

यह पहले कहा जा चुका है कि क्रोध बहुत होने का अर्थ यह नहीं है कि नारकियों में मान, माया और लोभ नहीं होता। मान, माया और लोभ भी उनमें होते हैं, परन्तु उन जीवों का उपयोग जब क्रोध में रहता है, तब मान आदि में नहीं रहता। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए, किसी सेठ की चार दुकान हैं-एक बजाजी की है, सराफी की है, तीसरी गल्ले की है और चौथी पंसारी की है। दुकान चार हैं और दुकानदार एक है। वह दुकानदार सराफी की दुकान पर बैठ कर व्यापार करता है, तब उसकी शेष तीन दुकानें बंद नहीं हैं? लेकिन वह व्यापार एक ही दुकान पर कर रहा है! इसी प्रकार नरक के जीवों में क्रोध आदि चारों कषाय मौजूद है। जब वे क्रोधी होते हैं तब भी उनमें मान, माया और लोभ विद्यमान रहते हैं किन्तु उस समय वे क्रोध का ही व्यापार करते हैं। इसलिए उन्हें क्रोधी ही क्रोधी कहा है।

नरक में क्रोध बहुत होता है। अगर आप लोगों ने नरक नहीं देखा है तो घर या घट तो देखा है? क्रोध की अधिकता से घर या घट भी नरक के समान हो जाता है, यह तो आप देखते ही हैं। इसलिए ज्ञानियों ने कहा है कि जहां क्रोध बहुत है, वहीं नरक है।

भगवान् कहते हैं – गौतम! यह एक भंग की बात हुई। इसी प्रकार सत्ताईस भंग हैं। कोई समय ऐसा होता है कि नरक के सभी जीव क्रोधी ही क्रोधी होते हैं, तो कभी ऐसा भी समय होता है जब क्रोधी भी बहुत होते हैं और मानी भी बहुत होते हैं, कभी क्रोधी बहुत और मानी एक ही होता है। इसी प्रकार क्रोध और मान, क्रोध और माया तथा क्रोध और लोभ के भंग हैं। यह दो–संयोगी भंग हुए। इन दो–संयोगी भंगों की संख्या छः है और एक अकेले क्रोध का भंग मिलाने से सात भंग होते हैं दो संयोगी भंगो के समान तीन–संयोगी भंग भी हैं। जैसे–क्रोधी बहुत, मानी बहुत, मायी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, और मायी बहुत। क्रोधी बहुत, मानी बहुत, मायी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, लोभी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, लोभी बहुत। इस प्रकार तीन–संयोगी भंग बारह हैं। तत्पश्चात् चार–संयोगी भंग आते हैं। जैसे–क्रोधी बहुत, मानी एक, मायी एक और लोभी एक। क्रोधी बहुत, मानी एक, मायी एक और लोभी बहुत। इस प्रकार के भंग आठ हैं। ये सब मिलकर सत्ताईस भंग होते हैं।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि–भगवन्! दस हजार वर्ष से एक समय अधिक स्थिति वाले का स्थिति–स्थान अलग है। ऐसी अवस्था में उन जीवों के यही भंग होंगे या कम–ज्यादा?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम ! जघन्य स्थिति से एक समय अधिक स्थिति वाले जीव के विषय में सत्ताईस भंगों के बदले अस्सी भंग होते हैं। जघन्य स्थिति वाले जीव का कभी विरह नहीं होता–अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि कोई न कोई जीव जघन्य स्थिति वाला नरक में न हो। परन्तु एक समय से लेकर संख्यात समय अधिक तक की स्थिति वाले जीवों का कदाचित् विरह भी हो जाता है। किसी समय ऐसा एक ही जीव पाया जाता है और कभी असंख्य पाये जाते हैं। कभी जीव क्रोधी भी हो सकते हैं, मानी भी हो सकते हैं, मायी भी हो सकते हैं और लोभी भी हो सकते हैं। यह चार भंग हुए। इसी प्रकार क्रोधी बहुत, मानी बहुत, मायी बहुत और लोभी बहुत यह चार भंग हैं। इसी तरह क्रोधी और मानी, क्रोधी और मायी, क्रोधी और लोभी, मानी और मायी, मानी और लोभी, तथा मायी और लोभी, इन दो संयोगी के प्रत्येक के चार–चार भंग के हिसाब से चौबीस भंग हुए। इसी प्रकार जीव संयोगी के बत्तीस और चार संयोगी के सोलह भंग हैं। वे सब मिलकर अस्सी भंग हुए। मतलब यह है कि जघन्य स्थिति से एक समय अधिक स्थिति वाले जीवों का कभी–कभी विरह भी हो जाता है, इसलिए

इनके अस्सी भंग होते हैं। आगे जघन्य स्थिति से असंख्यात समय अधिक स्थिति वाले जीवों से लेकर उत्कृष्ट स्थिति वाले जीवों का कभी विरह नहीं होता। अतएव उनमें जघन्य स्थिति वालों के समान सत्ताईस भंग ही होते हैं।

यहां एक प्रश्न यह उपस्थित हो सकता है कि विरह काल का समय कौन–सा लिया जाय ? अगर उत्पाद का विरहकाल चौबीस मुहूर्त्त लिया जाय तो सूत्र का संबंध विच्छिन्न हो जाता है और जहां सत्ताईस भंग माने गये हैं वहां अस्सी भंग मानने पड़ेंगे। अतएव उत्पाद का विरहकाल न लेकर क्रोधोपयुक्त नारकी जीवों की सत्ता की अपेक्षा से ही विरहकाल लेना चाहिए।

अवगाहना स्थान

मूलपाठ

प्रश्न–इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावास सयसहस्सेसु एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं केवइया ओगाहणा ठाणा पण्णता?

उत्तर–गोयमा! असंखेज्जा ओगाहणा ठाणा पण्णता। तंजहा–जहण्णिया ओगाहणा, पदेसाहिया, जहण्णिया ओगाहणा, दुप्पएसहिया जहण्णिया ओगाहणा, जाव असंखेज्ज पएसाहिया जहण्णिया ओगाहणा। तप्पाउग्गुक्कोसिया ओगाहणा।

प्रश्न–इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए तीसाए निरयावास सयसहस्सेसु एगमेगंसि णिरयावासंसि जहण्णियाए ओगाहणाए वट्टमाणा णेरइया किं कोहोवउत्ता?

उत्तर–गोयमा! असीइभंगा भाणियव्वा, जाव–संखिज्ज पएसाहिया, जहण्णिया ओगाहणा, असंखेज्ज– पएसाहियाए जहण्णियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं, तप्पाउग्गुक्कोसियाए ओगाहणाए वट्टमाणाणं नेरइयाणं दोसु वि सत्तावीसं भंगा।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–एतस्या भगवन्! रत्नप्रभायाः पृथिव्यास्त्रिंशति निरयावास शतहस्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कियन्ति अवगाहना स्थानानि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर–गौतम! असंख्यानि अवगाहना स्थानानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–जघन्या अवगाहना, प्रदेशाधिका जघन्याऽवगाहना, यावत् असंख्येयप्रदेशाधिका जघन्याऽवगाहना, तत्प्रायोग्योत्कर्षिकाऽवगाहना।

प्रश्न—एतस्या भगवन्! रत्नप्रमायाः पृथिव्यास्त्रिंशति निरयावास शत् सहस्त्रेषु एकैकस्मिन् निरयावासे जघन्याऽवगाहनया वर्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः?

उत्तर—गोयमा! अशीति भङ्गा भणितव्याः, यावत् संख्यात् प्रदेशाधिका जघन्याऽवगाहना। असंख्येय प्रदेशाधिक्या जघन्याऽवगाहनया वर्त्तमानानाम्, तत्प्रायोग्योत्कर्षिकाऽवगाहनया वर्त्तमानानाम् नैरयिकाणाम् द्वयोरपि सप्तविंशतिः भंङ्ग।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में, तीस लाख नारकवासों में के एक—एक नारकवास में बसने वाले नारकियों के अवगाहनास्थान कितने कहे गये हैं?

उत्तर—हे गौतम! उनके अवगाहनास्थान असंख्येय कहे हैं। वे इस प्रकार हैं—जघन्य अवगाहना (अंगुल के असंख्यातवें भाग), एक प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना, दो प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना, यावत् असंख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना तथा उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना।

प्रश्न—भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नारकावासों में के प्रत्येक नारकावास में, जघन्य अवगाहना में वर्तने वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर—हे गौतम! अस्सी भंग कहने चाहिए। यावत्संख्यात् प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना वालों के भी अस्सी भंग समझना। असंख्यात प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना में वर्तने वाले और उसके योग्य उत्कृष्ट अवगाहना में वर्तने वाले नारकियों के—दोनों के सत्ताईस भंग कहने चाहिएं।

व्याख्यान

यहां अवगाहना संबंधी विचार किया गया है। स्थिति की अपेक्षा अवगाहना विचार सूक्ष्म है। एक उंगली रखने में भी आकाश के असंख्य प्रदेश रुकते हैं। आंख मींचकर खोलने में भी असंख्य समय निकल जाते हैं।

श्री गौतम स्वामी भगवान से पूछते हैं—प्रभो! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारक वासों में से एक—एक नारकावास में बसने वाले नारकी जीवों के अवगाहना स्थान कितने हैं?

जैसे स्थिति के स्थान हैं, उसी प्रकार अवगाहना के भी स्थान हैं। जिसमें जीव रहे तो अवगाहना कहते हैं—अर्थात् शरीर या आकाश—प्रदेश। गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि एक—एक नारकावास में बसने वाले

नारकियों के शरीर स्थान कितने हैं? अर्थात् उन नारकियों के शरीर कितने आकाश–प्रदेशों में रहते हैं?

इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! एक–एक नारकावास में बसने वाले जीवों के अवगाहना स्थान असंख्य–असंख्य हैं। कम से कम उनकी अवगाहना शरीर–अंगुल के असंख्यातवें भाग बराबर होता है। इस जघन्य अवगाहना से एक प्रदेश अधिक, दो प्रदेश अधिक, इस प्रकार असंख्यात प्रदेश अधिक तक के शरीर वाले होते हैं। अतः अवगाहना स्थान असंख्यात हैं।

जिसमें जीव ठहरता है, वह अवगाहना है अर्थात् जीव की लम्बाई–चौड़ाई अवगाहना कहलाती है। यह शरीर अवगाहना है। जिस क्षेत्र में जीव रहते हैं उसे भी अवगाहना कहते हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! जघन्य अवगाहना वाले नारकी क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं?

भगवान उत्तर देते हैं–हे गौतम! स्थिति के समान यहां भी अस्सी भंग जानने चाहिएं। जघन्य अवगाहना से असंख्य प्रदेश अधिक तथा उत्कृष्ट अवगाहना वालों के सत्ताईस भंग होते हैं।

यहां यह आशंका होती है कि जघन्य स्थिति में सत्ताईस भंग कहे हैं, फिर यहां जघन्य अवगाहना में अस्सी भंग कहने का क्या कारण है? इस शंका का समाधान यह है कि जघन्य स्थिति वाले नरक के जीव, जब तक जघन्य अवगाहना वाले रहते हैं, तब उनकी अवगाहना के अस्सी भंग ही होते हैं, क्योंकि जघन्य अवगाहना वाले जीव कम होते हैं। जघन्य अवगाहना वाले जिन नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, वे जघन्य अवगाहना को उल्लंघन कर चुके होते हैं। उनकी अवगाहना जघन्य नहीं होती इसलिए सत्ताईस ही भंग कहे गये हैं।

जघन्य अवगाहना से संख्यात प्रदेश की अधिक अवगाहना वाले जीव नरक में कम मिलते हैं, इसलिए अस्सी भंग कहे हैं और जघन्य अवगाहना से असंख्यात प्रदेश अधिक की अवगाहना वाले तथा उत्कृष्ट अवगाहना वाले जीव नरक में अधिक पाये जाते हैं, इसलिए उनके सत्ताईस भंग कहे हैं।

शरीर

मूलपाठ

प्रश्न–इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए जाव एगमेगंसि निरयावासंसि नेरइयाणं कइ सरीरया पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! तिण्णि सरीरया पण्णत्ता। तं जहा–वेउव्विए, तेयए, कम्मए।

प्रश्न–इमीसे णं भंते! जाव–वेउव्वियसरीरे वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता?

उत्तर–गोयमा! सत्तावीसं भंगा भाणियव्वा। एएणं गमेणं तिण्णि सरीरा भाणियव्वा।

प्रश्न–इमीसे णं भंते! रयणप्पमा पुढविए जाव नेरइयाणं सरीरया किं संघयणी पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! छण्हं संघयणाणं अस्संघयणी, नेवट्ठी, नेव च्छिरा, नेवण्हारूणि। जे पोग्गला अणिट्ठा, अकंता, अप्पिया, असुहा अमणुन्ना, अमणाम, एतेसिं सरीरसंघायत्ताए परिणमंति।

प्रश्न–इमीसे णं भंते! जाव–छण्हं संघयणाणं असंघयणे वट्टमाणा णं नेरइया किं कोहोवउत्ता?

उत्तर–गोयमा! सत्तावीसं भंगा।

प्रश्न–इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए जावसरीरया किं संठिया पन्नत्ता?

उत्तर–गोयमा! दुविहा पन्नता। तं जहा भवधारणिज्जा य उत्तर वेउव्विया य। तत्थ णं जे ते भवधारणिज्जा ते हुंड संठिया पन्नत्ता, तत्थ णं जे ते उत्तर वेउव्विया ते वि हुंड संठिया पन्नत्ता।

प्रश्न–इमीसे णं जाव–हुंडसंठाणे वट्टमाणा नेरइया किं कोहोवउत्ता?

उत्तर—गोयमा! सत्तावीसं भंगा।

संस्कृत—छाया —

प्रश्न—एतस्या भगवन्! रत्नप्रभाया यावत् एकैकस्मिन् निरयावासे नैरयिकाणां कति शरीराणि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर—गौतम! त्रीणि शरीराणि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा वैक्रियम्, तैजसम्, कार्मणम्।

प्रश्न—एतस्या भगवन्! यावत्—वैक्रियणशरीरे वर्त्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः?

उत्तर—गौतम! सप्तविंशतिर्भङ्गा भणितव्याः। एतेन गमेन त्रीणि शरीराणि भणितव्यानि।

प्रश्न—एतस्या भगवन्! रत्नप्रभापृथिव्या यावत् नैरयिकाणां शरीराणि संहननानि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर—गौतम! षण्णां संहननानाम् असंहननानि; नैवास्थि, नैव शिराः, नैव स्नायवः, ये पुद्गला अनिष्टाः, अकान्ताः, अप्रियाः, अशुभाः, अमनोज्ञाः, अमनोमाः, एतेषां शरीरसंघाततया परिणमन्ति।

प्रश्न—एतस्या भगवन्! यावत्—षण्णां संहननानां असंहनने वर्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः?

उत्तर—गौतम! सप्तविंशतिर्भङ्गा :।

प्रश्न—एतस्या भगवान्! रत्नप्रभाया यावत् शरीराणि किं संस्थितिनि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर—गौतम! द्विविधानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा भव— धारणीयानि च, उत्तरवैक्रियाणि च। तत्र यानि भवधारणीयानि तानि हुण्डसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि, तत्र यानि उत्तरवैक्रियाणि तान्यपि हुण्डसंस्थितानि प्रज्ञप्तानि।

प्रश्न—एतस्या! यावत् हुण्डसंस्थाने वर्तमाना नैरयिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः?

उत्तर—गौतम! सप्तविंशतिर्भङ्गाः।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में तीस लाख नारकावासों में के एक—एक नारकावास में बसने वाले नारकी जीवों के शरीर कितने हैं?

उत्तर—हे गौतम! उनके तीन शरीर कहे हैं, वे इस प्रकार—वैक्रिय, तैजस और कार्मण।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथिवी में तीस लाख नारकावासों में के प्रत्येक नारकावास में बसने वाले वैक्रिय शरीर वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर–गौतम! सत्ताईस भंग कहने चाहिए। और इसी प्रकार शेष दोनों शरीरों अर्थात् सब तीनों शरीरों के संवंध में यही बात कहनी चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में यावत् बसने वाले नैरयिकों के शरीरों का कौन सा संहनन है?

उत्तर–गौतम! उनका शरीर संहनन–हीन है–उनमें संहनन नहीं होता। और उनके शरीर में हड्डी, शिरा (नस) और स्नायु नहीं होती। जो पुद्गल अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमनोय हैं, वे पुद्गल (नारकियों के) शरीर संधान रूप में परिणत होते हैं।

प्रश्न–भगवान्! इस रत्नप्रभा पृथिवी में यावत् बसने वाले और छह संहननों में से एक भी संहनन जिनके नहीं है, वह नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर–सत्ताईस भंग जानने चाहिएं।

प्रश्न–भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी में यावत् बसने वाले नैरयिकों के शरीर किस संस्थान वाले हैं?

उत्तर–गौतम! उन नारकियों का शरीर दो प्रकार का कहा है, वह इस प्रकार–भवधारणीय–जीवन पर्यन्त रहने वाला–और उत्तर वैक्रिय। उनमें जो शरीर भवधारणीय हैं, वे हुंड संस्थान वाले कहे हैं और जो शरीर उत्तर वैक्रिय रूप हैं, वे भी हुंडसंस्थान वाले कहे हैं?

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में यावत् हुंड संस्थान में वर्तमान नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर–गौतम! यहां सत्ताईस भंग कहने चाहिए।

व्याख्यान

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी के एक–एक नारकावास में बसने वाले नारकियों के कितने कितने शरीर हैं ?

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम ! उनके तीन शरीर हैं–वैक्रियक, तेजस और कार्मण।

जिसमें आत्मा व्याप्त होकर रहता है, अथवा क्षणक्षण जिसका नाश होता रहता है, उसे शरीर कहते हैं।

यद्यपि हम लोगों को यह मालूम नहीं होता कि शरीर क्षण–क्षण में नष्ट हो रहा है, लेकिन वास्तव में शरीर का नाश प्रतिक्षण होता है। किसी नदी

की निरन्तर प्रवाहित होने वाली धारा पर ध्यान दीजिए तो जान पड़ेगा कि यह वही जल है, जिसे हमने पहले देखा था। पर वास्तव में वह जल तो उसी समय चला गया और अब न जाने कहां पहुंचा होगा। उसके स्थान पर उसी के समान प्रतीत होने वाला दूसरा जल आ गया है। बिना क्रम टूटे, दूसरा जल आ जाने से पहले वाले जल का जाना मालूम नहीं होता। फिर भी यह निस्संदेह कहा जा सकता है कि पहले वाला जल चला गया और उसके स्थान पर नया जल आ गया है। इसी प्रकार शरीर प्रतिक्षण नष्ट होता जाता है, परन्तु आयु के पूर्ण न होने से उसका नाश नहीं जान पड़ता है, आजकल वैज्ञानिक भी यह मानते हैं कि बारह वर्ष के बाद शरीर के सब परमाणु बदल जाते हैं; मगर सारे परमाणु किसी एक नियत समय में नहीं बदलते, वरन् क्षण–क्षण बदलते रहते हैं। इसी कारण उनका बदलना स्थूल दृष्टि से मालूम नहीं होता।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि मृत्यु हो जाने पर आत्मा जब शरीर रहित हो जाता है, उसके साथ देह नहीं रहती, तो फिर वह दूसरे शरीर में किसलिए प्रवेश करता है? अगर एक बार देह का संबंध छूट जाने पर भी, दुबारा देह धारण करना आवश्यक है तो फिर मोक्ष कैसे होगा? क्योंकि मोक्ष में जाने के पश्चात् फिर देह धारण करनी पड़ेगी? जहां जाने पर फिर कभी देह न धारण करनी पड़े, वही मोक्ष कहलाता है। तब फिर देह छोड़कर जाने वाला आत्मा फिर क्यों जन्मता है? अगर वह जन्मता है तो मुक्तात्मा क्यों नहीं जन्मते?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि शरीर दो प्रकार के हैं–स्थूल और सूक्ष्म। स्थूल शरीर के तीन भेद हैं–औदारिक, वैक्रिय, और आहारक। सूक्ष्म शरीर दो प्रकार के हैं–तैजस और कार्मण। सांसारिक जीवों का स्थूल शरीर छूटता है, सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता और मुक्त होने वाले महात्माओं का सूक्ष्म शरीर भी छूट जाता है। जिन महात्माओं का सूक्ष्म शरीर नहीं छूटता, उनमें स्थूल शरीर धारण करने के संस्कार का आत्यन्तिक विनाश कर देते हैं। यही कारण है कि संसारी मृतात्मा को पुनः शरीर धारण करना पड़ता है, मगर मुक्तात्मा को नहीं धारण करना पड़ता!

बड़ का फल जब तक तोड़ा नहीं जाता, तब तक दिखाई देता है। अगर उसे तोड़ा जाय तो उसमें हजारों बारीक–बारीक बीज नजर आते हैं। उन बीजों में से किसी भी बीज को देखिए, उसमें बड़ वृक्ष, डाली, फल, पत्ता आदि कुछ भी दिखाई न देगा।

एक शिष्य ने अपने ज्ञानी गुरु से पूछा—शरीर धारण करने का संस्कार क्या है? गुरु ने बड़ का बीज दिखा कर कहा—देखो, इस बीज में वृक्ष वगैरह कुछ दिखाई देता है? चेले ने कहा—इसमें तो कुछ भी नहीं दिखाई देता। गुरु ने बीज को फोड़ कर बतलाया—क्या अब भी कुछ दिखाई देता है? चेले ने फिर वही उत्तर दिया—नहीं, इसमें तो कुछ भी नहीं दीखता। तब गुरुजी बोले—यद्यपि इस बीज में वृक्ष, डाली, पत्ता आदि कुछ नहीं दिखाई देता, लेकिन इस बीज का मिट्टी और पानी से जब संयोग होता है, तब इसी छोटे—से बीज से बरगद का विशाल वृक्ष उत्पन्न हो जाता है। यह कौन नहीं जानता? यानि इस बीज में वृक्ष दीखता नहीं है, फिर भी उत्पन्न होता है वृक्ष, बीज से ही। इसलिए बुद्धि से काम कुछ लो और प्रत्यक्ष देखकर परोक्ष को भी मानो। अगर बीज में वृक्ष, डाली, पत्ते आदि शक्ति रूप में विद्यमान न हो तो वह उत्पन्न कैसे होते। जब आंखो से देखने गये तब तो वृक्ष आदि कुछ दिखाई न दिया, लेकिन ज्ञान से देखा तो दिखाई दिये। यह बीज, जो तुम्हें नाचीज मालूम होता है, यह सभी कुछ है ! इसी प्रकार शरीर धारण करने के संस्कार आंखों से दिखाई नहीं देते लेकिन ज्ञान से देखने पर अवश्य प्रतीत होते हैं।

बरगद के छोटे—से बीज में वृक्ष का सारा सत्व खिंच आता है। उसके भीतर वृक्ष का मानों पूरा चित्र मौजूद है। जैसे सिनेमा वाले बड़ी से बड़ी चीज का छोटे से छोटा फोटो लेकर प्रकाश से फिर वैसी ही बड़ी चीज दिखलाते हैं, यही बात कर्मशास्त्र की भी समझिए। जैसे एक बड़े शहर का चित्र दाल के दाने बराबर छोटा हो सकता है, यही हाल कर्मों का भी है।

गौतम स्वामी ने प्रश्न किया कि—नरक के जीवों के कितने शरीर होते हैं? इसके उत्तर में भगवान् फरमाते हैं—हे गौतम! नारकी जीवों के तीन शरीर होते हैं— एक स्थूल और दो सूक्ष्म। उनका स्थूल शरीर वैक्रियक है और सूक्ष्म शरीर तैजस तथा कार्मण है, जो कि समानरूप से सभी संसारी जीवों के होते हैं।

कार्मण शरीर कर्मों का खजाना है। वह अन्तः शरीर है। प्राणी जो कुछ करता है, उसका फोटो कार्मण शरीर में खिंचा जाता है फिर जैसे मिट्टी—पानी के संयोग से बड़ के छोटे—से बीज से विशाल वृक्ष उत्पन्न होता है, उसी प्रकार कार्मण शरीर के संस्कारों से स्थूल शरीर उत्पन्न होता है। वह कार्मण शरीर प्राणी का संस्कार—शरीर है। मृत्यु होने पर जीव स्थूल देह का त्याग करता है, लेकिन सूक्ष्म शरीर बने रहते हैं। कार्मण शरीर में प्राणी के

जो–जो संस्कार होते हैं, उनके अनुसार पुनः सब संस्कार स्थूल रूप में आ जाते हैं। यहां सूक्ष्म का अर्थ आंखों से न दिखाई देने वाला बारीक समझना चाहिए, यों तो यह सूक्ष्म शरीर भी पौद्गलिक ही है।

कोई यह न समझ ले कि हम लुक–छिपकर एकान्त में जो काम करते हैं, उसे कोई देखता नहीं है। कभी मत सोचो कि जब कोई देखता हो तो पाप से अलग रहें, और कोई न देखता हो तब पाप से डरने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारा पाप कोई दूसरा व्यक्ति देखे या न देखे, मगर कार्मण शरीर में तो उसका चित्र अंकित हो ही जाता है। तुम्हारे संस्कार शरीर में उसका बंधन हुए बिना नहीं रहता। संस्कार शरीर में बंधन किस प्रकार होता है? यह आपको मालूम नहीं होता, लेकिन बंधन अवश्य होता है। इसे समझने के लिए निम्न उदाहरण उपयोगी होगा।

दूध प्रायः सभी पीते हैं। दूध पीने पर पेट में पहुंचने के पश्चात् उसका क्या–क्या होता है? यह आपको मालूम है यह बात प्रत्यक्ष में दिखाई नहीं देती कि दूध से क्या–क्या बनता है? और किस प्रकार बनता है ? लेकिन वैज्ञानिक विचार से, शरीरशास्त्र की दृष्टि से और अनुभव से देखो तो मालूम होगा कि दूध किस–किस रूप में परिणमन करता है और उससे किस–किस अंग को क्या–क्या शक्ति प्राप्त होती है।

सिद्धान्त का कथन है कि पेट में गया हुआ भोजन दो भागों में विभक्त होता है। खलभाग और रसभाग में। रसभाग में तैजस शरीर अलग करता है, जिसे लोक व्यवहार में जठराग्नि कहते हैं या तेज कहते हैं। खलभाग और रसभाग अलग–अलग करने के पश्चात् तैजस शरीर रसभाग में से बारीक से बारीक पुद्गल खींचकर आंख को पहुंचाता है। उससे कम बारीक पुद्गल कान में, उससे कम बारीक नाक में और उससे भी कम बारीक पुद्गल जीभ में पहुंचाता है। अर्थात् जिन पुद्गलों में सरसता अधिक होती है और रूक्षता कम होती है, ऐसे पुद्गल आंखों को मिलते हैं। यह सब कार्रवाई तैजस शरीर द्वारा आपके शरीर में होती है लेकिन आप उसे देखते नहीं हैं। लेकिन यह तो आप देखते ही हैं कि तर चीज खाने से आंखों का तेज बढ़ता है और बहुत चटपटी चीज खाने से आंखों को कष्ट पहुंचता है।

यह सब तैजस शरीर का काम है। लेकिन अब यह देखना है कि आपने जो कुछ भी खाया है, वह किस मनोभावना से खाया है। खाकर और उसके सिवाय पुद्गल आंख, कान, नाक और जीभ ने पाकर क्या किया है? इस बात का हिसाब कार्मण शरीर रखता है।

शरीर, निसर्गतः दूध, गेहूं और बाजरी से आंख का निर्माण करता है। ऐसी आंख संसार का सर्वोत्तम डाक्टर भी नहीं बना सकता। भूख जब व्याकुल बना देती है, तब आंखों में धुंधलापन आने लगता है, लेकिन उस समय अगर थोड़ा-सा दूध मिल जाय तो चेतना लौट सी आती है। आंखों का धुंधलापन मिटाकर तेजी लाना, यही आंख बनाना है। आत्मा में ऐसी शक्ति है कि उसके सक्रिय रहने पर सभी चैतन्य रहते हैं।

दूध पीने से आंखों में तेजी आ गई और शरीर में स्फूर्ति, लेकिन इस तेजी और स्फूर्ति का उपयोग क्या करना चाहिए? इस संबंध में एक कवि ने कहा है –

दम पर दम हरमज, नहीं भरोसा दम का।
एक दम में निकल जाएगा, दम आदम का।।
दम में दम है जब तक, सुमर हरि–हर को।
दम आवे न आवे इसकी आश मतकर तूं।।
एक नाम प्रभु का जप वही हृदय में धर तूं।
नर इसी नाम से तिर जा, भव–सागर तूं।।
छल करता थोड़े जीने की खातिर तूं।।
वो साहब है जल्लाद जरा तो डर तूं।
वहां अटल पड़ा इन्साफ, इसी दम दम का।।

दम पर दम हर.

तात्पर्य यह है कि नारकी जीवों के तीन शरीर होते हैं। और केवल स्थूल शरीर ही शरीर नहीं है, अपितु सूक्ष्म शरीर भी है, जो मृत्यु काल में विद्यमान रहते हैं और जीव और पुद्‌गलों के परिणमन में निमित्त होते हैं।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है – भगवन्! वैक्रिय शरीर वाले नारक जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! इस विषय में सत्ताईस भंग समझने चाहिएं। क्योंकि ऐसा कोई समय नहीं होता जब वैक्रिय शरीर वाले जीव नरक में न हों। वैक्रिय शरीर वाले जीव नरक में बहुत होते हैं, इसलिए सत्ताईस भंग ही प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार तीनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए।

कहा जा सकता है कि वैक्रिय शरीर वालों के सत्ताईस भंग भगवान् ने फरमा दिये थे। शेष दो शरीर ही बचे थे। अतएव यह कहना चाहिए था कि 'इसी प्रकार दोनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए।' मगर यहां 'इसी प्रकार तीनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए,' ऐसा कहा है। इसका क्या कारण है?

संक्षेप में इसका उत्तर यह है कि अगर तैजस और कार्मण शरीरों को वैक्रिय शरीर से अलग कर दिया जाय तो अस्सी भंग प्राप्त होंगे। जघन्य अवगाहना तैजस–कार्मण शरीर की अपेक्षा से है। इसीसे सत्ताईस भंग कहे हैं। वैक्रिय–रहित तैजस–कार्मण शरीर में अस्सी भंग मिलेंगे। अतएव भगवान् ने कहा है कि तीनों शरीर साथ ही हैं। यह चर्चा केवल तैजस–कार्मण शरीर की नहीं है, किन्तु वैक्रिय सहित तैजस–कार्मण की है। इसलिए सत्ताईस ही भंग मिलेंगे। यही सूचित करने के लिए तीनों शरीरों के संबंध में जानना चाहिए, ऐसा कथन किया गया है।

शरीर होने पर संहनन भी होता है। शरीर की हड्डियों का ढांचा संहनन कहलाता है। शरीर होगा तो हाड़ भी होंगे, मांस भी होगा, ऐसा हम लोग प्रत्यक्ष में देखते हैं। इसलिए गौतम स्वामी ने संहनन के विषय में प्रश्न किया है। वे पूछते हैं–भगवन्! छह प्रकार के संहननों में से किस संहनन में नारकी जीवों का शरीर वर्तता है? अर्थात् नारकी जीवों के कौनसा संहनन होता है? भगवान् उत्तर देते हैं–गौतम! नरक के जीव छह संहननों में से कोई भी संहनन नहीं पाते।

साधारण धर्मशास्त्र का विद्यार्थी भी यह जानता है कि नारकी जीवों की कोई संहनन नहीं होता। फिर क्या गौतम स्वामी जैसे महान् ज्ञानी पुरुष यह बात नहीं जानते थे? अगर वे जानते थे तो भगवान् से पूछने का उद्देश्य क्या है?

नरक के जीवों के दुःख का वर्णन करते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि परमाधामी असुर, नरक के जीवों के खंड–खंड करते हैं। इस कथन पर यह संदेह किया जा सकता है कि शरीर के खंड–खंड हो जाने पर भी नारकी किस प्रकार जीवित रहते हैं? वे मर क्यों नहीं जाते? खंड–खंड होने पर उनकी हड्डियां भी टूट जाती होंगी, फिर भी वे जीवित कैसे बचते हैं? उनकी मौत नहीं होती, जितनी आयु है, वह अवश्य भोगनी पड़ती है, तो उनके शरीर का खंड–खंड कैसे हो जाता है? इस संदेह का निवारण करने के लिए ही गौतम स्वामी ने भगवान से यह प्रश्न किया है। भगवान ने गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में फरमाया है कि नरक के जीव असंहननी हैं। उनके शरीर में हाड़, मांस, रक्त या नसें नहीं होती। प्रश्न हो सकता है, जिसमें हाड़, मांस, रक्त या नसें नहीं है, वह शरीर ही कैसा? इसका उत्तर यह है कि जो पुद्गल, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ अमनोज्ञ और अमनोम होते है, वे नारकी जीवों के शरीर रूप में परिणत होते हैं। उन पुद्गलो की यह तासीर है कि जब उन्हें

छेदा–भेदा जाय तब अलग हो जाते हैं और जब मिलाओ तो मिल जाते हैं। जैसे मिट्टी को सांचे में ढाला जाय तो उसका आकार सांचे जैसा हो जाता है और मिलाया जाय तो वह मिल भी जाती है और अलग किया जाय तो अलग भी हो जाती है। इसी प्रकार नारकी जीवों के तैजस–कार्मण शरीर तो मौजूद हैं और वैक्रिय शरीर के लिए जैसे पुद्गल होते हैं, वैसा शरीर बन जाता है। फिर उन पुद्गलों को जब परमाधामी देव अलग करते हैं तब वे बिखर जाते हैं और फिर मिल भी जाते हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–हे भगवन्! असंहननी शरीर में वर्त्तने वाले नरक में जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं, या लोभी है? इसके उत्तर में भगवान फरमाते हैं–हे गौतम! इस संबंध में सत्ताईस भंग जानने चाहिए।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! नारकी जीवों के संहनन नहीं है तो संस्थान–शरीर का आकार–तो होगा। तो उनके कौन–सा संस्थान है? भगवान् ने उत्तर दिया–हे गौतम! उनका शरीर दो प्रकार का होता है–एक भवधारणीय, दूसरा उत्तर वैक्रियक। जो शरीर भवपर्यन्त रहे वह भवधारणीय कहलाता है। नारकी जीव, दूसरे नारकी को कष्ट पहुंचाने के लिए कभी–कभी दूसरा शरीर धारण करते हैं, वह उत्तरवैक्रियक कहलाता है।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि मनुष्य को जब तीव्र क्रोध होता है, तब वह अपनी सम्पूर्ण शक्ति लगाकर दूसरे को कष्ट पहुंचाने की कोशिश करता है। और जब एक मनुष्य ऐसा करता है तो सामने वाला भी प्रायः ऐसा ही करता है। इसी प्रकार नारकी जीवों में जब कषाय–समुद्घात का प्रबल उदय होता है, तब वे आपस में लड़ते हैं और क्रोधसमुद्घात के साथ वैक्रियसमुद्घात करके दूसरे को पीड़ा पहुंचाने के लिए दूसरा शरीर धारण करते हैं। जब एक नारकी ऐसा करता है तब दूसरा नारकी भी ऐसा ही करता है–अर्थात् वह भी अपने प्रतिपक्षी पर प्रहार करने के लिए उत्तरवैक्रियक शरीर धारण करता है इस प्रकार वे आपस में घात–प्रतिघात किया करते हैं–

आपको अभी नरक दिखाई नहीं देता, लेकिन यह लोक तो आप देख रहे हैं। अनाथी मुनि कहते हैं –

अप्पा नई वेयरणी, अप्पा मे कूडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू, अप्पा मे नंदणं वणं।।

अर्थात्–मेरी यह आत्मा ही वैतरणी नदी है, आत्मा ही कूट शाल्मलि वृक्ष है, आत्मा ही कामधेनु है, और आत्मा ही नन्दन वन है। तात्पर्य यह है कि समस्त सुखों और दुःखों का कारण आत्मा ही है।

अनाथी मुनि की यह वाणी याद रक्खो। आत्मा इस लोक में नरक के दुःख उत्पन्न करता है, तभी वह नरक जाता है। अगर इस जन्म में आत्मा नरक के योग्य दुःख उत्पन्न न करे तो वह नरक भी न जावे। आज संसार जिस दुःख से घोर अशांति का अनुभव कर रहा है, वह कहां से आया है? वह मनुष्य के कषाय समुद्घात का ही फल है। आजकल जिसे विज्ञान या सुधार कहते हैं, उसके द्वारा संसार में दुःख बढ़ा है या सुख, उसने आत्मा के लिए स्वर्ग का सृजन किया है या नरक का निर्माण किया है, इस बात पर विचार करना चाहिए। उदाहरणार्थ एक वैज्ञानिक ने मनुष्यों का संहार करने वाली जहरीली गैस बनाई। उसने सोचा यह गैस प्रतिपक्षियों की नाक में घुस कर उन्हें मार डालेगी। इस वैज्ञानिक के पक्ष वालों ने इसे होशियार माना और राजा ने उसे मान दिया। लेकिन शास्त्र यह कहता है कि वैज्ञानिक कहलाने वाले इस पामर पुरुष ने नरक के अतिरिक्त और कुछ भी पैदा नहीं किया। क्योंकि इसका प्रतिपक्षी भी बेखबर न होगा। वह दूसरी तरह की गैस बनाने की बात सोचेगा, बल्कि वह इस गैस को भी मात देने वाली गैस का आविष्कार करने की चेष्टा करेगा। फिर वह अपनी गैस उस पर और वह इस पर उसका प्रयोग करेगा। यह नरक नहीं तो ओर क्या हुआ?

लोगों ने तृष्णा के वशीभूत होकर यह मान लिया है कि हम जो कुछ करते हैं अच्छा ही करते हैं। लेकिन उनकी इस मिथ्या मान्यता से ही नरक की उत्पत्ति होती है। नरक में भी तो इसी प्रकार आपस में एक–दूसरे पर घात करने वाली लड़ाई होती है। नरक की संकुचित भूमि में घोर दुःख भोगने का साधन भी तो चाहिए न। इसीलिए नारकी वैक्रियसमुद्घात करते हैं और उत्तर–वैक्रिय शरीर धारण करके एक–दूसरे पर घोर प्रहार करते हैं। और यही बात आजकल के प्राणहारी गैस आदि बनाने वाले वैज्ञानिक भी करते हैं। आधुनिक विज्ञान की बदौलत हृदय का गुण–हृदय की मधुर और सहज संवेदना नष्ट हो गई है। और मारकाट के साधनों का निर्माण हुआ है। यह नरक की स्थिति नहीं तो और क्या है? सारांश यह है कि आत्मा अपने लिए इस भव में नरक पैदा करता है तभी वह मरने के पश्चात् नरक में जाता है।

नास्तिक लोग नरक नहीं मानते तो न सही, लेकिन कम से कम यहां के प्रत्यक्ष नरक को तो देखें। एक आदमी ने यहां आयुभर मारकाट की और वह आराम में रहा। क्या उसे यह मारकाट का बदला नहीं भोगना पड़ेगा? कर्मशास्त्र की सत्यता के लिए उसे दूसरा जन्म धारण करना पड़ेगा और

बदला भोगना होगा। कर्मशास्त्र की सत्यता के लिए ही शास्त्रकारों ने नरक का वर्णन किया है।

प्रत्यक्ष देखा जाता है कि एक मिनिट के अपराध के लिए राज्य द्वारा आयु भर का दंड मिलता है। राज्य के व्यवस्थापकों में इससे अधिक दंड देने की कोई शक्ति ही नहीं है। लेकिन जब एक मिनट के अपराध के लिए उम्र भर का दंड मिलता है तो जिसने उम्र भर ऐसे ही अपराध किये, उसे अपने अपराधों का फल भोगने के लिए कितना समय चाहिए। इसीलिए शास्त्रकारों ने नरक की आयु बतलाकर कहा है कि जो आत्मा यहां नरक के कारणभूत कार्य करता है उसे वहां फल भुगतना पड़ता है। चाहे शास्त्र पढ़ो, पुराण पढ़ो वेद पढ़ो या कुछ भी पढ़ो, मगर जब तक नरक समाज के योग्य कार्य नहीं रोके जाएंगे, तब तक केवल पढ़ने और उन्हें याद रख लेने मात्र से नरक में जाना नहीं रुक सकता। अतएव अगर ज्ञान प्राप्त किया है तो उसका फल नरक योग्य कार्यों का विरोध ही होना चाहिए।

एक नारकी जीव, दूसरे जीव को कष्ट देने के लिए जो शरीर बनाता है, वह उत्तर वैक्रियक कहलाता है और भवपर्यन्त रहने वाला शरीर भवधारणीय कहलाता है। नारकी जीवों के दोनों प्रकार के शरीरों का संस्थान–आकार हुंडक ही होता है।

यहां यह शंका हो सकती है कि उत्तर वैक्रिय शरीर का संस्थान नारकी जीव, हुंडक क्यों बनाते हैं? सुन्दर क्यों नहीं बनाते? इसका उत्तर यह है कि भावना सुन्दर होने पर शरीर का आकार भी सुन्दर बन सकता है। लेकिन नारकों के भाव बुरे हैं, इसलिए उनके शरीर का आकार भी बुरा–हुंडक–ही बनता है। उनकी लेश्या अशुभ–पापमय है। पापमय लेश्या होने के कारण उनमें दुष्टता रहती है जिससे आकार हुंडक यानि बेढंगा बनता है।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवान्! शरीर की आकृति से बेढंगे नारकी जीव क्रोधी हैं, मानी भी हैं, मायी भी हैं, और लोभी भी हैं। ऐसे जीव नरक में बहुत होते हैं, इसलिए सत्ताईस भंग समझना चाहिए।

संहनन और संस्थान लेश्या के अनुसार होते हैं, अतः अब गौतम स्वामी लेश्या के विषय में प्रश्न करते हैं।

लेश्या

मूलपाठ

प्रश्न–इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए पुढवीए नेरइयाणं कति लेस्साओ पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! एगा काउलेस्सा पन्नत्ता।

प्रश्न–इमीसे णं भंते! रयणप्पभाए जाव काउलेस्साए वट्टमाणा?

उत्तर–गोयमा! सत्तावीसं भंगा!

प्रश्न–इमीसे णं जाव–किं सम्मदिट्ठी, मिच्छादिट्ठी, सम्ममिच्छादिट्ठी?

उत्तर–तिण्णि वि।

प्रश्न–इमीसे णं जाव–सम्म दंसणे वट्टमाणा नेरइया?

उत्तर–सत्तावीसं भंगा। एवं मिच्छा दंसणे वि। सम्ममिच्छादंसणे असीइभंगा।

प्रश्न–इमीसे णं भंते ! जाव–किं णाणी, अन्नाणी?

उत्तर–गोयमा ! णाणी वि, अन्नाणी वि, तिण्णि णाणाइ नियमा, तिण्णि अण्णाणाइं भयणाए।

उत्तर–इमीसे णं भंते! जाव–आभिणिबोहियण्णाणे वट्टमाणा?

उत्तर–सत्तावीसं भंगा। एवं तिण्णि णाणाइं तिण्णि अण्णाणाइं भाणियव्वाइं।

प्रश्न–इमीसे णं जाव–किं मणजोगो, वइ जोगी, काय जोगी?

उत्तर–तिण्णि वि।

प्रश्न–इमीसे णं जाव–मण जोए वट्टमाणा कोहोवउत्ता?

उत्तर–सत्तावीसं भंगा। एवं वइजोए, एवं काय जोए।

प्रश्न–इमीसे णं जाव–नेरइया किं सागारोवउत्ता, अणागारोवउत्ता

उत्तर–गोयमा! सागारोवउत्ता वि, अणागारोवउत्ता वि।

प्रश्न–इमीसे णं जाव–सागारोव योग वट्टमाणा किं कोहो वउत्ता?

उत्तर–सत्तावीसं भंगा। एवं अणागारोवउत्ता वि सत्तावीसं भंगा। एवं सत्त वि पुढवीओ नेयव्वाओ। णाणत्तं लेस्सासु। गाहा–

काऊ य दोसु तइयाए मीसिया, नीलिया चउत्थीए।
पंचमीयाए मीसा, कण्हा तत्तो परमकण्हा।।

संस्कृत छाया

प्रश्न–एतस्या भगवन्! रतनप्रभायाः पृथिव्या नैरयिकाणां कति लेश्याः प्रज्ञप्ताः?

उत्तर–गौतम! एका कापोतलेश्या प्रज्ञप्ता।

प्रश्न–एतस्या भगवन्! रत्नप्रभाया यावत् कापो तलेश्यायां वर्तमानः?

उत्तर–गौतम! सप्तविंशतिर्भङ्गाः।

प्रश्न–एतस्या यावत्–किं सम्यग्दृष्टयः, मिथ्यादृष्टयः, सम्यग् मिथ्यादृष्टयः?

उत्तर–त्रयोऽपि।

प्रश्न–एतस्या यावत्–सम्यग्दर्शने वर्त्तमाना नैरयिकाः?

उत्तर–सप्तविंशतिर्भङ्गाः। एवं मिथ्यादर्शनेऽपि। सम्यग् मिथ्यादर्शनेऽशीतिर्भङ्गाः।

प्रश्न–एतस्या भगवन्? यावत्–किं ज्ञानिनः, अज्ञानिनः?

उत्तर–गौतम! ज्ञानिनोऽपि, अज्ञानिनोऽपि। त्रीणि ज्ञानानि नियमात्, त्रीणि अज्ञानानि भजनया।

प्रश्न–एतस्या भगवन्! यावत् आभिनिबोधिकज्ञाने वर्त्तमानाः?

उत्तर– सप्तविंशतिर्भ्रङ्गाः। एवं त्रीणि ज्ञानानि, त्रीण्यज्ञानानि भणितव्यानि।

प्रश्न––एतस्या यावत्–किं मनोयोगिनः, वचोयोगिनः, काययोगिनः?

उत्तर–त्रीण्यपि।

प्रश्न–एतस्या यावत्–मनोयोग वर्त्तमानाः क्रोधोपयुक्ताः?

उत्तर–सप्तविंशतिर्भङ्गाः। एवं वचोयोगे, एवं काययोगे।

प्रश्न–एतस्या यावत् नैरयिकाः किं साकारोपयुक्ताः अनाकारोपयुक्ताः?

उत्तर–गौतम! साकारोपयुक्ताऽपि, अनाकारोपयुक्ताऽपि।

प्रश्न–एतस्या यावत् साकारोपयोग वर्तमानाः किं क्रोधोपयुक्ताः?

उत्तर–सप्तविंशतिर्भङ्गाः। एवमनाकारोपयुक्ता अपि सप्तविंशतिर्भङ्गाः। एवं सप्ताऽपि पृथिव्यो ज्ञातव्याः, नानात्वं लेश्यासु।

गाथाः –

कापोती द्वयोः, तृतीयामां मिश्रिता नीलिका चतुर्थ्याम्।
पंचम्यां मिश्रा, कृष्णा ततः परमकृष्णा।।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले नैरयिकों को कितनी लेश्याएं कही हैं?

उत्तर–हे गौतम! एक कापोत लेश्या कही है।

प्रश्न– भगवान्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले कापोत लेश्या वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर–हे गौतम! सत्ताईस भंग कहने चाहिएं।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले नारकी क्या सम्यग्दृष्टि है, मिथ्यादृष्टि हैं, या सम्यग्रमिथ्यादृष्टि हैं?

उत्तर–हे गौतम! तीनों प्रकार के हैं।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले सम्यग्दृष्टि नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर–हे गौतम! सत्ताईस भंग कहने चाहिए। इसी प्रकार मिथ्या दर्शन जानना। सम्यग् मिथ्या दर्शन में अस्सी भंग कहने चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी है?

उत्तर–हे गौतम! वे ज्ञानी भी है और अज्ञानी भी हैं। जो ज्ञानी हैं उन्हें नियम से तीन ज्ञान होते हैं और जो अज्ञानी हैं उन्हें तीन अज्ञान भजना से होते है।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले और आभिनि बोधिक ज्ञान में वर्तने वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर–हे गौतम! यहां सत्ताईस भंग कहना। और इसी प्रकार तीन ज्ञान और तीन अज्ञान कहना।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में रहने वाले नारकी मनोयोगी हैं, वचनयोगी हैं, या काययोगी हैं?

उत्तर–हे गौतम! वे प्रत्येक तीनों प्रकार के हैं।

प्रश्न–भगवन्! इस पृथ्वी में बसने वाले और यावत्–मनोयोग में वर्तने वाले नारकी जीव क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर–हे गौतम! सत्ताईस भंग जानना और इसी प्रकार वचनयोग तथा काय में कहना।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले नारकी साकारोपयोग से युक्त हैं या अनाकारोपयोग से युक्त हैं?

उत्तर–हे गौतम! साकारोपयुक्त हैं और निराकारोपयुक्त भी हैं।

प्रश्न–भगवन्! इस रत्नप्रभा पृथ्वी में बसने वाले और साकारोपयोग में वर्त्तने वाले नारकी क्या क्रोधोपयुक्त हैं?

उत्तर–हे गौतम ! सत्ताईस भंग कहना। इसी प्रकार अनाकारोपयोग में भी जानना। तथा इसी प्रकार सातों पृथ्वियों में जानना। लेश्याओं में विशेषता है। वह इस प्रकार है :–

पहली और दूसरी पृथ्वी में कापोत लेश्या है, तीसरी में मिश्र लेश्या–कापोत और नील–है, चौथी में नील लेश्या है, पाँचवीं में मिश्र–नील और कृष्ण–है, छठी में कृष्ण लेश्या और सातवीं में परमकृष्ण लेश्या है।

व्याख्यान अब गौतम स्वामी लेश्या के विषय में प्रश्न करते हैं–हे भगवन्! रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नारकावासों में रहने वाले जीवों में, छह लेश्याओं में से कितनी लेश्याएं होती हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! रत्नप्रभा पृथ्वी के तीस लाख नरकावासों के जीवों में केवल कापोत लेश्या होती है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! कापोत लेश्या में वर्त्तने वाले नरक के जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? भगवान् ने उत्तर दिया–हे गौतम! क्रोधी भी है, मानी भी हैं–मायी भी है और लोभी भी हैं। यहां सत्ताईस भंग समझने चाहिए।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्! इस नरक के जीव सम्यग्दृष्टि है, मिथ्यादृष्टि हैं या सम्यग्–मिथ्या दृष्टि हैं?

जिनकी दृष्टि में समभाव है वे सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं। वस्तु के वास्तविक स्वरूप को समझना सम्यग्दर्शन है और विपरीत स्वरूप समझना मिथ्यादर्शन है। अर्थात् जो वस्तु के स्वरूप को विपरीत रूप में देखता है, उस उल्टी बुद्धि वाले को मिथ्यादृष्टि कहते हैं। और जो न पूरी तरह मिथ्यादृष्टि वाला है, न सम्यग्दृष्टि वाला है, वह सम्यग्–मिथ्यादृष्टि या मिश्रदृष्टि

कहलाता है। उदाहरण के लिए कल्पना कीजिए–तीन आदमी जा रहे हैं। एक ने सामने पड़ा हुआ सीप का टुकड़ा देखा। उसने कहा–देखो, सामने सीप का टुकड़ा पड़ा है। सीप के टुकड़े को सीप का ही टुकड़ा बताने वाला यह पहला व्यक्ति सम्यग्दृष्टि है।

दूसरे आदमी ने पहले की बात सुनकर कहा–'सीप तो समुद्र में होती है। यहां जंगल में सीप का टुकड़ा कहां से आया? यह तो चांदी है।' वास्तव में सामने दिखलाई देने वाली वस्तु सीप ही है परन्तु दूसरा आदमी उसे चांदी बतला रहा है इसलिए वह मिथ्यादृष्टि है।

पहले समयग्दृष्टि ने कहा–उसके पास चलकर निर्णय कर लो, जिससे सीप या चांदी का निर्णय हो जाय। कोई जिद्द की बात तो है नहीं। अगर चांदी हुई तो लेना, न लेना दूसरी बात है, पर निर्णय तो हो ही जायगा। मिथ्यादृष्टि ने उसकी बात का विरोध करते हुए कहा–इसमें निर्णय करने की क्या आवश्यकता है? कौन वहां तक जाय और वृथा चक्कर काटे! चांदी तो वह है ही।

तब तीसरे आदमी ने कहा–'सीप हो या चांदी हो, हमें क्या करना है? इस प्रकार कहकर वह दोनों की बात मानता है, स्वबुद्धि से निर्णय नहीं करता। ऐसा व्यक्ति सम्यग्मिथ्यादृष्टि है। सम्यक्–दृष्टि वास्तविक निर्णय करने को तैयार है अपनी भूल सुधारने के लिए उद्यत है, मिथ्यादृष्टि दुराग्रह में पड़ा है और मिश्रदृष्टि वाला दोनों की बात सही या गलत दोनों प्रकार से मानता है; वह भी निर्णय नहीं करता।

सम्यग्दृष्टि जीवादि तत्वों को यथार्थ रूप से जानता है। मिथ्यात्व और अनन्तानुबंधी कषाय का क्षयोपशम होने पर सम्यग्दृष्टि प्राप्त होती है। सम्यग्दृष्टि पुरुष सदा सत्य के निर्णय के लिए उद्यत रहता है, कभी हठ नहीं करता। परन्तु मिथ्यादृष्टि किसी बात को मिथ्या समझ करके भी दुराग्रह के वश होकर छोड़ता नहीं है और सम्यग्दृष्टि की बात को सही मानता हुआ भी कहता है कि मैंने जो बात कही है, वह मिथ्या कैसे हो सकती है ? सम्यग् मिथ्यादृष्टि अक्ल का ही दुश्मन बना रहता है। वह किसी बात का निर्णय ही नहीं करना चाहता। वह झूठी बात को झूठी और सच्ची को सच्ची सिद्ध करने में कोई दिलचस्पी नहीं लेता।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–गौतम! नरक के जीव सम्यग्दृष्टि भी होते हैं, मिथ्यादृष्टि भी होते हैं और मिश्रदृष्टि भी होते हैं।

नरक के जीवों को क्षण भर भी साता नहीं मिलती। फिर भी नरक में सम्यग्दृष्टि जीव पाये जाते हैं और ऐसे–ऐसे भी सम्यग्दृष्टि पाये जाते हैं जो उम्र भर सम्यग्दृष्टिपन का पालन करते हैं। यह विचारने योग्य बात है कि उस भीषण यातनामय, घोर अशान्त और भयंकर मारकाट से निरन्तर परिपूर्ण नरक में वे जीव किस प्रकार अपने सम्यक्त्व की रक्षा करते हैं।

संसार के कई लोग आपस में लड़कर कहते हैं– तेरा सम्यक्त्व यों चला गया, त्यों चला गया। उन्हें यह ज्ञान नहीं है कि सम्यक्त्व श्रद्धान की वस्तु है, वह यों–त्यों कैसे चला जा सकता है? अगर इस प्रकार सम्यक्त्व जाने लगे तो नारकी जीव कैसे सम्यग्दृष्टि रह सकते हैं?

दुःख के अवसर पर धर्म के साक्षात् दर्शन होते हैं। कहावत है–ठोकर खाने पर अक्ल आती है। इस कहावत के अनुसार बहुत से लोगों ने इस बात का पश्चात्ताप किया है कि –'हाय! सत्पुरुषों ने हमें कैसा हितमय उपदेश दिया था। लेकिन मैं कैसा दुर्बुद्धि था कि उस अमृतमय उपदेश को भी मैंने जहर समझा?' नरक के अनेक जीव भी इसी प्रकार पश्चाताप करके सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं। आप मनुष्य हैं, साहस रखिए। आपके हाथों में कोई हथकड़ी डाल सकता है लेकिन आत्मा को बन्दी बनाने की शक्ति किसी में नहीं है। कर्म जीवों को नरक में डाल देता है, लेकिन आत्मा तो वहां भी स्वतंत्र ही रहता है। अतएव कष्ट आने पर इस बात का विचार करना चाहिए कि मेरे आत्मा में समस्त शक्तियां विद्यमान हैं। मैं जो चाहूं, कर सकता हूं। मुझे जो कष्ट हो रहा है, वह मेरी ही दुर्बलता का परिणाम है। मेरी अपनी कमजोरी ही दुःखों को उत्पन्न करती है। यह दुःख रोने से कम नहीं होगा, न रोने वाला ईश्वर का हो सकेगा। जो रोता है वह रोता ही रहता है। उसे आनन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती। अतएव दुःख के समय रुदन करना योग्य नहीं, परमात्मा का स्मरण करना ही योग्य है। यही दुःखों की अमोघ और अमूल्य औषध है। रोने वाला अनन्त आनन्द स्वरूप परमात्मा के निकट नहीं पहुंच पाता। प्रकृति की विषमता से रोने तो बड़े–बड़े लोग भी लगे, मगर वे तभी तक रोये, जब तक उन्होंने ईश्वर को नहीं पहचाना।

रोने का स्वभाव पुरुष की अपेक्षा स्त्रियों मे अधिक होता है। स्त्रियां रोने वालों का दुःख बढ़ाना बहुत जानती हैं। उन्हें दुःख घटाना नहीं आता। जब किसी के घर मृत्यु जैसा प्रसंग उपस्थित होता है, तब स्त्रियां जाती हैं उन्हें धैर्य और सान्त्वना देने, मगर वहां जाकर, स्वयं रोकर उसके घर वालों को रुला कर दुःख बढ़ाती हैं। उचित तो यह है कि रोने वालों को सान्त्वना

देकर कहें–बहिन, रोती क्यों हो? सद्गुरु के पास से धर्म की जो तलवार लाई हो, उसे इस दुःख रूपी शत्रु पर क्यों नहीं चलाती? इस शत्रु पर अगर तलवार न चलाई तो वह फिर किस काम में आवेगी?

प्रत्येक बात प्रकृति का हिसाब देखकर सहज ही समझी जा सकती है। शेर भी पशु है और कुत्ता भी पशु है। लेकिन दोनों की प्रकृति में महान् अन्तर है। शेर को अगर कोई गोली मारता है तो वह तीर या गोली पर नहीं झपटता, किन्तु तीर या गोली चलाने वाले पर आक्रमण करता है। असली शेर के संबंध में कहा जाता है कि जिस स्थान से उस पर गोली चलाई जाती है, वह एक बार उस स्थान पर पहुंचने की कोशिश करता है। इसीलिए गोली या तीर चलाने वाला, तीर या गोली चलाकर कायरता धारण करके उस स्थान से भाग जाता है। शेर समझता है कि दोष गोली या तीर का नहीं है, चलाने वाला ही इसके लिए उत्तरदायी है।

इससे विरुद्ध कुत्ते की प्रकृति पर विचार कीजिए। अगर कुत्ते को कोई लकड़ी या पत्थर फेंककर मारता है तो वह मारने वाले के बदले लकड़ी या पत्थर को ही काटने दौड़ता है। उसे नहीं मालूम कि दोष लकड़ी पत्थर का नहीं, मारने वाले का है। कई कुत्ते शक्ल में शेर सरीखे होते हैं, मगर दोनों के स्वभावों में तो जमीन आसमान का अन्तर है।

यही बात सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के संबंध में है। सम्यग्दृष्टि की प्रकृति शेर के समान होती है और मिथ्यादृष्टि का स्वभाव कुत्ते के समान होता है। सुख–दुःख तो सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि–दोनों को होते हैं, मगर सम्यग्दृष्टि दुःख देने वालों को नहीं, वरन् दुःख के कारण को मारता है। सम्यग्दृष्टि दुःख के मूल उद्गम स्थान की खोज करता है। दुःख का उद्गमस्थान खोजकर वह उससे प्रवाहित होने वाली दुःख की सरिता को बंद कर देता है अगर वह भी शेर की तरह दुःख देने वाले को मारने लगे तो उसमें और पशु में क्या अन्तर रहेगा? सम्यग्दृष्टि, इस बात में शेर की अपेक्षा अधिक विवेक से काम लेता है। कुत्ता लकड़ी–पत्थर पर झपटता है, शेर दुःख देने वाले की खबर लेता है और सम्यग्दृष्टि दुःख के मूल कारण को ही नष्ट करता है। सम्यग्दृष्टि सोच लेता है कि दुःख देने वाला वास्तव में दोषी नहीं है, वह तो निमित्त मात्र है। दुःख तो असल में मेरी दुर्वृत्तियों ने पैदा किये हैं–मैं ही इनका जनक हूं और मै ही इनका नाश कर सकता हूं। अनगारसिंह अनाथी मुनि ने नरसिंह श्रेणिक से कहा था –

अप्पा णई वेयरणी अप्पा मे कुडसामली।
अप्पा कामदुहा धेणू अप्पा में णंदणं वणं।।
अप्पा कत्ता विकत्ताय, दुहाण य सुहाण य।
अप्पा मित्तममित्तं च दुपट्ठिय–सुपट्ठिए।।

सुख–दुख देने वाला अपना आत्मा ही है। ज्ञानी पुरुष को सुख मिलने पर न हर्ष होता है, न दुःख मिलने पर शोक। दोनों अवस्थाओं में उनका समभाव होता है। सुख होने पर वे सोचते हैं–इसमें क्या है! यह कितने दिन का है! दुःख मिलने पर वे सोचते हैं–यह तो हमारी ही किसी पिछली भूल का परिणाम है। ऐसा विचार करने वाले सम्यग्दृष्टि होते हैं। नरक जैसे स्थान में भी सम्यग्दृष्टि होते हैं। वे आजीवन सम्यक्त्व का पालन करते हैं। हे मनुष्यों! तुम्हें तो सभी प्रकार की सुविधाएं हैं। तुम्हें अपने सम्यक्त्व–रत्न की अवश्य रक्षा करनी चाहिए।

तदनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! सम्यग्दर्शन वाले नारकी जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं?

भगवान ने उत्तर फरमाया–हे गौतम! चारों प्रकार के हैं।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि जब सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों ही क्रोधी, मानी, मायी और लोभी हैं, तो दोनों में अन्तर ही क्या रहा? इसका समाधान यह है कि कषाय दो प्रकार की है–देशघाती और सर्वघाती। मिथ्यादृष्टि में सर्वघाती अर्थात् सम्यक्त्वनाशिनी (अनन्तानुबंधी) कषाय का सद्भाव होता है और सम्यग्दृष्टि में देशघाती अर्थात् चारित्रनाशक कषाय होती है। सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि के संबंध में पहले किंचित् कहा गया है। दोनों का भेद समझने के लिए एक और उदाहरण लीजिए :–

एक आदमी लोहे के फाटक में बन्द है। यद्यपि उसमें आदमी है अवश्य, मगर न वह किसी को दीखता है, न वही किसी को देखता है। लेकिन अगर लोहे के फाटक के स्थान पर कांच का फाटक लगा दिया जाय तो दीखने और देखने में बाधा न होगी। यद्यपि फाटक दोनों हैं, मगर दोनों में काफी अन्तर है। ऐसा ही अन्तर सम्यग्दृष्टि और मिथ्यादृष्टि दोनों में है। मिथ्यादृष्टि–अज्ञानी में ऐसा अज्ञान और विकार होता है कि वह मानों लोहे के काले फाटक में बंद है और न स्व को देखता हैं, न पर को देखता है। सम्यग्दृष्टि में भी विकार है मगर वह कांच के फाटक के समान समझिए। उस फाटक से उसे आत्मा और परमात्मा का स्वरूप देखने में अन्तराय नहीं होता। विकारों का फाटक लगा देने पर भी वह तत्त्व को अवश्य देखता है। अलबत्ता,

फाटक की रुकावट के कारण वह देखकर भी कुछ कर नहीं सकता–चरित्र का पालन नहीं कर सकता।

मिथ्यादृष्टि की क्रोधादिक प्रकृति तीव्र होती है। वह आत्मा का दर्शन नहीं कर सकता। परन्तु सम्यग्दृष्टि अनन्तानुबंधी चौकड़ी का क्षय या क्षयोपशम कर डालता है, अतः आत्मदर्शन करने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि, मिथ्यादृष्टि और मिश्रदृष्टि तीनों ही क्रोधी, मानी, मायी और लोभी तो हैं मगर तीनों में बहुत अन्तर है।

भगवान फरमाते हैं– हे गौतम! नरक के सम्यग्दृष्टि जीव भी क्रोधी, मानी, मायी और लोभी हैं। इसका विचार सत्ताईस भंगों में करना चाहिये, क्योंकि सम्यग्दृष्टि जीव नरक में सदैव होते हैं। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव भी चारों प्रकार के हैं और उनका विचार भी सत्ताईस भंगों से करना चाहिए। किन्तु सम्यग्–मिथ्यादृष्टि जीवों में अस्सी भंग पाये जाते हैं, क्योंकि ऐसे जीव कभी नरक में होते हैं, कभी नहीं होते।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! नरक के जीव ज्ञानी हैं या अज्ञानी हैं?

किसी भी आपत्ति से ज्ञान नहीं रुक सकता। सुखी और धनवान आदमी चाहे गरीब हो जाय, भूखों मरने लगे लेकिन उसे आंखों से पहले जैसा दिखाई देता था वैसा ही फिर भी दिखाई देगा। इसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव चाहे सुखी या दुःखी हो, उसके ज्ञान पर पर्दा नहीं पड़ सकता। यह सुख दुःख का वास्तविक कारण भी जान लेता है। यद्यपि भूल तो वैद्य से भी होती है, परन्तु वह रोग होने का कारण जान लेता है, जो वैद्य नहीं है वह रोग का कारण नहीं जानता। इसी प्रकार ज्ञानी अपने दुःख का कारण जानकर उसे मिटाने का उपाय करता है और अज्ञानियों को दुःख का कारण दीखता ही नहीं है। जैसे सिंह तीर या गोली को न पकड़ कर तीर या गोली चलाने वाले को देख लेता है और उसे पकड़ने दौड़ता है, उसी प्रकार ज्ञानी अपने कर्म को जानते हैं और यह भी समझते हैं कि कर्म हमारे ही किये हुए हैं। क्रियते–इति कर्म। अर्थात् कर्त्ता द्वारा जो किया जाय वह कर्म कहलाता है। यह जड़ कर्म बेचारे मेरा क्या बिगाड़ सकते हैं। यह तो बोध देने के निमित्त हैं।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया–हे गौतम! ज्ञानी होते हैं।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं–उनके कितने ज्ञान होते हैं? भगवान ने फरमाया–तीन ज्ञान होते है–मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान। मतिज्ञान

में छोटा रहता है, फिर धीरे–धीरे बढ़ जाता है। इसलिए यह हाथ का उपयोग नहीं है, किन्तु 'मेरा हाथ' कहने वाले को उपयोग कहते हैं। मेरी देह ऐसा कहने में 'मेरी' कहने वाले का उपयोग है। इसी उपयोग से आत्मा की प्रतीति होती है। अगर यह न हो तो आत्मा की प्रतीति होना ही कठिन हो जाय।

साकारोपयोग ज्ञान का और निराकारोपयोग दर्शन का होता है। सामान्य को जानना अनाकारोपयोग है और विशेष को जानना साकारोपयोग है।

अनपढ़ आदमी भी काले–काले अक्षर देखता है और पढ़ा लिखा भी। मगर दोनों के देखने में काफी अन्तर है। अनपढ़ आदमी आंख से ही अक्षर देखता है, मगर पढ़ा–लिखा बुद्धि से भी देखता है। स्थूल रूप में यह कहा जा सकता है कि यह आंख से ही देखना निराकार–उपयोग है और बुद्धि से भी देखना साकार–उपयोग है। एक को साधारण कालापन ही नजर आता है और दूसरे को उन अक्षरों में विशेषता मालूम होती है।

बात यह है कि प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के धर्म पाये जाते हैं–सामान्यधर्म और विशेष धर्म। जिस धर्म के कारण एक वस्तु दूसरी वस्तुओं के समान प्रतीत होती है वह सामान्य धर्म कहलाता है और जिस धर्म से एक को दूसरी वस्तु से निराला समझते हैं, वह विशेष धर्म कहलाता है। जैसे सभी गायों में गोत्व (गोपना) है। यह एक धर्म है। इसके कारण यह अन्य गायों के समान प्रतीत होती है, इसलिए यह सामान्य धर्म है। और ललाई गाय का विशेष धर्म है, क्योंकि वह सब गायों में नहीं पाया जाता है। इन दो प्रकार के धर्मों में से सामान्य धर्म को जानना निराकारोपयोग है और विशेष धर्मों को जानना साकारोपयोग है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया–हे गौतम! नरक के जीवों में साकारोपयोग भी होता है और निराकारोपयोग भी होता है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! साकारोपयोग और अनाकारोपयोग में वर्तने वाले नारकी जीव क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? भगवान् ने उत्तर दिया यहां सत्ताईस भंग समझना चाहिए। नरक में ऐसा कभी नहीं होता, जब एक ही उपयोग वाले हों और दूसरे उपयोग वाले न हों।

यह रत्नप्रभा नरक के जीवों के संबंध में दस बातों की पृच्छा हुई। रत्नप्रभा की तरह सातों नरकों के जीवों की पृच्छा है। अन्तर केवल लेश्या में है। पहले और दूसरे नरक के जीवों में कापोत लेश्या है। तीसरे नरक में कापोत और नील लेश्या है। चौथे नरक में नील लेश्या है। पांचवें नरक में नील और कृष्ण लेश्या है। छठे नरक में कृष्ण लेश्या और सातवें में परम कृष्ण लेश्या है।

असुर कुमारों के स्थिति स्थान आदि

मूलपाठ

प्रश्न–चउसट्ठीए णं भंते! असुरकुमारा वास सयसहस्सेसु एगमेगंसि असुरकुमारा वासंसि असुरकुमाराणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता। जहण्णिया ठिई जहा नेरइआ तहा, णवरं–पडिलोमा भंगा भाणियव्वा। सव्वे वि ताव होज्ज लोभोवउत्ता। अहवा लोभोवउत्ते य मायोवउत्ता य। अहवा लोभोवउत्ता य मायोवउत्ता य। एएणं गमेणं णेयव्वं जाव थणियकुमाराणं नवरं णाणत्तं जाणियव्वं।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–चतुष्षष्टयां भगवन्! असुरकुमारावास शतसतस्त्रेषु एकैकस्मिन् असुरकुमारावासेऽसुरकुमाराणां कियन्ति स्थिति स्थानानि प्रज्ञप्तानि।

उत्तर–असंख्येयानि स्थिति स्थानानि प्रज्ञप्तानि। जघन्या स्थितिर्यथा नैरयिकास्तथा, नवरम्–प्रतिलोमा भगः भणितव्याः। सर्वेऽपि तावद् भवेयुर्लोभो युक्ताः अथवा लोभोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च। अथवा लोभोपयुक्ताश्च, मायोपयुक्ताश्च। एतेन गमेन नेतव्यं यावत्–स्तनित कुमाराणाम्। नवरम्–नानात्वम् ज्ञातव्यम्।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! चौसठ लाख असुरकुमारावासों में से एक–एक असुरकुमारावास में बसने वाले असुरकुमारों के स्थितिस्थान कितने कहे हैं?

उत्तर–हे गौतम! उनके स्थितिस्थान असंख्यात कहे हैं। वे इस प्रकार–जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति इत्यादि नारकियों के समान जाननी चाहिए। विशेषता यह है कि भंग प्रतिलोम–उलटे समझना। वे इस प्रकार हैं–समस्त असुरकुमार लोभोपयुक्त होते हैं। अथवा बहुत–से

लोभोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है। अथवा बहुत से लोभोपयुक्त और एक मायोपयुक्त होता है। अथवा बहुत से लोभोपयुक्त और मायोपयुक्त होते हैं। इत्यादि गम से जानना और इसी प्रकार स्तनित कुमारों तक जानना। विशेष यह है कि भिन्नता जाननी चाहिए।

व्याख्यान

नरक गति के जीवों का वर्णन करने के पश्चात् यहां देवगति का वर्णन किया जा रहा है। दोनों के चार भेद होते हैं। जो देव पाताल में रहते हैं, वे भवनपति कहलाते हैं। उनके दस दस भेद हैं। जैन शास्त्रों में इन दस–विध देवों का नाम भवनवासी है। उन्हीं के संबंध में यहां प्रश्न किया गया है।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! असुरकुमारों देवों के चौंसठ लाख भवन–तीस लाख उत्तर में और चौंतीस लाख दक्षिण में–बतलाये हैं, उनमें से एक–एक भवन में कितने–कितने स्थितिस्थान है? अर्थात् जघन्य स्थिति वाले, एक समय अधिक जघन्य स्थिति वाले, दो समय अधिक जघन्य स्थिति वाले ऐसे क्रमवार स्थिति के स्थान कितने हैं? भगवान ने फरमाया–हे गौतम! असंख्य स्थितिस्थान हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं उन असंख्य स्थिति–स्थानों में रहने वाले असुरकुमारों की प्रकृति कैसी है? वह क्रोधी हैं, मानी हैं, मायी हैं या लोभी है? भगवान ने उत्तर दिया गौतम चारों ही प्रकार के हैं। तब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवान्! नरक के जीवों की जैसी प्रकृति आपने बतलाई है, वैसी ही असुरकुमारों की है या इनमें कुछ अन्तर है? भगवान ने फरमाया–नरक के जीवों में क्रोध अधिक होता है और देवयोनि में लोभ अधिक होता है। नरक के जीवों के भंग क्रोधी, मानी, मायी, लोभी, इस प्रकार किये गए थे, परन्तु असुर कुमारों के लोभी, मायी, मानी, और क्रोधी, इस क्रम से हैं। क्योंकि कोई समय ऐसा आता है जब समस्त असुरकुमार लोभी ही लोभी हैं। कभी–कभी लोभ बहुत, मायी एक, लोभी बहुत मानी एक, इत्यादि भंगों वाले होते हैं। अतएव लोभी में बहुवचन का प्रयोग करना चाहिए। स्तनित कुमारों तक इसी प्रकार समझना। अवगाहना और स्थितिस्थान में भेद है, इसलिए इन दोनों को अलग–अलग ही कहना चाहिए। और जैसे असुरकुमारों के संबंध में कहा है, वैसा ही नागकुमारों के विषय में भी कहना चाहिए। असुरकुमारों के चौंसठ लाख भवन हैं, नागकुमारों के चौरासी लाख भवन हैं। सुवर्णकुमारों के बहत्तर लाख, विद्युतादि छः के छियतर लाख भवन और कुमारों के निन्यानवे लाख भवन हैं सब की पृच्छा की गई है।

पृथ्वीकायिकों के स्थितिस्थान आदि

मूलपाठ

प्रश्न–असंखिज्जेसु णं भंते! पुढवि काइया वास सयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढवि काइयावासंसि पुढविक्काइयाणं केवइया ठिइट्ठाणा पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! असंखेज्जा ठिइट्ठाणा पण्णत्ता तंजहा– जहण्णिया ठिई जाव तप्पाउग्गुक्कोसिया ठिई।

प्रश्न–असंखेज्जेसु णं भंते। पुढविक्काइया– वाससयसहस्सेसु एगमेगंसि पुढविक्काइयावासंसि जहण्णियाए ठिईए वट्टमाणा पुढविक्काइया किं कोहोवउत्ता, माणोवउत्ता, मायोवउत्ता, लोभोवउत्ता?

उत्तर–गोयमा! कोहोवउत्ता वि, माणोउवत्ता वि, मायोवउत्ता वि, लोभोवउत्ता वि। एवं पुढविक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं। णवरं तेउलेस्साए असीतिभंगा, एवं आउक्काइया वि। तेउक्काइया, वाउक्काइयाणं सव्वेसु वि ठाणेसु अभंगयं। वणस्सइकाइया जहा पुढविक्काइया।

संस्कृत छाया

प्रश्न–असंख्येयेषु भगवन्! पृथिवी कायिकावासशत– सहस्रेषु एकैकस्मिन् पृथिवी कायिकावासे पृथिवीकायिकानां कियन्ति स्थिति स्थानानि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर–गौतमे! असंख्यानि स्थिति स्थानानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–जघन्या स्थितिर्यावत्–तत्प्रायोग्योत्कर्षिका स्थितिः।

प्रश्न–असंख्येयेषु भगवन्! पृथिवीकायिकावास शतसहस्रेषु एकैकस्मिन् पृथिवी कायिकावासे जघन्यया स्थित्या वर्तमानाः पृथिवीकायिकाः किं क्रोधोपयुक्ताः, मानोपयुक्ताः, मायोपयुक्ताः, लोभोपयुक्ताः?

उत्तर—गौतम! क्रोधोपयुक्ता अपि, मानोपयुक्ता अपि, मायोपयुक्ता अपि, लोभोपयुक्ता अपि। एवं पृथिवीकायिकानां सर्वेष्वपि स्थानेष्वभङ्गम्। नवरं तेजोलेश्याया अशीतिर्भंगः। एवं अप्कायिकाऽपि। तेजस्कायिकानां, वायुकायिकानाम् सर्वेष्वपि स्थानेष्व भगम्। वनस्पतिकायिका यथा पृथिवी—कायिकाः।

शब्दार्थ—

प्रश्न—हे भगवन्! पृथ्वीकायिकों के असंख्यात लाख आवासों में से एक—एक आवास में बसने वाले पृथ्वीकायिकों के स्थितिस्थान कितने कहे हैं?

उत्तर—हे गौतम! उनके स्थितिस्थान असंख्य कहे हैं। वे इस प्रकार—उनकी जघन्य स्थिति, एक समय अधिक जघन्य स्थिति, दो समय अधिक जघन्य स्थिति, इत्यादि यावत्—उसके योग्य उत्कृष्ट स्थिति।

प्रश्न—भगवन्! पृथ्वीकायिकों के असंख्यात लाख आवासों में से एक—एक आवास में बसने वाले और जघन्य स्थिति वाले पृथ्वी कायिक क्या क्रोधोपयुक्त हैं, मानोपयुक्त हैं, मायोपयुक्त हैं, या लोभोपयुक्त हैं?

उत्तर—हे गौतम! वे क्रोधोपयुक्त भी हैं, मानोपयुक्त भी हैं, मायोपयुक्त भी हैं और लोभोपयुक्त भी हैं। इस प्रकार पृथ्वीकायिकों के सब स्थानों में अभंगक है। विशेष यह है कि तेजोलेश्या में अस्सी भंग कहने चाहिए। इसी प्रकार अप्काय भी जानना। तेजस्काय और वायुकाय के सब स्थानों में अभंगक है। और वनस्पतिकायिक, पृथ्वीकायिक के समान समझने चाहिए।

व्याख्यान

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—प्रभो! आपने पृथ्वीकाय के जीवों के असंख्यात लाख आवास कहे हैं। ऊर्ध्वलोक में अधोलोक में और तिरछे लोक में भी पृथ्वीकायिकों के आवास हैं, इसलिए उनकी संख्या असंख्यात है। तीनों लोकों में होने के कारण उनके आवासों की नियत संख्या का पता नहीं लगता, लेकिन प्रभो! एक—एक आवास में बसने वाले पृथ्वी कायिकों के स्थिति—स्थान कितने हैं?

गौतम स्वामी के प्रश्न का भगवान ने उत्तर दिया—गौतम! पृथ्वीकायिकों के एक—एक आवास में असंख्य—असंख्य स्थिति—स्थान हैं। उनकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त से लगाकर बाईस हजार वर्ष तक की है।

पृथ्वीकायिक का स्थान केवल शरीर—रूप ही नहीं है। भगवान ने इन जीवों का स्थिति स्थान किस प्रकार लिया है, यह बात अगम्य है, इसलिए

कही नहीं जा सकती। एक–एक आवास में भी जघन्य, उत्कृष्ट और मध्यम स्थिति है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! पृथ्वीकाय के जीव क्रोधी है, मानी हैं, मायी हैं या लोभी हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने कहा–गौतम! उनमें क्रोध मान, माया और लोभ ये चारों ही बहुत हैं। यहां कोई भंग ही नहीं है। जहां किसी प्रकार का तारतम्य हो, वहीं भंग हो सकते हैं। यहां तारतम्य न होने के कारण भंग नहीं होते।

स्थितिस्थानों की तरह शेष नौ बातें भी कहनी चाहिएं। ऊपर असुरकुमारों के संबंध में जो कहा है, वही पृथ्वीकायिकों के विषय में समझना।

जो बात बिन्दु में है, वही सिन्धु में भी है। सिन्धु में जो खेल दिखलाई देता है, वही बिन्दु में भी दिखाई देता है। लोगों की स्थूल दृष्टि सिन्धु का खेल तो कदाचित् देख लेती है, लेकिन बिन्दु का खेल नहीं देख पाती। मगर सूक्ष्म दृष्टि से देखो तो मालूम होगा–जो खेल सिंधु में है, वही बिन्दु में भी है। अगर सिंधु के खेल बिन्दु में न हो तो बिन्दु बिन्दु से बने हुए सिंधु में वह कहां से आए? उदाहरण के लिए–एक गेहूं के दाने में उससे उत्पन्न होने वाला पौधा, पत्ती आदि दिखाई नहीं देती, परन्तु वैज्ञानिकों ने यह देख लिया है कि गेहूं के दाने के उगने पर उनकी जो स्थिति होती है, वह स्थिति उस दाने में मौजूद है। जो बात बड़ में है, वह उसके बीज में भी है। हां, स्थूल दृष्टि से न दिखाई देने के कारण ही यह नहीं कहा जा सकता कि वृक्ष की स्थिति बीज में है।

बहुत से लोग खनिज पदार्थो में जीव होना ही असंभव मानते थे उनकी स्थिति, संहनन, संस्थान आदि को मानना और समझना तो और भी कठिन माना जाता था। लेकिन ज्ञानी जन कहते हैं–अगर पृथ्वीकाय के जीवों में भी ये दस बाते न हों तो जीवपना ही नहीं रह सकता। भले ही हम लोग उनकी यह दस बातें न जान सकें, मगर भगवान तो जानते हैं।

भगवान फरमाते हैं–गौतम! पृथ्वी के जीवों की तरह जल के जीवों के संबंध में भी जानना चाहिए।

जैसे पृथ्वी में जीव हैं, उसी प्रकार जल में भी हैं। यहां यह कहा जा सकता है कि पृथ्वीकाय के जीव तो सिद्ध हुए नहीं और उनके समान जल में जीव बतला दिये, सो यह कैसे समझा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि पृथ्वीकाय में जीव है, यह बात चाहे स्पष्ट रूप से हमें प्रतीत न हो फिर भी विशिष्ट ज्ञानियों द्वारा यह जानी गई है। पृथ्वी में जीव होने की बात हमारे मस्तिष्क की उपज नहीं है, यह ज्ञानियों के साक्षात्कार का परिणाम है।

ज्ञानियों ने पृथ्वी में जीव बतलाने के साथ ही ऐसा उपाय बतलाया है जिससे हम इस विषय में विश्वास भी कर सकते हैं।

यह तो देखा ही जाता है कि खुदी हुई खदान फिर भर जाती है। साइंस द्वारा पत्थरों का बढ़ना भी सिद्ध हो चुका है। बढ़ना जीव की शक्ति का ही आवेश है। निर्जीव चीज स्वयं नहीं वढ़ सकती। पत्थर किस प्रकार बढ़ता है, यह बात अपने आप से ही देखो। मनुष्य के हाथ–पैर बचपन में छोटे–छोटे होते हैं, फिर धीरे–धीरे बढ़ जाते हैं। क्या पैर बोलता, खाता या पीता है? 'नहीं!'

पैर की हड्डी पत्थर जैसी होती है, फिर भी पैर बढ़ा तो क्या चैतन्य की शक्ति के बिना ही बढ़ा है? अथवा चैतन्य शक्ति के कारण उसमें वृद्धि हुई है? जैसे चैतन्य शक्ति के द्वारा पैर की हड्डी बढती है, उसी प्रकार पत्थर भी बढ़ता है। अतएव यह मानना उचित ही होगा कि जैसे हड्डी में जीव है, उसी प्रकार पत्थर में भी जीव है। स्वर्गीय जगदीशचन्द्र वसु ने भी यह बात सिद्ध की है कि जैसे बिजली मनुष्य के शरीर में है, वैसी ही बिजली पृथ्वी में भी है। उन्होंने यंत्रों की सहायता से पृथ्वी में भी जीव का अस्तित्व प्रमाणित किया है।

पृथ्वी की तरह पानी में भी जीव है। पानी में पड़े हुए कीड़े–मकोड़े ही पानी के जीव नहीं हैं, किन्तु पानी ही जीव का पिंड है। यह पूछा जा सकता है कि पानी में जीव होने का क्या प्रमाण है? मगर इससे पहले हमें यह भी सोचना चाहिए कि हमारे शरीर में जीव है या नहीं, इस बात का क्या प्रमाण है? जब मनुष्य को क्लोरोफॉर्म सुंघा दिया जाता है, तब उसके शरीर में जीव रहता है या नहीं? मूर्छित–अवस्था में कभी श्वास भी बन्द हो जाता है। उस समय भी जीव होता है या नहीं? अगर होता है तो जीव होने न होने की पहचान क्या है? जीव है या नहीं, इसकी पहचान शरीर की गर्मी या ठंडक है। शरीर में जीव होने पर शरीर गर्म रहता है और जीव निकल जाने पर शरीर ठंडा हो जाता है। शरीर में जीव होने न होने की यही पहचान है। शरीर की उष्णता जीव का लक्षण है। पानी में भी ऐसे ही लक्षण वाले जीव हैं। अगर मनुष्य जाड़े के दिनों में, भूमि के भीतरी भाग में–भोंयरे में सोएगा तो उसका शरीर बाहर निकलने पर गर्म रहेगा और गर्मी के मौसम में ऐसे स्थान पर सोएगा तो शरीर ठंडा रहेगा। जाड़े के दिनों में मुंह से भाप निकलती है। यह भी जीव का लक्षण है। यह लक्षण पानी के जीवों में भी मनुष्यों की ही तरह पाये जाते हैं। गहरे कुएं में, गर्मी के दिनों में पानी ठंडा रहता है और जाड़े

के दिनों में गर्म रहता है। पानी में से भी भाप निकलती है। पानी में जीव हैं, यह बात समझाने के लिए ज्ञानियों ने अनेक उदाहरण और हेतु बतलाये हैं। गर्मी–सर्दी आदि का जो प्रमाण आपके शरीर में मिलता है, वही पानी में भी मिलता है। अतएव पानी में जीव हैं, इसमें संदेह नहीं रहता।

अगर पानी में जीव न होते तो ज्ञानियों को जीव बतलाने से क्या लाभ था! अगर कोई कहे कि अपने मजहब की विशेषता बतलाने के लिए बतला दिये होंगे तो यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि पानी में जीव बतलाने या न बतलाने से मजहब में कोई विशेषता नहीं आती। तो फिर पानी में जीव न होने पर भी जीव होना बतलाकर उन्होंने अपना कौनसा स्वार्थ–साधन किया है? ईसाई लोग मनुष्य में आत्मा मानते हैं, मगर गाय में नहीं मानते क्योंकि वे गाय का मांस–भक्षण करते हैं। जब उनसे इस विषय में प्रमाण मांगा जाता है तो कहते हैं कि ईश्वर ने पशुओं को प्राण दिया है, आत्मा नहीं दी। पशु जो चेष्टा करते हैं वह प्राण की ही चेष्टा है। मतलब यह कि ईसाइयों को गाय खाना छोड़ना नहीं था, इसलिए उन्होंने गाय में आत्मा नहीं माना। परन्तु पानी में जीव का अस्तित्व बतलाने वाले ज्ञानियों का ऐसा कौनसा स्वार्थ था, जिससे प्रेरित होकर वे पानी में जीव बतलाते? बल्कि जल में जीव बतलाने और मानने से कुछ कष्ट ही बढ़ा है, न बतलाने में अधिक स्वतंत्रता और सुविधा थी। स्वयं कष्ट उठा करके भी और असुविधाओं की चिन्ता न करके भी, केवल सत्य की खातिर जल में जीवों का अस्तित्व मानना यह उनकी महान निस्पृहता, सत्यपरायणता और आप्तता है।

जल में जीव मानकर कुछ लोगों ने साधुओं की जिम्मेवारी श्रावकों पर डाल दी है। यह नितान्त अनुचित है। शास्त्रों में श्रावक को जल का दुरुपयोग न करने का उपदेश दिया गया है। यही बात अन्य शास्त्रों में भी है कि जल वृथा नहीं बिगाड़ना चाहिए, बिना छाना जल काम में नहीं लाना चाहिए और जलाशय में घुसकर भैंस की तरह क्रीड़ा नहीं करनी चाहिए। जल जगत् का रक्षक पदार्थ है। संस्कृत भाषा में इसे 'जीवन' कहते हैं। गुलाब के इत्र के बिना संसार का काम बखूबी चल सकता है परन्तु जल के बिना नहीं चल सकता। संसार में अनेक मनुष्य ऐसे होंगे जो गुलाब के इत्र को जानते ही न होंगे, परन्तु क्या कोई मनुष्य ऐसा भी मिल सकता है जिसने कभी पानी न पिया हो? जेब में गुलाब के इत्र की शीशी पड़ी हो परन्तु जब प्यास के मारे गला सूख गया हो और मुंह से बोल न निकलता हो, तब वह इत्र काम दे सकेगा? उस समय एक लोटा जल के बदले अगर कोई इत्र की शीशी मांगे

तो कौन खुशी–खुशी नहीं दे देगा? सारांश यह है कि जल दुनिया के लिए अत्यावश्यक पदार्थ है। उसका दुरुपयोग करना उचित नहीं है। किन्तु जल छानने आदि की यतना रखनी चाहिए। जल के जीवों की रक्षा करने से आपके आत्मा की और शरीर की भी रक्षा होगी। बिना छाना पानी पीने से कभी–कभी प्राण जाने की संभावना रहती है।

बहुत से लोग मुंहपत्ती बांधने में भी शर्माते हैं। उन्हें यह नहीं मालूम कि धर्म–पालन में शर्म की क्या बात है? धर्म की दृष्टि से न सही, स्वास्थ्य की दृष्टि से ही विचार करें तो मुंहपत्ती की उपयोगिता का पता चल सकता है। सामाजिक सभ्यता के लिहाज से भी मुंह के सामने कपड़ा रखना आवश्यक समझा जाता है। कहा जा सकता है क्या मुंहपत्ती बिना समाज का आदमी नहीं समझा जा सकता। इसका उत्तर यह है कि क्या पगड़ी बांधे बिना मनुष्य नहीं कहला सकता? पगड़ी बांधे बिना भी मनुष्य, मनुष्य कहलाता है फिर भी सभ्यता के लिए पगड़ी बांधी जाती है। इसी प्रकार धार्मिक सभ्यता की भी रक्षा करनी चाहिए।

पानी छानने का छन्ना भी धर्मोपकरण में है। बैठका, मुंहपत्ती आदि निवृत्तिमार्ग के धर्मोपकरण हैं और छन्ना गलना प्रवृत्तिमार्ग का धर्मोपकरण है। प्रवृत्तिमार्ग भी धर्म के अन्तर्गत है। प्रवृत्तिमार्ग जीव के लिए स्वाभाविक है और उसमें भी धर्म हो सकता है। कहा भी है –

वस्त्रपूतं पिबेज्जलम्।

अर्थात्–वस्त्र से छानकर जल पीना चाहिए।

मतलब यह है कि जल में जीव होने की बात भगवान के परिपूर्ण ज्ञान को पुष्ट करने के साथ दया को भी पुष्ट करती है।

यहां यह कहा जा सकता है कि जब इस जल में जीव नहीं मानते थे या नहीं जानते थे तब की बात दूसरी है, लेकिन जीवों को जान बूझकर जल पियेंगे तो बड़ा पाप होगा। अगर यह विचार ठीक नहीं। यह तो ईसाइयों की सी बात हुई कि गाय में आत्मा नहीं है, यह जानकर हम गाय खाते हैं। गाय में आत्मा मानकर नहीं खाते। जैन धर्म ऐसा झूठा आश्वासन नहीं देता कि हम जल पीते हैं, इसलिए जल में जीव ही न मानें। जल में जीव है, फिर भी जल पीना नहीं छोड़ा जा सकता। यह बात दूसरी है, लेकिन जल का उपकार तो मानना ही चाहिए। कर्ज लेना अच्छा नहीं है, फिर भी आवश्यकता होने पर कर्ज लेना ही पड़ता है परन्तु कर्ज को कर्ज तो मानना ही चाहिए। जिस प्रकार किसी सेठ की एक दुकान से लिया हुआ कर्ज उसकी दूकान पर

जमा कराने से चुक जाता है, उसी प्रकार जल का कर्ज दूसरे जीवों को चुकाया जा सकता है। जल पीने में सूक्ष्म हिंसा है, स्थूल हिंसा नहीं है। जल में जीव मानकर जल पीने से पाप लगेगा, इसलिए जल में जीव ही न मानना घोर अज्ञान है। इसमें हिंसा का पाप तो टलता नहीं और मिथ्यात्व का पाप अधिक लगता है, क्योंकि सजीव को निर्जीव मानना मिथ्यात्व है। जगदीशचन्द्र बसु ने वनस्पति में भी जीव सिद्ध किये हैं, तो क्या वनस्पति खाने वाले यह कहेंगे कि हम वनस्पति में जीव न मान कर वनस्पति खाते थे, जो पाप से बचे हुए थे। अब जगदीशचन्द्र बसु ने जीव बतलाकर ऐसी मूर्खता की कि हमें पाप लगने लगा। कोई भी समझदार आदमी ऐसा नहीं कहेगा। वह कहेगा--वनस्पति खाये बिना मेरा काम नहीं चलता इसलिए खाता हूं, मगर इसका बदला दूसरी तरह से चुका दूंगा।

द्वीन्द्रियादि जीव

मूलपाठ –

बेइंदिय–तेइंदिय–चउरिंदियाणं जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीइभंगा तेहिं ठाणेहिं असीइं चेव। णवरं–अब्महिया सम्मत्ते, आभिणिबोहियणाणे, सुयणाणे य एएहिं असीइभंगा। जेहिं ठाणेहिं णेरइयाणं सत्तावीसं भंगा तेसु ठाणेसु सव्वेसु अभंगयं।

पंचिंदिय तिरिक्ख जोणिया जहा नेरइया तहा भाणियव्वा। णवरं–जेहिं सत्तावीसं भंगा तेहिं अभंगयं कायव्वं। जत्थ असीति तत्थ असीतिं चेव।

संस्कृत–छाया –

द्वीन्द्रिय–त्रीन्द्रिय–चतुरिन्द्रियाणां यैः स्थानै नैरयि–काणाम् अशीतिर्भगस्तैः स्थानैरशीतिश्चैव। नवरम्– अभ्यधिकाः सम्यक्त्वे, आभिनिबोधिकज्ञाने, श्रुतज्ञाने च एतैरशीतिर्भङ्गाः।यैः स्थानैरयिकाणां सप्तविंशतिर्भङ्गास्तेषु स्थानेषु सर्वेषु अभङ्गगकम्।

पंचेन्द्रिय तिर्यग्योनिका यथा नैरयिकास्तथा भणितव्याः, नवरम् यः सप्तविंशतिर्भगाः नैरभङ्गकम् कर्त्तव्यम्। यत्राशीतिस्तत्राशीतिश्चैव।

शब्दार्थ–

जिन स्थानों में नारक जीवों के अस्सी भंग कहे हैं, उन स्थानों से द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चौ–इन्द्रिय जीवों के भी अस्सी भंग होते हैं। विशेषता यह है कि–सम्यक्त्व, आभिनिबोधिकज्ञान और श्रुतज्ञान–इन तीन स्थानों में भी द्वीन्द्रिय आदि जीवों के अस्सी भंग होते हैं यह बात नारकी जीवों से अधिक है। तथा जिन स्थानों में नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, उन सभी स्थानों में यहां अभंगक है–अर्थात् कोई भंग नहीं होते।

जैसा नैरयिकों के विषय में कहा, वैसा ही पंचेन्द्रिय तिर्यंच योनिवाले जीवों के विषय में समझना चाहिए। विशेपता यह है कि–जिन स्थानों में

नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, उन स्थानों में यहां अभंगक कहना–अर्थात् उन स्थानों में यहां भंग नहीं होते। और जहां नारकों में अस्सी भंग कहे हैं, वहां पंचेन्द्रिय तिर्यंचो में भी अस्सी भंग ही कहना चाहिए।

विशेषार्थ ✱

पहले नारकी जीवों के प्रकरण में संख्यात समय अधिक तक जघन्य स्थिति में, जघन्य अवगाहना में, संख्यात प्रदेश अधिक तक जघन्य अवगाहना में और मिथ्यादृष्टि की स्थिति में अस्सी भंग कहे हैं। यहां विकलेन्द्रिय अर्थात् दो इन्द्रिय, तीन–इन्द्रिय और चौ–इन्द्रिय जीवों के संबंध में भी इन स्थानों में अस्सी भंग ही समझने चाहिएं। मगर मिथ्यादृष्टि वालों के अस्सी भंग नहीं समझना। यहां अस्सी भंग बतलाने का कारण यह है कि विकलेन्द्रिय जीव अल्प होते हैं, अतएव उनमें एक–एक जीव भी कदाचित् क्रोधादि–उपयुक्त हो सकता है। मिश्र दृष्टि वालों के अस्सी भंगों के निषेध करने का कारण यह है कि विकलेन्द्रियों में मिश्रदृष्टि होती ही नहीं है। अतएव मिश्रदृष्टि वालों का यहाँ प्रश्न ही नहीं उठता।

दृष्टि द्वार और ज्ञानद्वार में नारकी जीवों के सत्ताईस भंग कहे हैं, मगर यहां अधिक अर्थात् अस्सी भंग समझने चाहिएं क्योंकि बहुत थोड़े विकलेन्द्रियों को सास्वादन सम्यक्त्व होता है और थोड़े होने के कारण एकत्व संभव। इस प्रकार एकत्व होने के कारण अस्सी भंग कहे गये हैं। यही बात आभिनिबोधिक ज्ञान (मतिज्ञान) और श्रुतज्ञान के लिए भी समझनी चाहिए। इनमें भी अस्सी भंग कहना चाहिए।

जिन–जिन स्थानों में नारकी जीवों के संबंध में सत्ताईस भंग बतलाये गये हैं, उन–उन स्थानों में विकलेन्द्रियों के संबंध में अभंगक अर्थात् भंगों का अभाव कहना चाहिए। अभंगक कहने का कारण यह है कि विकलेन्द्रिय जीवों में क्रोधादि उपयुक्त जीव एक साथ बहुत पाये जाते हैं।

तिर्यंच पंचेन्द्रियों के विषय में नारकी जीवों के समान प्ररूपणा समझनी चाहिए। मगर विशेषता यह है कि जिन स्थानों में नारकों में सत्ताईस भंग कहे हैं, इन स्थानों में यहां अभंगक कहना चाहिए, क्योंकि क्रोधादि–उपयुक्त पंचेन्द्रिय तिर्यंच एक ही साथ बहुत पाये जाते हैं। नारकी जीवों में जहां अस्सी भंग कहे गये हैं, वहां अस्सी भंग ही इन जीवों के संबंध में भी समझने चाहिएं।

✱ पूज्य श्री का ता. 2–4–44 का एक व्याख्यान उपलब्ध नही है जिससे इस पाठ का और इस उद्देशक के अन्त तक के पाठों पर व्याख्यान किया गया था। इसलिए केवल विशेषार्थ ही दिया है।

मनुष्य

मूलपाठ–

मणुस्सा वि जेहिं ठाणेहिं नेरइयाणं असीतिभंगा तेहिं ठाणेहिं मणुस्साणं वि असीतिभंगा भाणियव्वा। जेसु ठाणेसु सत्तावीसा तेसु अभंगयं। णवरं–मणुस्साणं अब्महियं जहण्णियठिइए, आहारए य असीतिभंगा।

संस्कृत छाया –

मनुष्या अपि यः स्थानैः नैरयिकाणामशीतिर्भङ्गास्तेः स्थानैर्मनुष्याणामपि अशीतिर्भङ्गा भणितव्याः। येषु स्थानेषु सप्तविंशतिस्तेषु अभग कम्। नवरं–मनुष्याणामभ्याधिकं जघन्यस्थित्यां, आहारके चाशीतिर्भङ्गाः।

शब्दार्थ–

नारकी जीवों में जिन–जिन स्थानों में अस्सी भंग कहे हैं, उन–उन स्थानों में मनुष्यों में भी अस्सी भंग कहने चाहिएं। और नारकियों में जिन स्थानों में सत्ताईस भंग कहे हैं, उन स्थानों में, मनुष्यों में अभंगक कहना चाहिए। विशेषता यह है कि मनुष्यों में जघन्य स्थिति में और आहारक शरीर में अस्सी भंग कहने चाहिए।

विशेषार्थ

पहले नारकी जीवों का दस द्वारों से विवेचन किया जा चुका है। उन द्वारों से जिन द्वारों में नारयिकों के अस्सी भंग कहे हैं, उन द्वारों में मनुष्य के संवंध में भी अस्सी भंग ही समझने चाहिएं। एक समय अधिक जघन्य स्थिति से लेकर असंख्यात समय अधिक तक की जघन्य स्थिति में जघन्य अवगाहना में तथा एक दो प्रदेश अधिक जघन्य अवगाहना से लेकर असंख्यात प्रदेश अधिक तक की जघन्य अवगाहना में और मिश्रदृष्टि में नारकी जीवों के

विषय में अस्सी भंग कहे हैं। इन द्वारों में मनुष्य-संबंधी भंग भी अस्सी ही समझने चाहिएं, क्योंकि ऐसे मनुष्य कम होते हैं।

मगर इस कथन का आशय यह न समझ लिया जाय कि नारकी और मनुष्य की सम्पूर्ण प्ररूपणा एक समान ही है दोनों की प्ररूपणा में अन्तर भी है। वह अन्तर यह है कि जिन स्थानों में नारकियों के सत्ताईस भंग बतलाये हैं, वहां मनुष्यों में अभंगक समझना चाहिए। इसका कारण यह है कि नारकी जीवों में अधिकांशतः क्रोध का ही उदय होता है, इस कारण नारकियों में सत्ताईस भंग कहे गये हैं, किन्तु मनुष्य क्रोधादि सभी कषायों में उपयुक्त बहुत पाये जाते हैं और उनके कषायोदय में कोई खास विशेषता नहीं है। इसलिए मनुष्य के संबंध में भंगों का अभाव बतलाया गया है।

मनुष्य की प्ररूपणा में इतनी बात नारकियों से अधिक समझनी चाहिए-जघन्य स्थिति में मनुष्यों के अस्सी भंग होते हैं, जबकि नारकियों के सत्ताईस ही होते हैं। और आहारक शरीर में मनुष्यों में अस्सी भंग समझने चाहिएं। आहारक शरीर वाले मनुष्य कम ही होते हैं अतएव उनके अस्सी भंग कहे हैं। नारकियों में आहारक शरीर होता ही नहीं है।

वाण व्यन्तर

मूलपाठ

वाणमंतर–जोइस वेमाणिया जहा भवणावासी णवरं– णाणत्तं जाणियव्वं जं जस्स, जाव अणुत्तरा।

सेवं भते! सेवं भंते! त्ति जाव विहरइ।

संस्कृत छाया

वानव्यन्तर–ज्योतिष्क–वैमानिका यथा भवनवासिनः। नवरं नानात्वं ज्ञातव्यं, यद् यस्य, यावद्–अनुत्तराः।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति यावत्–विहरति।

शब्दार्थ

वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक देव, भवनवासियों के समान जानने चाहिएं। विशेषता यह है कि जिसकी जो भिन्नता है वह जाननी चाहिए। यावत् अनुत्तर विमान तक जानना।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। ऐसा कहकर यावत् गौतम स्वामी विचरते हैं।

विशेषार्थ

पहले भवन वासियों का दस द्वारों में वर्णन किया गया है। उसी वर्णन के अनुसार वाण व्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिकों का वर्णन समझना चाहिए। भवन वासियों के जहां अस्सी भंग कहे हैं वहां अस्सी भंग और जहां सत्ताईस भंग कहे हैं वहां सत्ताईस भंग वाणव्यंतर आदि के भी समझ लेना चाहिए।

भवनवासी और व्यंतर देवों का वर्णन एक समान है। किन्तु ज्योतिषी और वैमानिकों के वर्णन में कुछ अन्तर है। यह बात प्रकट करने के लिए ही कहा गया है कि जिसमें जहां जो विशेषता हो वह जान लेनी चाहिए जैसे

लेश्या द्वार में ज्योतिषी देवो में सिर्फ एक तेजोलेष्या ही पाई जाती है। ज्ञान द्वार में तीनों ज्ञान और तीनों अज्ञान पाये जाते हैं। असंज्ञी ज्योतिषी दोनों में उत्पन्न नहीं होते अतएव विभंगज्ञान पर्याप्त अवस्था में भी होता है।

वैमानिक देवों में भी लेश्याद्वार में भवनवासियों से कुछ भिन्नता है। वैमानिकों में तेजोलेश्या आदि–तीन शुभ लेश्याएं ही पाई जाती हैं। इसी प्रकार ज्ञानद्वार में तीन ज्ञान और तीन अज्ञान यहां कहने चाहिएं।

'सेवं भंते, सेवं भंते' पदों का विवेचन पहले के समान ही समझना चाहिए।

श्रीमद्भगवती सूत्र

प्रथम शतक

षष्ठोद्देशक

विषय प्रवेश

प्रत्येक उद्देशक आदि में जिस प्रकार उपोद्धात किया गया है, उसी प्रकार का यहां भी कर लेना चाहिये। पांचवें उद्देशक के साथ इस छठे उद्देशक का क्या संबंध है, यह जान लेना आवश्यक है। पांचवें उद्देशक के अन्त में कहा गया है कि असंख्यात ज्योतिषी देवों के असंख्यात स्थान हैं। जो देव ज्योतिर्मय हैं, उन्हें ज्योतिष्क कहते हैं। चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारा, यह पांच प्रकार के ज्योतिष्क देव हैं।

पांचवें उद्देशक के अन्त में ज्योतिष्क और वैमानिक देवों का वर्णन किया था। इन दोनों प्रकार के देवों में क्या अन्तर है? इसका अन्तर यह है कि ज्योतिषी देव दिखाई देते हैं, और वैमानिक देव नहीं दिखाई देते।

कई लोग कहते हैं, कि स्वर्ग नहीं देखा, लेकिन स्वर्ग भले ही न देखा हो मगर चन्द्र, सूर्य तो प्रतिदिन दिखाई देते ही हैं। जब चन्द्रमा और सूर्य हैं तो उनमें बसने वाले भी कोई देव होंगे ही। ये चन्द्र और सूर्य हमें जो दिखाई देते हैं, ज्योतिषी देवों के विमान हैं। यही चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र और तारे रूप में प्रत्यक्ष दिखाई पड़ते हैं। कदाचित् चन्द्र, नक्षत्र, ग्रह और तारे किसी समय न दिखाई दें तो भी सूर्य तो बिना नागा किये प्रतिदिन प्रत्यक्ष होता है। अतएव इस उद्देशक में सूर्य के संबंध में प्रश्न करते हैं।

प्रश्न–जावइयाओ ओणं भंते! उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं हव्वमागच्छति, अत्थमंते वियणं सूरिए तावइयाओ चेव उवासंतराओ चक्खुप्फासं! हव्व मागच्छति?

उत्तर—हंता, गोयमा! जावइयाओ णं उवासंतराओ उदयंते सूरिए चक्खुप्फासं। अत्थमंते वि सूरिए जाव हव्वमागच्छति।

प्रश्न—जावइया णं भंते! खित्तं उदयंते सूरिए आयवेणं सव्वओ समंता ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ, पभासेइ, अत्थमंते वि य णं सूरिए तावइयं चेव खित्तं आयवेणं सव्वओ समंता ओभासेइ, उज्जोएइ, तवेइ पभासेइ?

उत्तर—हंता, गोयमा! जावतियं णं खित्तं जाव—पभासेइ।

प्रश्न—तं भंते! किं पुट्ठं ओभासेइ, अपुट्ठं ओभासेइ?

उत्तर—जाव—छद्दिसिं ओभासेइ। एवं उज्जोवेइ तवेइ, पभासेइ, जाव नियमा छद्दिसिं।

प्रश्न—से णूणं भंते! सव्वं ति सव्वावंति फुसमाण काल समयंसि जावतियं खेत्तं फुसइ तावतियं 'फुसमाणे पुट्ठेत्ति वत्तव्वं सिया!

उत्तर—हंता, गोयमा! सव्वं ति जाव वत्तव्वं सिया।

प्रश्न—तं भंते! किं पुट्ठं फुसइ, अपुट्ठं फुसइ!

उत्तर—जाव—नियमा छद्दिसिं।

संस्कृत छाया

प्रश्न—यावतो भगवन्! अवकाशान्तरात् उदयन् सूर्यश्चक्षुःस्पर्श शीघ्रमागच्छति, अस्तमयन्नपि च सूर्यस्तावतश्चैव अवकाशान्तरात् चक्षुःस्पर्शम्?

उत्तर—हन्त गौतम! यावतोऽवकाशान्तरात् उदयत् सूर्यश्चक्षुः स्पर्शम्, अस्तमयन्नपि सूर्यो यावत्—शीघ्रमागच्छति।

प्रश्न—यावद् भगवन्! क्षेत्र मुदयन् सूर्य आतपेन सर्वतः समन्ततोऽवभासयति, उद्द्योतयति, तपति, प्रभासयति, अस्तमयन्नपि च सूर्यस्तावच्चैव क्षेत्रम् आतपेन सर्वतः समन्ततोऽवभासयति, उद्द्योतयति, तपति, प्रभासयति?

उत्तर—हन्त, गौतम! यावत्कं क्षेत्रं यावत् भासयति।

प्रश्न—तद् भगवन्! किं स्पृष्टमवभासयति, अस्पृष्टमवभासयति?

उत्तर—यावत्—षड्दिशमवभासयति, एवमुद्द्योतयति, तपति, प्रभासयति, यावत् नियमात् षड्दिशम्।

प्रश्न—तद् नूनं भगवन्! सर्वत इति सर्वायमिति स्पृश्यमान काल समये यावत्कं क्षेत्रं स्पृशति, तावत्कं स्पृश्यमानं स्पृष्टम् इतिवक्तव्यं स्यात्?

उत्तर—हन्त, गौतम! सर्वमिति यावत् वक्तव्यं स्यात्।

प्रश्न—तद् भगवन्! किं स्पृष्टं स्पृशति, अस्पृष्टं स्पृशति?

उत्तर—यावत्—नियमात् षड्दिशम्।

प्रश्न—भगवन्! जितने अवकाशान्तर से अर्थात् जितनी दूरी से उगता सूर्य आंखों से देखा जाता है, उतनी ही दूरी से अस्त होता हुआ सूर्य भी शीघ्र दिखाई देता है?

उत्तर—हे गौतम! हां, जितनी दूर से उगता सूर्य आंखों से दीखता है, उतनी ही दूर से अस्त होता सूर्य भी आंखों से दिखाई देता है।

प्रश्न—भगवन्! उदय होता हुआ सूर्य अपने ताप द्वारा जितने क्षेत्र को, सब प्रकार, चारों ओर से, सभी दिशाओं और विदिशाओं में—प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और खूब उष्ण करता है, उतने ही क्षेत्र को सब दिशाओं में और सब विदिशाओं में अस्त होता सूर्य भी अपने ताप द्वारा प्रकाशित करता है? उद्योतित करता है? तपाता है? खूब उष्ण करता है?

उत्तर—हे गौतम! हां उगता सूर्य जितने क्षेत्र को प्रकाशित करता है उतने ही क्षेत्र को अस्त होता सूर्य भी प्रकाशित करता है यावत् खूब उष्ण करता है।

प्रश्न—भगवन्! सूर्य जिस क्षेत्र को प्रकाशित करता है, वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट स्पर्श किया हुआ होता है या अस्पृष्ट होता है?

उत्तर—हे गौतम! वह क्षेत्र सूर्य से स्पृष्ट होता है और यावत् उस क्षेत्र को छहों दिशाओं में प्रकाशित करता है, उद्योतित करता है, तपाता है और खूब तपाता है। यावत् नियमपूर्वक छहों दिशाओं में खूब तपाता है।

प्रश्न—भगवन्! स्पर्श करने के काल—समय में सर्वाय—सूर्य के साथ संबंध रखने वाले जितने क्षेत्र को सर्व दिशाओं में सूर्य स्पर्श करता है उतना स्पर्श किया जाता हुआ वह क्षेत्र 'स्पृष्ट' कहा जा सकता है?

उत्तर—हे गौतम! हां, सर्व यावत् वह स्पृष्ट है ऐसा कहा जा सकता है।

प्रश्न—भगवन्! सूर्य स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है या अस्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है?

उत्तर—हे गौतम! स्पृष्ट क्षेत्र का स्पर्श करता है। यावत्—नियम से छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

व्याख्यान

गौतम स्वामी का पहला प्रश्न यह है कि भगवन् ! उगता सूर्य, जितनी दूर से आंखों से दिखाई पड़ता है, क्या डूबता हुआ सूर्य भी उतनी ही

दूर से आंखों से नजर आता है? गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हां, गौतम! उगता हुआ और डूबता हुआ सूर्य, समान दूरी से आंखों से दिखाई देता है।

यहां यह आशंका होती है कि गौतम स्वामी ने यह प्रश्न क्यों उठाया है? इसका क्या प्रयोजन है?

सूर्य के संबंध में एक सौ चौरासी (184) मंडल का अधिकार कहा है! कर्क की संक्रान्ति पर सूर्य सर्वाभ्यन्तर (सब के पीछे वाले) मंडल में रहता है। उस समय वह भरत क्षेत्र में रहने वालों को 47263 योजन दूरी से दीखता है। इसीलिए यहां गौतम स्वामी ने जितनी दूर से इस प्रकार समुच्चय रूप में कहा है।

इन्द्रियां दो प्रकार की है – प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी। जो इन्द्रियां अपने ग्राह्य विषय को स्पर्श करके जानती हैं वह प्राप्यकारी कहलाती हैं। स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र– ये चार इन्द्रियां प्राप्यकारी हैं। जब तक स्पर्शनेन्द्रिय के साथ स्पर्श का संबंध न हो तब तक वह स्पर्श को नहीं जान सकती। इसी प्रकार रसना इन्द्रिय के साथ जब रस का स्पर्श होता है, तभी रसना को खट्टे मीठे आदि रस का ज्ञान होता है। यही बात घ्राण के संबंध में है। गंध के आधारभूत पुद्गल जब नाक को छूते हैं, तभी नाक सुगंध या दुर्गंध को जान पाता है। कान उसी शब्द को सुनता है, जो कान में आकर टकराता है। अतएव यह चारों इन्द्रियां प्राप्यकारी कहलाती हैं। केवल चक्षु इन्द्रिय अप्राप्यकारी है। अर्थात् वह अपने विषय रूप को छुए बिना ही, दूर से देख लेती है। स्पर्श होने पर तो वह अपने में रहे हुए काजल को भी नहीं देख पाती फिरों औरों की तो बात ही कहां है?

प्रस्तुत प्रश्न में गौतम स्वामी ने चक्षु के साथ स्पर्श कहा है, अतएव यह प्रश्न उपस्थित होता है कि शास्त्र में एक जगह तो चक्षु को अप्राप्यकारी कहा है और यहां चक्षु के साथ सूर्य का स्पर्श होना क्यों कहा है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि यहां चक्षु के साथ सूर्य का स्पर्श होना कहा है सो यह केवल अलंकार है। जैन शास्त्रों में तो बहुत कम अलंकारिक भाषा का प्रयोग किया गया है, परन्तु पुराणों में अलंकार का इतना बाहुल्य है कि कई लोग भ्रम में पड़ जाते हैं। अलंकारों के भीतर छिपी हुई बात को समझने का प्रयत्न करना चाहिए। उसी से सच्चाई का पता चलता है।

यहां सूर्य और आंखों के स्पर्श का अर्थ यह नहीं है कि जैसे आंखों का काजल के साथ सम्बन्ध होता है, वैसा सूर्य के साथ भी होता है। सूर्य

मंडल आंखों में आ पड़ता है अथवा आंख शरीर से बाहर निकल कर सूर्य मंडल में जा पहुंचती है। ऐसा समझना अज्ञान होगा और यह दोनों ही बातें प्रत्यक्ष से बाधित हैं। इसका अर्थ सिर्फ यह है कि अगर आंख पर जरा सा भी पर्दा पड़ा हो या आंख बन्द हो तो सूर्य नहीं दिखेगा। सूर्य का मंडल तभी दिखाई देगा जब आंखें खुली हों और दोनों के बीच अतिशय दूरी न हो तथा अन्य कोई बाधक आड़ न हो। इस प्रकार सूर्य–मंडल के दिखाई देने को ही यहां स्पर्श होना कहा है।

आंखों की शक्ति सूर्य को देखने जितनी नहीं है, न आंखों का इतना विषय ही है। आंख का विषय एक लाख योजन (कच्चा) कहा जाता है। यह भी सर्व साधारण को प्राप्त नहीं। लब्धिधारी ही इतनी दूर की वस्तु देख सकता है। अतएव इतने ऊंचे सूर्य को देखने की शक्ति आंखों में नहीं है। परन्तु सूर्य अपनी रोशनी से ऐसा हो जाता है कि वह छोटे से छोटे को भी दिखाई पड़ता है। आंखों पर भी सूर्य ही प्रकाश डालता है; तभी आंखें देखने में समर्थ होती हैं अन्यथा नहीं। इस अपेक्षा से सूत्र में चक्षु का स्पर्श कहा है।

बहुत लोग ऐसे हैं जिन्हें स्वर्ग के विषय में सन्देह है। पर क्या दिखाई देने वाला सूर्य–मंडल स्वर्ग के अस्तित्व का प्रमाण नहीं है ? जब सूर्य–मंडल प्रत्यक्ष है तो उस में रहने वाले भी कोई होंगे ही। आजकल के वैज्ञानिक भी मंगल के तारे में सृष्टि बतलाते हैं और कहते हैं कि वहां रहने वालों से बातचीत करने का प्रयत्न जारी है। ऐसी अवस्था में स्वर्ग के विषय में सन्देह कैसे किया जा सकता है?

सिद्धांत कहता है कि स्वर्ग के विषय में सन्देह करने की जरूरत नहीं है। स्वर्ग के विषय में सन्देह करने का कारण तब हो सकता था, जब हम स्वर्ग बतलाकर उसका प्रलोभन देकर स्वर्ग पाने का उपदेश देते ! जैन सिद्धांत तपस्या का महत्व बतलाता है और इसलोक तथा परलोक संबंधी आकांक्षा का त्याग करने का उपदेश देता है।

बहुत से लोग, जनता को लालच दिखलाकर धर्म का उपदेश देते हैं। जैसे ईसाई बिना स्त्री वाले को स्त्री देकर, वस्त्रहीन को वस्त्र और भोजन जिसके पास न हो उसे भोजन देकर अपने धर्म में मिलाते हैं। यद्यपि उनके धर्मग्रंथ बाईबिल में ऐसा करने का नहीं लिखा है कि लालच देकर दूसरे को अपने धर्म में मिलाओ, मगर उनके धर्मगुरुओं ने, पोपों और पादरियों ने यह चाल चलाई है कि लोभ देकर लोगों को अपने धर्म में मिला लिया जाय। जैन धर्म और जैन साधु ऐसा कोई भी लोभ नहीं देते। ऐसी दशा में यह कैसे कहा

जा सकता है कि स्वर्ग न होते हुए भी जैन सिद्धांत ने स्वर्ग का अस्तित्व बतलाया है। जैन धर्म तो सब प्रकार के पारलौकिक सुखों की भी कामना न करने का विधान करता है। गीता भी यही कहती है–

कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन।

कर्त्तव्य करो, फल की कामना मत करो। इस प्रकार का उपदेश प्रलोभनों के त्याग के लिए है, प्रलोभन के लिए नहीं। जैन शास्त्रों में लोभ दिखाने के उद्देश्य से स्वर्ग का वर्णन नहीं किया गया है, बल्कि स्वर्ग का वर्णन करके यह दिखाया गया है कि–मनुष्यों ! तुम अपने सुखों पर क्या गर्व करते हो ! जरा स्वर्ग की सम्पदा को भी देखो, कितनी अनुपम है। लेकिन तुम उसकी भी कामना मत करो। केवल आत्मा और परमात्मा में जुदाई करने वाले कर्मों को नष्ट करने की कामना करो। कर्मों का नाश होने पर ही तुम्हें सच्चे, पूर्ण और स्वाभाविक सुख प्राप्त हो सकते हैं। अतएव स्वर्ग लोक का विधान कल्पित नहीं है और उसमें संदेह करने का कोई कारण भी नहीं है।

सूर्य को देखने की जो बात कही गई है, वह सब जगह और सब समय के लिए एकसी नहीं है। शास्त्रकारों ने प्रत्येक मंडल से सूर्य के दिखलाई देने का हिसाब अलग अलग दिया है। सूर्य जब मंडल में होता है तब भरतक्षेत्र वालों को 47263 योजन दूर से दिखलाई देता है। अन्यान्य मंडलों में जब सूर्य होता है, तब कितनी–कितनी दूर से देखा जा सकता है, इसका विशद वर्णन जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति में दिया गया है। जिज्ञासुओं को वहां देख लेना चाहिए।

जब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! उगता हुआ सूर्य जितने लम्बे–चौड़े, ऊंचे या गहरे क्षेत्र को प्रकाशित करता है, उद्द्योतित करता है, तपाता है और खूब तपाता है, उसी तरह क्या डूबता हुआ सूर्य भी उतने ही लम्बे, चौड़े, गहरे और ऊंचे क्षेत्र को प्रकाशित करता है? उद्द्योतित करता है तपाता है और खूब तपाता है? अथवा कम–ज्यादा क्षेत्र को? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फरमाया–हे गौतम! उगता हुआ सूर्य जितने क्षेत्र को प्रकाशित आदि करता है, उतने ही क्षेत्र को डूबता हुआ सूर्य भी प्रकाशित करता है, यहां तक कि खूब तपाता है। इसमें अन्तर नहीं है।

फिर गौतम स्वामी पूछते है – भगवन्! सूर्य जिस क्षेत्र को प्रकाशित करता है, उस क्षेत्र को स्पर्श करके प्रकाशित करता है या बिना स्पर्श किये ही प्रकाशित करता है? भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! उस क्षेत्र की छहों

दिशाओं को स्पर्श करके प्रकाशित करता है। इसी प्रकार छहों दिशाओं को स्पर्श करके ही उद्द्योतित करता है, तपाता है और प्रकाशित करता है।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं–प्रभो! सूर्य क्षेत्र को जब स्पर्श करने लगा, तब 'चलमाणे चलिए' इस सिद्धान्त के अनुसार स्पर्श किया ऐसा कहा जा सकता है? भगवान् फरमाते हैं हां, गौतम ऐसा कहा जा सकता है।

गौतम–भगवान्! सूर्य जब उस क्षेत्र को स्पर्श कर ही रहा है, सब क्षेत्र को स्पर्श नहीं किया है, तब स्पर्श किया ऐसा कहा जाय?

भगवान्–हां गौतम, कहा जा सकता है।

गौतम–प्रभो! सूर्य स्पर्श किये हुए क्षेत्र का स्पर्श करता है, या स्पर्श न किये हुए क्षेत्र का स्पर्श करता है?

भगवान्–हे गौतम! स्पर्श किये हुए को स्पर्श करता है।

इस प्रश्नोत्तर में ओभासेई, उज्जोएइ तवेइ, और पभासेई, यह चार क्रियापद आये हैं। इन चारों के अर्थ में क्या भेद है? यह देखना चाहिए।

प्रातःकाल में पहले सूर्य की थोड़ी सी ललाई नजर आती है सूर्य का मंडल उस समय दिखाई नहीं देता है। सूर्य के उस प्रकाश को अवभास कहते हैं और उस समय प्रकाश करना अवभासित करना कहलाता है। सुबह और शाम को जिस प्रकाश में बड़ी बड़ी वस्तुएं दीखती हैं, छोटी नहीं दीखतीं, उस प्रकाश को उद्योत कहते हैं। उस समय बड़ी वस्तुओं का प्रकाशित होना उद्द्योतित होना कहलाता है। जब सूर्य बहुत प्रकाश करता है, दैदीप्यमान हो जाता है तब उसके प्रकाश को प्रभास कहते हैं और उस समय वस्तुओं का प्रकाशित होना प्रभासित होना कहलाता है। सूर्य के प्रचंड प्रकाश से जो गर्मी फैलती है वह ताप कहलाता है और उस गर्मी को फैलाना सूर्य का तपन करना कहलाता है जहां शीत होता है वहां सूर्य का प्रखर प्रकाश पड़ने से गर्मी हो जाती है। वैज्ञानिकों ने भी यह स्वीकार किया है कि कई प्रकार का शीत ऐसा होता है कि सूर्योदय के पहले तक ठहरता है। सूर्योदय होने पर मिट जाता है। कभी–कभी ऐसा भी होता है कि सर्दी से प्राण जा रहे हों उस समय अगर सूर्योदय हो जाय तो जाते हुए प्राण रह जाते हैं।

जब शीत मिट जाय और छोटी–बड़ी सभी चीजें दिखाई देने लगें, तब कहा जाता है कि सूर्य तप रहा है। इसी का नाम 'तपति' है। भले ही सूर्य मण्डल न दिख पड़ता हो, परन्तु छोटी–छोटी चीजें अगर दिखाई देती हों, तब यह कहा जाता है कि सूर्य तप रहा है। तात्पर्य यह है कि गर्मी के प्रभाव से

जब सूर्य सर्दी को नष्ट कर देता है तथा बारीक से बारीक वस्तुएं भी नजर पड़ने लगती है, तब सूर्य का तपना कहलाता है।

यह सूर्य का सामान्य–विशेष धर्म दिखाया गया है। लेकिन सूर्य कहां प्रकाश करता है? इस सम्बन्ध में गौतम स्वामी ने क्षेत्र के लिए प्रश्न किया है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया था–सूर्य क्षेत्र को स्पर्श करके प्रकाश करता है, बिना स्पर्श किये नहीं। इस उत्तर पर यह जिज्ञासा हो सकती है कि सूर्य तो ऊपर है, फिर वह प्रकाशित होने वाले क्षेत्र का स्पर्श किस प्रकार करता है? इसका समाधान यह है कि सूर्य नीचे नहीं आता, यह सत्य है, परन्तु उसकी किरणें और प्रकाश तो नीचे आता ही है। सूर्य, किरणें और प्रकाश, यह तीनों सर्वथा भिन्न–भिन्न वस्तुएं नहीं हैं। अगर सूर्य प्रकाशमय न होता तो कौन उसे पहचानता? सूर्य की किरणें और प्रकाश क्षेत्र का स्पर्श करते हैं, अतएव सूर्य का स्पर्श करना स्वतः सिद्ध हो जाता है। प्रकाश सूर्य का ही अंग है।

उल्लिखित प्रश्नोत्तरों के अंत में जो उत्तर दिया गया है, उसमें 'जावनियमा छद्दिसिं' ऐसा पाठ आया है। इसमें 'जाव' शब्द से जिस पाठ का संग्रह किया गया है, वह इस प्रकार है :–

उत्तर–गोयमा! पुट्ठं ओभासेइ, नो अपुट्ठं।

प्रश्न–तं भंते! ओगाढं ओभासेइ, अणोगाढं ओभासेइ?

उत्तर–गोयमा! ओगाढं ओभासेइ, नो अणोगाढं। एवं अणंतरोगाढं ओभासेइ, नो परंपरोगाढं।

प्रश्न–तं भंते! किं अणुं ओभासेइ, बायरं ओभासेइ?

उत्तर–गोयमा! अणुं पि ओभासेइ, बायरं पि ओभासेइ।

प्रश्न–तं भंते! उड्ढं ओभासेइ, तिरियं ओभासेइ, अहे ओभासेइ।

उत्तर–गोयमा! उड्ढं वि, तिरियं वि, अहे वि ओभासेइ।

प्रश्न–तं भंते! आइं ओभासेइ, मज्झे ओभासेइ, अंते ओभासेइ?

उत्तर–गोयमा! आई वि, मज्झे वि, अन्ते वि ओभोसइ।

प्रश्न–तं भंते! सविसए ओभासेइ, अविसए ओभासेइ?

उत्तर–गोयमा! सविसए ओभासेइ, नो अविसए।

प्रश्न–तं भंते! आणुपुव्विं ओभासेइ, अणाणुपुव्विं ओभासेइ?

उत्तर–गोयमा! आणुपुव्विं ओभासेइ, णो अणाणुपुव्विं?

प्रश्न–तं भंते! कइदिसिं ओभासेइ?

उत्तर–गोयमा! नियमा छद्दिसिं ति।

इस पाठ में अवगाहना आदि के विषय में विचार किया गया है। गौतम स्वामी पूछते हैं–प्रभो! सूर्य स्पर्श करता है तो अवगाहन भी करता है?

भगवान् ने फरमाया– हां गौतम! अवगाहन भी करता है।

स्पर्श और अवगाहन में अन्तर है। ऊपर से संयोग हो जाना, मिल जाना स्पर्श होना कहलाता है और दूध में मिश्री की तरह एकमेक हो जाना अवगाहन कहलाता है।

चाहे कोई मनुष्य पृथ्वी के नीचे सात भौंयरों में रहे और वहां सूर्य की किरणें न पहुंच पावें, तब भी सूर्योदय होने पर उस स्थान की रचना बदली हुई ही मालूम होगी। इसके लिए एक दृष्टान्त प्रसिद्ध है। किसी राजा ने कुछ आदमियों को अंधेरे भौंयरों में डाल दिया। फिर उन लोगों से पूछा गया–बताओ, अभी दिन है या रात है? उनमें से एक ने कहा–इस समय दिन है। राजा ने कहा–तुझे कैसे मालूम हुआ कि इस समय दिन है? उसने उत्तर दिया मुझे रतौंध आती है। यद्यपि यहां अंधेरे में कुछ दिखाई नहीं देता किन्तु मेरी आंखों में ज्योति तो आ गई है।

प्रश्न–भगवन्! सूर्य अनन्तर अवगाहन करता है या परम्परावगाहन? अवगाहन में अन्तर न रहना अनन्तर अवगाहन कहलाता है और एक को छोड़कर दूसरे को अवगाहन करना परम्परा अवगाहन करना कहलाता है।

उत्तर–हे गौतम! अनन्तर अवगाहन करता है।

प्रश्न–भगवन्! सूर्य बारीक चीज को प्रकाशित करता है या बड़ी चीज को?

उत्तर–हे गौतम! अणु और बादर अर्थात् छोटी–मोटी सभी चीजों को प्रकाशित करता है।

प्रश्न – भगवन्! सूर्य ऊंचा प्रकाश करता है, नीचा प्रकाश करता है या तिर्छा प्रकाश करता है?

उत्तर–हे गौतम! तीनों दिशाओं में प्रकाश करता है।

ऊंचे, नीचे और तिर्छे में भी आदि, मध्य और अन्त यह तीन भेद हो जाते हैं। अतएव गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! सूर्य आदि में प्रकाश करता है, अन्त में प्रकाश करता है या मध्य में प्रकाश करता है?

उत्तर–हे गौतम! आदि में भी, अन्त में भी और मध्य में भी प्रकाश करता है। सूर्य के फैलने की जितनी मर्यादा है, उसे सूर्य का विषय कहते हैं। गौतम स्वामी ने प्रश्न किया–प्रभो! सूर्य अपनी मर्यादा में प्रकाश करता है या मर्यादा से बाहर?

उत्तर–हे गौतम! मर्यादा में प्रकाश करता है, बाहर नहीं।

प्रश्न–भगवन्! सूर्य क्रम से प्रकाश करता है या अक्रम से?

उत्तर–हे गौतम! सूर्य क्रम से प्रकाश करता है।

प्रश्न–भगवन्! सूर्य कितनी दिशाओं में प्रकाश करता है?

उत्तर–हे गौतम! नियम से छहों दिशाओं में प्रकाश करता है?

इन पदों की व्याख्या टीकाकारों ने प्रथम शतक के प्रथम उद्देशक में स्पष्ट रूप से की है। वही व्याख्या यहां भी समझ लेना चाहिए।

यहां गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया था कि सूर्य जिस क्षेत्र को स्पर्श कर रहा है उसे 'स्पर्श किया' ऐसा कहा जाता है? जैसे वस्त्र का एक–एक तार भिन्न–भिन्न समय में टूटता है, फिर भी फटते हुए वस्त्र को 'चलमाणे चलिए' इस सिद्धांत के अनुसार 'फटां कहते हैं। इसी प्रकार सूर्य एक क्षेत्र को कई समयों में स्पर्श करता है, लेकिन पहले समय में उसने जितने क्षेत्र का स्पर्श किया, उतने क्षेत्र की अपेक्षा कहा जायगा कि–सूर्य ने क्षेत्र का स्पर्श किया। इस सम्बन्ध में 'चलमाणे चलिए' इस प्रश्नोत्तर में विशेष रूप से विचार किया गया है।

इस प्रश्नोत्तर में वर्त्तमान और भविष्य की बात भूतकाल में दाखिल की गई है। यानी यह माना गया है कि काम समाप्त हुआ नहीं है, लेकिन जैसे ही उसका प्रारम्भ हुआ, वैसे ही वह समाप्त मान लिया जायगा। यों साधारण रूप से तो यह मालूम होता है कि भविष्यकालीन बात भूतकाल में किस प्रकार कही जा सकती है? मगर ऐसा किये बिना काम नहीं चल सकता। ज्ञानीजन कहते हैं–हम तो भविष्य को भूत में भी व्यवहार करते हैं, लेकिन आप ऐसा नहीं करेंगे तो क्या कहेंगे? कल्पना कीजिए–एक आदमी बम्बई जाने के लिए घर से निकला। वह अभी तक बम्बई नहीं पहुंचा–रास्ते में ही है, तब तक किसी दूसरे आदमी ने आकर उसके विषय में पूछा–अमुक आदमी कहां है ? तब उसके सम्बन्ध में क्या उत्तर दिया जायगा? क्या यही नहीं कहा जायगा कि वह बम्बई गया है? वह बम्बई पहुंचा नहीं है, फिर भी भविष्य की बात को भूतकाल में दाखिल करके ही व्यवहार होता है।

कहा जा सकता है कि यह तो लोकव्यवहार की बात है। सांसारिक जन कैसे भी व्यवहार करें; मगर ज्ञानियों को तो समझबूझ कर ही बोलना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि ज्ञानी जन बिना सोचे–समझे नहीं बोलते। जो व्यक्ति बम्बई का फासला जितने कदम कम कर रहा है। वह उतने ही अंशों में बम्बई पहुंचा है। कदाचित् यह कहा जाय कि एक रास्ता कई जगह

के लिए जाता है, ऐसी स्थिति में यह कैसे कहा जाय कि वह रास्ता चलने वाला बम्बई गया है? इसका उत्तर यह है कि एक रास्ता चाहे चार जगह के लिये जावे, लेकिन प्रश्न तो यह है कि जाने वाले ने कहां जाना निश्चय किया है और वह कहां जा रहा है? एक रास्ता बम्बई भी जाता हो और पूना भी जाता हो, तब भी बम्बई जाने वाला उसे बम्बई का और पूना जाने वाला पूने का रास्ता कहेगा। अगर जाने वाले ने पहले से ही अपना लक्ष्य निर्धारित न कर लिया होगा तो वह गड़बड़ में पड़ जाएगा और कहीं का कहीं मारा–मारा फिरेगा।

इतने पर भी अगर यह कहा जाय कि जाने वाला अभी जा रहा है–बम्बई पहुंचा नहीं है, अतः भविष्य काल का प्रयोग करना चाहिए; तो वह जितना चला है, वह चलना निरर्थक हो जायगा। अतएव लोक–संगत ऐसा व्यवहार करने में कोई बाधा नहीं है।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! जिस क्षेत्र को सूर्य की किरणें स्पर्श करने लगीं, उस क्षेत्र के सम्बन्ध में 'स्पर्श किया' ऐसा कहा जा सकता है? भगवान् ने फरमाया–गौतम! हां, ऐसा कहा जा सकता है।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! सूर्य स्पर्श किये हुए क्षेत्र का स्पर्श करता है या बिना स्पर्शे क्षेत्र का स्पर्श करता है?

लोक व्यवहार में बिना स्पर्शे को भी 'स्पर्श किया' कहते हैं ; जैसे पड़ौसी के सम्बन्ध में कहा जाता है–यह हमारे सम्बन्धी हैं–पास ही रहते हैं; आदि। तात्पर्य यह कि हाथ से हाथ मिलाने के समान स्पर्श न करने पर भी स्पर्श किया कहते हैं; लेकिन यहां वास्तव में स्पर्श किये हुए को ही स्पर्श करना कहा गया है।

इस प्रश्न का उत्तर भगवान ने यह दिया है कि सूर्य स्पृष्ट को ही स्पर्श करता है–अस्पृष्ट को नहीं।

लोकान्त–स्पर्शना

प्रश्न–लोयंते भंते! अलोयंतं फुसइ, अलोयंते वि लोयंतं फुसइ?

उत्तर–हंता, गोयमा! लोयंते अलोयंतं फुसइ, अलोयंते वि लोयंतं फसइ?

प्रश्न–तं भंते! किं पुट्ठं फुसइ, अपुट्ठं फुसइ।

उत्तर–जाव–नियमा छद्दिसिं फुसइ।

प्रश्न–दीवंते भंते! सागरंतं फुसइ, सागरंते वि दीवंतं फुसइ?

उत्तर–हंता, जाव–नियमा छद्दिसिं फुसइ।

प्रश्न–एवं एएणं अभिलावेणं उदंते पोयंतं फुसई, छिदन्ते दूसंतं, छायंते आयवंतं?

उत्तर–जाव–नियमा छद्दिसिं फुसइ।

संस्कृत–छाया –

प्रश्न–लोकान्तो भगवन्! अलोकान्तं स्पृशति? अलोकान्तोऽपि लोकान्तं स्पृशति?

उत्तर–हन्त, गौतम! लोकान्तोऽलोकान्तं स्पृशति, अलोकान्तोऽपि लोकान्तं स्पृशति।

प्रश्न–तद् भगवन्! किं स्पृष्टं स्पृशति? अस्पृष्टं स्पृशति?

उत्तर–यावत् नियमात् षड्दिशं स्पृशति।

प्रश्न–द्वीपान्तो भगवन्! सागरान्तं स्पृशति? सागरान्तोऽपि द्वीपान्तं स्पृशति?

उत्तर–हन्त, यावत्, नियमात् षट्दिशांपां स्पृशति।

प्रश्न–एवमेतेनाभिलापेन–उदकान्तः पोतान्तं स्पृशति? छिद्रान्तो दूष्यातं, छायान्त आतपान्तम्?

उत्तर–नियमात् षड्दिशं स्पृशति।

प्रश्न—भगवन्! लोक का अंत (किनारा) अलोक के अन्त को स्पर्श करता है? और अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है?

उत्तर—गौतम! हां, लोक का अन्त अलोक के अन्त का और अलोक का अन्त लोक के अन्त को स्पर्श करता है।

प्रश्न—भगवन्! जो स्पर्श किया जा रहा है, वह स्पृष्ट है या अस्पृष्ट है?

उत्तर—हे गौतम! यावत्—नियम पूर्वक छहों दिशाओं में स्पृष्ट होता है।

प्रश्न—भगवन्! द्वीप का अन्त (किनारा) समुद्र के अन्त को स्पर्श करता है ? और समुद्र का अन्त द्वीप के अन्त को स्पर्श करता है?

उत्तर—हे गौतम! हां, यावत्—नियम से छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

प्रश्न—इस प्रकार, इसी अभिलाप से—इन्हीं शब्दों में पानी का किनारा पोत (नोका—जहाज) के किनारे को स्पर्श करता है? छेद का किनारा वस्त्र के किनारे को स्पर्श करता है? और छाया का किनारा आतप के किनारे को स्पर्श करता है?

उत्तर—हे गौतम! हाँ यावत्—नियमपूर्वक छहों दिशाओं में स्पर्श करता है।

व्याख्यान

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! क्या लोक के अन्त ने अलोक के अन्त को और अलोक के अन्त ने लोक के अन्त को स्पर्श कर रक्खा है? इस प्रश्न का भगवान् ने यह उत्तर दिया—हे गौतम! हां, स्पर्श कर रक्खा है। तब प्रश्न किया गया—कितनी दिशाओं में स्पर्श किया है? भगवान् ने उत्तर दिया—छहों दिशाओं में स्पर्श किया है।

बहुत से लोग, लोक और अलोक की परिभाषा भी शायद न जानते हों। लोक और अलोक द्वारा बाह्य सृष्टि का ही विचार नहीं किया जाता, किन्तु आत्मिक विचार भी उसमें सन्निहित है। जैसे नारियल का गोला और उसके चारों ओर का आवरण अलग अलग हैं, तथा एक से दूसरा आच्छादित है उसी प्रकार लोक और अलोक भी हैं। विस्तृत—असीम अलोक है और उसके बीच में लोक है। लोक और अलोक के परिभाषित शब्द अन्य शास्त्रों में भी पाये जाते हैं। कोई चौदह तबक (स्तवक) कहता है। लेकिन उनसे अगर यह पूछा जाय कि लोक और अलोक की सीमा किस प्रकार निश्चित की गई है, तो

इसका उत्तर जितनी स्पष्टता से जैन शास्त्रों में मिलेगा, अन्यत्र कहीं नहीं मिल सकता। यह बात जैन धर्म के प्रति अनुराग होने के कारण ही मैं नहीं कहता हूं, किन्तु वास्तविक है लोक और अलोक की सीमा कोई बतलावे? फिर भी अगर मैं न मानूं तो पक्षपात कहा जा सकता है।

जैन शास्त्र का कथन है कि जैसे जल और स्थल की सीमा है, वैसी ही लोक और अलोक की भी है। जहां स्थल भाग माना जाता है और जहां जलभाग न हों वहां स्थल भाग माना जाता है, इसी प्रकार की बात लोक और अलोक के विषय में भी है।

यूरोप के वैज्ञानिक इस बात को मानने लगे हैं कि जीव और जड़ पदार्थ में जो गति होती है, वह आप ही आप नहीं होती। न जीव आप ही अकेला गति कर सकता है, न जड़ पदार्थ ही। किन्तु किसी भिन्न पदार्थ की सहायता से ही गति होती है। अब देखना यह है कि गति में सहायता देने वाला वह पदार्थ कौनसा है?

धर्मास्तिकाय नामक पदार्थ जल के समान है। वह जहां है वहां तक उतना आकाश लोक कहलाता है और जिस आकाश में वह नहीं है, वह अलोक कहलाता है। यह प्रश्न हो सकता है कि धर्मास्तिकाय का हमें किस प्रकार पता चल सकता है? वह इतना सूक्ष्म है कि दृष्टिगोचर नहीं होता; लेकिन जैसे मछली पानी की सहायता से गति करती है, पानी की सहायता के बिना गति नहीं कर सकती, इसी प्रकार जीव और अन्य गतिशील जड़ पदार्थ (पुद्गल) धर्मास्तिकाय की सहायता से ही गति करते हैं, इसकी सहायता के अभाव में गति नहीं कर सकते।

अगर लोक और अलोक की सीमा करने वाला कोई पदार्थ न होगा तो लोक के पदार्थ अलोक में—अनन्त आकाश में चले जाते और फिर उनका मिलना असंभव हो जाता। इसलिए लोक और अलोक की सीमा माननी पड़ेगी और साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि लोक में ऐसी कोई शक्ति है, जो लोक के पदार्थो को लोक में ही रखती है। उसी शक्ति को जैन शास्त्र धर्मास्तिकाय कहते हैं। इस धर्मास्तिकाय की शक्ति से ही जीवादि पदार्थ गति करते हैं। लेकिन उनकी गति वहीं तक सीमित है, जहां तक धर्मास्तिकाय है। धर्मास्तिकाय के अभाव में गति भी रुक जाती है। इसी कारण जीवादि पदार्थ लोक से बाहर अलोक में नहीं जाने पाते। तात्पर्य यह है कि जिस आकाश खंड में धर्मास्तिकाय है, वह लोक कहलाता है और जिसमें धर्मास्तिकाय नहीं है उसे अलोक कहते हैं।

विश्व में, गति करने वाले पदार्थ दो ही हैं—पुद्गल और जीव। यह दोनों पदार्थ लोक में ही हैं, अलोक में नहीं हैं। लोक में धर्मास्तिकाय की विद्यमानता के कारण ही उनमें गति होती है।

संस्कृत भाषा में लोक शब्द की व्युत्पत्ति है– लोक्यते इति लोकः। अर्थात् जो देखा जाय वह अलोक कहलाता है।

इस व्युत्पत्ति पर ध्यान देने से यह शंका उपस्थित होती है कि लोक एक नियत परिमाण नहीं हो सकता। जिसे जितना दिखाई दे, उसके लिए उतना ही लोक होना चाहिए, अर्थात् जो आदमी एक कोस देख सकता है, उसके लिए एक कोस का लोक हुआ और जो ज्यादा देखता है, उसके लिए ज्यादा लोक हुआ? इसका समाधान यह है कि जिसे पूर्ण ज्ञानी देखें वह लोक है। तब यह प्रश्न किया जा सकता है कि पूर्ण ज्ञानी अलोक को देखते हैं या नहीं? अगर नहीं देखते तो उनके दर्शन—ज्ञान में न्यूनता माननी पड़ेगी और शास्त्रों में पाया जाने वाला अलोक का वर्णन निराधार ठहरेगा। अगर पूर्णज्ञानी अलोक को भी देखते हैं तो अलोक भी लोक हो गया? तब लोको की ठीक परिभाषा कैसे बनती है?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि पूर्ण ज्ञानियों ने जिस आकाशखंड को धर्मास्तिकाय से युक्त देखा है, वह लोक कहलाता है। जैसे—जिस जगह जल देखा उसे जल– भाग कहा और जहां जल भाग न देखा उसे स्थलभाग कहा। अर्थात्—जहां जल भाग नहीं देखा तो उसे स्थल नाम दे दिया गया है। इसी प्रकार पूर्ण ज्ञानियों ने अपने ज्ञान में, अलोक में धर्मास्तिकाय नहीं देखा, इसलिए उस स्थल को अलोक नाम दे दिया है। जहां धर्मास्तिकाय देखा, उस आकाशखंड को लोक संज्ञा दी है।

धर्मास्तिकाय के अतिरिक्त एक पदार्थ और है, जिसे अधर्मास्तिकाय कहते हैं। धर्मास्तिकाय गति में सहायक है और अधर्मास्तिकाय स्थिति में सहायक है। आप भूमि पर ठहरे हैं, पर आपके ठहरने में अधर्मास्तिकाय की सहायता है।

आकाश भी एक प्रदार्थ है। वह आधार रूप क्षेत्र है। वह लोक में भी है और अलोक में भी है। लेकिन जिस आकाश के साथ धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीव और पुद्गल (रूपी जड़) यह चारों अस्तिकाय होते हैं, उसे लोक और जिसमें यह चारों नहीं हैं, जहां केवल आकाश ही आकाश है, वह आलोक है। तात्पर्य यह कि ज्ञानियों ने आकाश है, वह आलोक है। तात्पर्य यह कि ज्ञानियों ने आकाश सहित पांचों अस्तिकाय जहां विद्यमान

देखे उसे लोक–संज्ञा दी और जहां केवल आकाश देखा उस भाग को अलोक संज्ञा दी गई। यही लोक और अलोक की मर्यादा है।

गौतम स्वामी का प्रश्न यह है कि क्या लोक और अलोक की सीमा मिली हुई है? और अलोक की सीमा लोक से मिली है? या दोनों में कुछ अन्तर है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फर्माया है– हे गौतम! दोनों का अन्त एक–दूसरे का स्पर्श करता है। अगर ऐसा न माना जायेगा तो दोनों के बीच में जो पोल रह जायेगी, उसे लोक और अलोक के अतिरिक्त तीसरी संज्ञा देनी पड़ेगी।मगर ऐसा हो नहीं सकता। क्योंकि या तो उस पोल में धर्मास्तिकाय का सद्भाव होगा या असद्भाव होगा। अगर सद्भाव माना जाय तो उसे लोक कहना होगा। अगर अभाव माना जाय तो अलोक कहना पड़ेगा। फिर दोनों ही अवस्थाओं में लोक और अलोक की सीमा मिल जायेगी।

अगर यह कहा जाय कि लोक और अलोक के बीच की पोल में धर्मास्तिकाय आदि का न सद्भाव है, न असद्–भाव है; तो यह कथन परस्पर विरोधी है। सद्भाव न होना ही असद्भाव है और असद्भाव न होना ही सद्भाव है। परस्पर विरोधी दो विकल्पों को छोड़कर तीसरा विकल्प होना असंभव है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! लोक का अन्त, अलोक के अन्त से और अलोक का अन्त लोक के अन्त से, छहों दिशाओं से स्पृष्ट है या किसी एक ही दिशा से?

भगवान् फर्माते हैं छहों दिशाओं से स्पृष्ट है।

यहां एक प्रश्न पर विचार करना आवश्यक है। वह यह है कि धर्मास्तिकाय जीव और पुद्गल की गति में सहायक होता है, परन्तु वह स्वयं गति करता है या नहीं? इसका उत्तर यह है कि वह स्वयं नहीं चलता। जैसे तालाब में भरा हुआ जल स्थिर है– पवन लगने से हिलोरें उठना दूसरी बात है, अन्यथा वह गति नहीं करता, इसी प्रकार धर्मास्तिकाय, समस्त लोक में भरा है और वह गति नहीं करता।

अब यह भी देखना है कि लोक और अलोक की व्याख्या करने से क्या लाभ है? वैज्ञानिकों ने 'ईथर' नामक गति सहायक पदार्थ का पता लगाया। इसमें उन्हें क्या लाभ है? इसका उत्तर वैज्ञानिक ही ठीक–ठीक दे सकते हैं। इसी प्रकार लोक और अलोक को जानकर उसका निरूपण करने में ज्ञानियों ने क्या लाभ देखा है, यह बात ज्ञानी ही भली–भांति बता सकते हैं।

लोक, अलोक, धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आदि पदार्थों का पता लगाने वाले पूर्ण पुरुष थे। ईश्वर का आविष्कार तो कुछ ही वर्षों पहले हुआ, पर धर्मास्तिकाय का आविष्कार हुए, कौन जाने कितना काल हो गया है! यह शाश्वत पदार्थ है न आविष्कार होता न विनाश हुआ होता।

यह सुन्दर आम सामने आने पर लोग महज ही यह कल्पना करने लगते हैं कि जिस बाग में यह आम है, वह बाग और आम का वृक्ष कैसा होगा! आम–फल देखकर उसके वृक्ष को मानना ही पड़ता है उसे न मानने वाला अनाड़ी कहलाता है। इसी प्रकार जिन ज्ञानियों ने धर्मास्तिकाय आदि का पता लगाकर हमें बताया है, उन्होंने किन आत्म–भावनाओं को प्रकट करके पता लगाया होगा?

उन महात्माओं ने आत्म–भावना जागृत करके, आत्म–ज्योति प्रकट करके, जिन बातों का पता लगाया है, उन्हें जानकर हमें क्या करना चाहिए? हमें इस बात का विचार करना चाहिए कि हम किसी बात का पता अपनी बौद्धिक शक्ति से चाहे लगा लें, तब अगर आत्म–शुद्धि न हुई तो कल्याण कैसे होगा? अतएव सब से पहले हमें आत्म–शुद्धि की आवश्यकता है। चित्र को निर्मल बनाना ही सब धर्मों का सार है। हृदय की पवित्रता प्राप्त करना ही धर्म है। चित्तावृत्ति शुरू होने पर अनायास ही प्रत्येक बात समझ में आ जाती है। आज जिन सुखों की कामना से तुम निर्भर काबुल रहते ही हृदय शुद्ध होने पर उतारते भी कहीं उच्चतर सुख की तुम्हें प्राप्ति होगी। इस अनिर्वचनीय सुख के सामने तुम्हारे सुख किसी गिनती में न रहेंगे।

चित्तशुद्धि का अर्थ है, विकारों को जीतना। विकार संक्षेप में दो हैं– राग और द्वेष। किंचित विस्तार से काम, क्रोध, मोह, मत्सरता और अंहकार को विकार कहा जा सकता है। काम क्रोध, आदि विकारों को जीत लेना प्रत्येक आत्मा का कर्त्तव्य है, क्योंकि यही विजय लोकोत्तर आनन्द करने का साधन है। इससे आत्मा विशुद्ध चिद्रूप होकर आनन्दमय बन जाता है। अतएव लोकालोक का स्वरूप जानकर आत्मा की शुद्धि के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं– भगवन्, सागर का अन्त, द्वीप के अन्त से और द्वीप का अन्त सागर के अंत से मिला हुआ है? अर्थात् दोनों के अंत एक दूसरे के अंत का स्पर्श करते हैं? जैसे जम्बूद्वीप का अंत लवणसमुद्र से और लवणसमुद्र जम्बूदीप के अंत से मिला हुआ है, उसी प्रकार सब द्वीप–समूहों की स्पर्शना है? इसके उत्तर में भगवान् ने फर्माया–गौतम! हां,

समुद्र का अन्त द्वीप के अन्त को स्पर्श करता है। और वह छहों दिशाओं से स्पर्श करता है।

यहां यह प्रश्न होता है कि द्वीप अन्त सागर के अन्तको और सागर का अन्त द्वीप के अन्त को छहों दिशाओं से कैसे स्पर्श करता है? इसका उत्तर यह है कि द्वीप और समुद्र को हम लोग जिस प्रकार देखते हैं, उससे शास्त्रीय दृष्टि भिन्न प्रकार की है। शास्त्र में जम्बूद्वीप को लगभग एक हजार योजन गहरे से बतलाया गया है और समुद्र का तलभाग भी इतना ही गहरे से है। अतएव द्वीपों और समुद्रों का अन्त एक–दूसरे से नीचे भी स्पर्श करता है, बीच में भी स्पर्श करता है और ऊपर भी स्पर्श करता है।

यों तो सुमेरुपर्वत से दिशाओं की कल्पना की गई है। परन्तु यहां द्वीप और समुद्र के हिसाब से भी दिशा ली गई है। यानी सुमेरुपर्वत के हिसाब से सब जगह दिशा नहीं ली जा सकती, इसलिए वस्तु के हिसाब से भी दिशा का व्यवहार होता है।

यहां पर कहा जा सकता है कि शास्त्रकारों ने तो केवल यही कहा है कि समुद्र और द्वीप का छहों दिशाओं से स्पर्श होता है; दिशा सुमेरु से लेना या वस्तु के हिसाब से, इस सम्बन्ध कुछ भी नहीं कहा है। एकसी अवस्था में वस्तु की अपेक्षा दिशा का व्यवहार होता है; यह बात कैसे फलित होती है! इसका समाधान यह है कि इसी प्रश्नोत्तर से यह बात फलित होती है। गौतम स्वामी ने भगवान् से पूछा है कि नाव का अन्त और जल का अन्त आपस में स्पर्श करते हैं? भगवान् ने उत्तर दिया–हाँ, स्पर्श करते हैं। फिर गौतम स्वामी पूछते हैं– भगवन्! कितनी दिशाओं में स्पर्श करते है? भगवान् ने फर्माया– गौतम छहों दिशाओं में। इस प्रश्नोत्तर में नौका की दिशा से जल है और जल की दिशा से नौका है। यहां वस्तु की अपेक्षा ही दिशा का व्यवहार फलित होता है।

समुद्र में जहाज और नदी में नौका कोई देखता है, कोई नहीं देखता। अर्थात् किसी को देखने का मौका नहीं मिलता। इसलिए गौतम स्वामी अत्यन्त सन्निकट की वस्तुओं को लेकर प्रश्न करते है– भगवन्! कपड़े का अन्त छिद्र को और छिद्र का अन्त कपड़े को स्पर्श करता है? भगवान् उत्तर देते है–गौतम! हां, स्पर्श करता है। जब गौतम ने पूछा– प्रभो, एक दिशा में स्पर्श करता है या छहों दिशाओं में? तब भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम छहों दिशाओ में।

यहां टीकाकार ने कहा है कि जैसे एक कम्बल की तह कर लेने पर वह कम्बल लम्बा–चौड़ा और मोटा हो जाता है। उस कम्बल में कोई कीड़ा ऊपर से नीचे तक छेद कर दे तो उस छेद और कम्बल में छहों दिशाओं से स्पर्श होगा। प्रत्येक बात, जिस अपेक्षा से कही जाती है, उसी अपेक्षा से समझी जाय तो ठीक तरह समझ में आ सकती है। शास्त्रकार एक जगह तो सुमेरु की अपेक्षा से दिशा बतलाते हैं और एक जगह वस्तु की अपेक्षा से एक एक आकाश प्रदेश ऊंचा, एक नीचा और तिर्छा होने पर छहों दिशाएं स्पर्श करती हैं।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! धूप का अन्त छाया के अन्त से और छाया का अन्त धूप के अन्त से मिला है? अर्थात् स्पर्श करता है?

भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम! हां, स्पर्श करता है। गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! एक दिशा से स्पर्श करता है या छहों दिशाओं से? भगवान् फर्माते हैं–छहों दिशाओं से।

प्रश्न हो सकता है कि धूप में मोटाई नहीं होती, फिर छहों दिशाओं में स्पर्श होना किस दृष्टि से कहा गया है? इसका उत्तर यह है कि–कल्पना कीजिए, एक पक्षी आकाश में उड़ रहा है और उसकी छाया नीचे पड़ रही है। यह छाया अपेक्षाकृत ऊंची, नीची और तिर्छी है। अतएव वह छहों दिशाओं में धूप के अन्त से स्पर्श करती है। इस बात को स्पष्ट करने के लिए टीकाकार ने एक उदाहरण और दिया है। वह कहते हैं–मान लीजिए, एक ऊंचा महल है उसकी छाया ढलती हुई गिर रही है। वह धूप के अन्त से ऊंची दिशा में भी स्पर्श करती है, नीची दिशा में भी स्पर्श करती है और तिर्छी दिशा में भी स्पर्श करती है। मतलब यह है कि आप छाया की मोटाई नहीं देख सकते, मगर शास्त्रकार उसे असंख्यात प्रदेश ही कहते हैं। उन असंख्यात प्रदेशों में कई प्रदेश ऊंचे हैं, कई नीचे हैं और कई तिर्छे हैं। इस प्रकार छाया को धूप और धूप को छाया छहों दिशाओं में स्पर्श करती है।

फिर वही प्रश्न उपस्थित होता है कि आखिर इस प्रकार के प्रश्नोत्तरों से लाभ क्या है? इनसे कौन–से महत्त्वपूर्ण तत्त्व पर प्रकाश पड़ता है? इसका उत्तर यह है कि शास्त्रकार एक अंश तो स्पष्ट बतलाते हैं और दूसरा अंश हेतु से बतलाते हैं। लोक और अलोक के अन्त का स्पर्श बतलाने के समय यह प्रश्न नहीं हुआ कि गौतम स्वामी यह प्रश्न क्यों पूछते हैं? केवल धूप और छाया के प्रश्न के समय यह प्रश्न क्यों हुआ इसीलिए कि लोक और अलोक का अन्त दिखाई नहीं देता और धूप तथा छाया दिखाई देती है। मगर

लोक और अलोक के अन्त आपस में किस प्रकार स्पष्ट हैं, यह बात स्पष्ट रूप से समझाने के लिए ही द्वीप–समुद्र, जल–जलयान, वस्त्र छिद्र और धूप–छाया के उदाहरण दिये गये हैं। इन सब उदाहरणों द्वारा यह प्रदर्शित किया गया है कि जैसे द्वीप–समुद्र आदि के अंत आपस में एक दूसरे का स्पर्श करते हैं, उसी प्रकार लोक और अलोक का अन्त आपस में स्पर्श करता है। इन्हें देखकर लोक और अलोक के अन्त के स्पर्श का अनुमान करो, यह इन उदाहरणों द्वारा सूचित किया गया है। जिसने द्वीप और समुद्र नहीं देखा है, वह भी वस्त्र एवं छिद्र देखकर यह अनुमान कर सकता है कि जिस प्रकार वस्त्र और छिद्र का अन्त है, इसी प्रकार पृथ्वी का भी कहीं न कहीं अन्त होगा ही और जहां पृथ्वी का किनारा आएगा वहीं जल होगा। तात्पर्य यह है कि प्रत्यक्षगम्य वस्तुओं का उदाहरण देकर परोक्ष पदार्थों का ज्ञान कराया गया है। परोक्ष वस्तु ठीक तरह समझ में आ जाए, यही इन प्रश्नोत्तरों का प्रयोजन है।

शिष्य विविध प्रकार के होते हैं। कोई–कोई तीव्र बुद्धि वाले साधारण संकेत से वस्तु का तत्त्व समझ लेते हैं और कोई मन्दबुद्धि विस्तारपूर्वक समझाने से ही समझते हैं। शास्त्रकार सभी पर अनुग्रहशील होते हैं। इसलिए सभी की समझ में आ जाए, इस विचार से उन्होंने और भी अनेक दृष्टान्त दिये हैं; जैसे धूप और छाया का अन्त होगा और जहां छाया आयेगी वहां धूप का अन्त होगा।

कदाचित् यह कहा जाय कि लोक और अलोक को समझाने से क्या मतलब है? जब लोक और अलोक की बात ही निरर्थक है तो उसके लिए दृष्टान्तों की निरर्थकता आप ही सिद्ध हो जाती है। इस सम्बन्ध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि हम लोग जहां रहते हैं, उस स्थान को संकुचित दृष्टि से क्यों देखें? जब मारवाड़ का रहने वाला कोई व्यक्ति मारवाड़ से बाहर जाता है तब वह अपना निवास स्थान मारवाड़ बतलाता है। अगर यूरोप में जाता है तो भारत को अपना निवास–स्थान कहता है या अपने आपको एशिया–वासी कहता है। इस प्रकार वह अपने निवास–स्थान को जब इतना व्यापक रूप दे देता है तो भगवान अगर सारे लोक को ही जीवों का निवास– स्थान मान कर उसका विवरणा देते हैं तो वह निरर्थक कैसे कहा जा सकता है? आखिरकार आप लोक में ही तो रहते हैं।

अब अगर आप से कोई पूछे कि लोक तीन है, क्या आप तीनों लोकों में रहते हैं? तब आप उत्तर देंगे– तिर्छे लोक में। फिर आप से कहा जाय–

तिर्छे लोक में तो असंख्यात द्वीप हैं, क्या आप सभी द्वीपों में रहते हैं? तब आप उत्तर देंगे– जम्बू–द्वीप में। इस प्रकार संकीर्णता की ओर बढ़ते–बढ़ते आप अन्त में यह कहेंगे कि आत्मा तो ज्ञान, दर्शन, चरित्र आदि रूप अपने स्वभाव में रहता है, अन्यत्र नहीं। अर्थात् यह मानना पड़ेगा कि आत्मा शरीर में भी नहीं रहता है। इस प्रकार विभिन्न नय विवक्षाओं से व्यवहार होता है। यह सब बातें ज्ञानियों की संगति करने से आती हैं।

क्रियाविचार

प्रश्न– अत्थि णं भंते! जीवाणं पाणाइवाए णं किरिया कज्जइ?

उत्तर– हंता अत्थि।

प्रश्न– सा भंत्ते! किं पुट्ठा कज्जइ? अपुट्ठा कज्जइ?

उत्तर– जाव–निव्वाघाएणं छद्दिसिं, वाघार्य पडुच्चसिय तिदिसिं, सिय चउदिसिं, सिय पंचदिसिं।

प्रश्न– सा भंते! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ।

उत्तर– गोयमा! कडा कज्जइ, नो अकडा कज्जइ।

प्रश्न– सा भंते! किं अत्तअडा कज्जइ? परकडा कज्जइ? तदुभयकडा कज्जइ?

उत्तर– गोयमा! अतकडा कज्जइ, णो परकडा कज्जइ, णो तदुभकडा कज्जइ।

प्रश्न– सा भंते! किं आणुपुव्वि कडा कज्जइ? अणाणुपुव्वि कडा कज्जइ?

उत्तर– गोयमा? आणुपुव्वि कडा कज्जइ णो अणाणुपुव्वि कडा कज्जइ। जायकडा कज्जइ, जाय कज्जिस्सइ सव्वा सा आणुपुव्विकडा, णो अणाणुपुव्वि त्ति बत्तव्वं सिया।

प्रश्न– अत्थि णं भंते! नेरयाणं पाणाइवाय किरिया कज्जइ?

उत्तर– हंता अत्थि।

प्रश्न– सा भंते! किं पुट्ठा कज्जइ? अपुट्ठा कज्जइ?

उत्तर– जाव नियमा छिद्दिसिं कज्जइ।

प्रश्न– सा भंते! किं कडा कज्जइ, अकडा कज्जइ?

उत्तर– तं चेव जाव–णो अरणाणुपुव्वि कडा त्ति वत्तव्वं सिया?

प्रश्न– जहा णेरइया तहा एगिंदियवज्जा भाणियव्वा जाव–वेमाणिया। एगिंदिया जहा जीवा भाणियव्वा।

जहा पाणाइवाए तहा मुसावाए, तहा आदिण्णादाणे, मेहुणे, परिग्गहे, कोहे जावमिच्छादंसणसल्ले। एवं एए अट्ठारस चउवोसं दंडगा भाणि– अव्वा।

सेव भंते! सेवं भंते! त्ति भगवं गोयमे समणं भगवं जाव–विहरति।

संस्कृत–छाया

प्रश्न– अस्ति भगवन्! जीवैः प्राणातिपातः क्रिया क्रियेते?

उत्तर– हन्त, अस्ति।

प्रश्न–सा भगवन्! किं स्पृष्टा क्रियते, अस्पष्टा क्रियते?

उत्तर– यावत्–निर्व्याघातेन षड्दिशम् व्याघातं प्रतीत्य स्यात् त्रिदिशम् स्यात् चतुर्दिशम् पञ्चदिशाम।

प्रश्न–सा भगवन्! किं कृताक्रियते? अकृता क्रियते?

उत्तर–गौतम! कृता क्रियते, नो अकृता क्रियते।

प्रश्न–सा भगवन्! किं आत्मकृता क्रियते, परकृता क्रियते, तदुभयकृता क्रियते।

उत्तर–गौतम! आत्मकृता क्रियते, नो परकृता क्रियते नो तदुभयकृता क्रियते।

प्रश्न–सा भगवन्! किम् आनुपूर्वीकृता क्रियते, अनानुपूर्वीकृता क्रियते?

उत्तर–गौतम ! आनुपूर्वीकृता क्रियते, नो अनानुपूर्वीकृता क्रियते। या च क्रियते, या च करिष्यते, सर्वा सा आनुपूर्वीकृता इति वक्तव्यम् स्यात्!

प्रश्न–अस्ति भगवन् नैरयिकैः प्राणातिपात क्रिया क्रियते?

उत्तर–हन्त, अस्ति।

प्रश्न–सा भगवन्! किं स्पृष्टा क्रियते, अस्पृष्टा क्रियते?

उत्तर–यावत्–नियमात् षड्दिशं क्रियते।

प्रश्न–सा भगवन्! किं कृता क्रियते, अकृता क्रियते?

उत्तर–तदेवयावत्–नो अनानुपूर्वीकृता इति वक्तव्यम्स्यात्। यथा नैरयिकास्तथा एकेन्द्रियवज्या भणितव्या यावत् वैमानिकाः एकेन्द्रियां यथा जीवा तथा भणितव्याः।

यथा प्राणातिपातस्तथा मृषावादः, तथा अदत्तादानम्, मैथुनम्, परिग्रहः, क्रोधो यावत् मिथ्यादर्शन शल्यम्। एवमेते अष्टादश चतुर्विंशतिर्दण्डका भणितव्याः।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति भगवान् गौतमः श्रमणं भगवन्तं यावत्–विहरति।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! क्या जीवों द्वारा प्राणातिपात क्रिया की जाती है ?

उत्तर–हां, गौतम की जाती है।

प्रश्न–भगवन्! की जाने वाली वह क्रिया स्पृष्ट है या अस्पृष्ट है?

उत्तर–हे गौतम! यावत्–व्याघात न हो तो छहों दिशाओं को और व्याघात हो तो कदाचित् तीन दिशाओं को, कदाचित् चार दिशाओं को और कदाचित् पांच दिशाओं को स्पर्श करती है।

प्रश्न–भगवन्! की जाने वाली क्रिया कृत है या अकृत है?

उत्तर–हे गौतम! वह क्रिया कृत है, अकृत नहीं है।

प्रश्न–भगवन्! की जाने वाली क्रिया आत्मकृत है, परकृत है या उभयकृत है?

उत्तर–हे गौतम! वह आत्मकृत है, परकृत या उभयकृत नहीं है।

प्रश्न–भगवन्! जो क्रिया की जाती है वह अनुक्रमपूर्वक कृत है या बिना अनुक्रम के कृत है?

उत्तर–हे गौतम! वह अनुक्रमपूर्वक कृत है, बिना अनुक्रम के कृत नहीं है। और जो क्रिया की जा रही है तथा की जायगी वह सब अनुक्रमपूर्वक कृत है, बिना अनुक्रम के नहीं, ऐसा कहना चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! नारकों द्वारा प्राणातिपात क्रिया की जाती है?

उत्तर–हे गौतम! हां, की जाती है।

प्रश्न–भगवन्! नैरयिकों द्वारा जो क्रिया की जाती है, वह स्पृष्ट है या अस्पृष्ट है?

उत्तर–हे गौतम! वह क्रिया यावत्–नियम से छहों दिशाओं में की जाती है।

प्रश्न–भगवन्! जो क्रिया की जाती है वह कृत है या अकृत है?

उत्तर–हे गौतम! वह पहले की तरह जानना। यावत् वह बिना अनुक्रम के कृत नहीं है, ऐसा कहना चाहिए।

नैरयिकों के समान एकेन्द्रिय को छोड़कर यावत् वैमानिकों तक सब जीव कहने चाहिएं और जीवों की भांति एकेन्द्रियों के विषय में कहना चाहिए।

प्राणातिपात के समान मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह, क्रोध और यावत्–मिथ्यादर्शन शल्य तक समझना चाहिए। इसी प्रकार अठारह पाप स्थानकों के विषय में चौवीस दंडक कहने चाहिए।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है! हे भगवन्! यह इसी प्रकार है! ऐसा कहकर भगवान् गौतम श्रमण भगवंत महावीर को नमस्कार करके यावत्–विचरते हैं।

व्याख्यान

लोक और अलोक की सीमा मिली हुई है और लोक में जीव रहते हैं। यह कहा जा चुका है। अब प्रश्न यह है कि जीव लोक में बंधा क्यों है? अनन्त शक्ति के स्वामी आत्मा को किसने बंधन में डाल रखा है? इस प्रश्न का उत्तर विविध प्रकार से दिया जाता है। किसी–किसी का मन्तव्य यह है कि ईश्वर ने जीव को संसार में बांध रक्खा है। जीव की डोरी उसी के हाथ में हैं। वह छोड़ेगा तो जीव संसार से छूटेगा, नहीं छोड़ेगा तो बंधा रहेगा। राजा–महाराजा के कारागार में बहुत से कैदी बंद रहते हैं। अगर राजा को किसी प्रकार की प्रसन्नता हुई तो वह उन्हें मुक्त कर देता है। अनेक बार तो दया से प्रेरित होकर के भी राजा उन्हें छुटकारा दे देता है। मगर क्या ईश्वर को दया नहीं आती, कि वह जीवों को इस दुःखमय संसार से मुक्त कर दे ? इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिए कि ईश्वर ने जीवों को संसार में क्यों फंसा रक्खा है? अगर यह कहा जाय कि ईश्वर खिलाड़ी है और खेल करने के लिए ही उसने जीवों को संसार में बांध रक्खा है तो ऐसा खिलाड़ी ईश्वर कैसे कहला सकता है? क्रूरता और ईश्वरत्व का मेल नहीं मिलता। कई लोग कहते हैं–जैन लोग ईश्वर का अस्तित्व स्वीकार नहीं करते, लेकिन यह बात मिथ्या है। जैनों ने ईश्वर की सत्ता स्वीकार की है, मगर उसमें ऐसे धर्म वे स्वीकार नहीं करते, जिनसे ईश्वर के ईश्वरत्व में बट्टा लगता हो अथवा उसकी महिमा मलीन होती हो। सृष्टि का कर्त्ता–हर्त्ता धर्त्ता मानने से ईश्वर में अनेक दोष आते हैं अतएव जैन ईश्वर को कर्त्ता नहीं मानते। गीता में एक जगह कहा है –

न कर्तृत्वं न कर्माणि, लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफल संयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्तते।।गीता–5/14

अर्थात्–व्यापक–ईश्वर कर्म नहीं कराता है और न कर्मफल का संयोग ही कराता है।

गीता के इस कथन पर विचार करने से क्या यह मालूम नहीं होता कि यही बात जैन भी कहते हैं? विचार करने पर अवश्य ही बात मालूम होगी।

मतलब यह है कि वास्तव में ईश्वर ने जीव को संसार में नहीं बांध रक्खा है। मगर इससे प्रश्न हल नहीं होता। प्रश्न अब भी उपस्थित है कि तो फिर जीव को किसने बांध रक्खा है? इसी बात को स्पष्ट करने के लिए गौतम स्वामी आगे प्रश्न करते हैं।

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–प्रभो! क्या संसारी जीव मोह में पड़कर अपने सुख के लिए या और किसी कारण से प्राणातिपात–क्रिया करते हैं ? अर्थात् जीव का घात करने की क्रिया करते हैं? गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हां गौतम! करते हैं। तब गौतम स्वामी पूछते हैं–प्रभो! जीव प्राणातिपात–क्रिया आप करते हैं या और कोई कराता है? अर्थात् ईश्वर, काल, आदि कोई कराता है?

अनेक नर और नारियां किसी प्रकार का दुःख या शोक होने पर राम को भला–बुरा कहते हैं। उसे कोसते हैं। मगर सच्चाई यह है कि उस दुःख शोक का कारण वह स्वयं ही है। अतएव किसी दूसरे को कोसना वृथा है या दूसरे को कोसना अपने को ही कोसना है। कारण यह है कि प्रत्येक जीव अपने सुख दुःख का कारण आप ही है। काम आप करना और उसका उत्तरदायित्व किसी अन्य के सिर मढ़ देना उचित नहीं है। यही बात समझाने के लिए गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम ! जीव प्राणातिपात की क्रिया स्वयं करता है, दूसरा कोई नहीं कराता। अगर दूसरा कोई कराता है तो कराना ही उसकी क्रिया है और उसके फल का भागी वह होता है।

जीव प्राणातिपात की क्रिया से ही संसार के बंधन में पड़ा है। बंधन में डालने वाला दूसरा कोई नहीं है।

हे आत्मन्! तू ही प्राणातिपात क्रिया का कर्त्ता है और प्राणातिपात क्रिया ही बंधन है। इसे अगर रक्षा में (जीव रक्षा में) पलट दे तो मुक्ति का प्रशस्त पथ तुझे दिखाई देने लगेगा। आघात का प्रत्याघात और गति की प्रत्यागति होती ही है। तुम्हारा हाथ चलेगा तो दूसरे का भी चलेगा ही। जब तुम दूसरे को मारने के लिए हाथ उठाते हो, तो सावधान होकर सोच लो कि

तुम अपने को ही मारने के लिए हाथ उठा रहे हो! और तुम दूसरों की रक्षा के लिए हाथ बढ़ाते हो तो अपने लिए शान्ति का सागर भरते हो। तुम स्वयं अपनी रक्षा करते हो।

बहुत से लोगों का यह ख्याल है कि आजकल के जमाने में इस प्रकार की विचारधारा आत्मघातक है। इससे दुनिया का काम नहीं चलता। यहां तो थप्पड़ के बदले घूंसा लगाने से ही काम चलता है। मगर गंभीरता से विचार करने पर अवश्य प्रतीत होगा कि उक्त ख्याल भ्रमपूर्ण है। लोगों को झूठा विश्वास हो गया है। आज भी क्या ऐसे पुरुषों का सर्वथा अभाव है जिन्होंने विशुद्ध प्रेम द्वारा अपने विरोधियों पर भी विजय प्राप्त की है ? नहीं। धर्मस्थानक में, हृदय जैसा कोमल हो जाता है, वैसा ही कोमल अन्यत्र भी बना रहे–वह कोमलता जीवनव्यापिनी बन जाय, स्वभाव में दाखिल हो जाय तब काम चलता है। इसलिए बुद्धि लगाकर देखो कि जीव को मारना अच्छा होता है या जीव को बचाना?

अगर तलवार का जवाब तलवार से और थप्पड़ का उत्तर थप्पड़ से देने पर शान्ति हो जाती तो संसार में अशान्ति का नाम–निशान न रहता। अनादि काल से संसार में शस्त्र संग्राम चल रहा है, अब तक तो कभी की शान्ति स्थापित हो गई होती। हिंसा के बदले प्रतिहिंसा करने से गुलामी के बंधन में पड़ना पड़ता है। आज अगर किसी से पूछो तो एक ही स्वर में उत्तर मिलेगा कि संसार लड़ाई से घबड़ाया हुआ है। युद्ध और संहार के नये–नये साधन निकाले जा रहे हैं। फिर भी शान्ति नहीं हुई, वरन् अशान्ति बढ़ती ही जाती है। बहुत से लोग इस तथ्य का अनुभव कर रहे हैं, मगर चिरकालीन संस्कारों के कारण वे अपना पथ नहीं बदल सकते। अगर हिंसा से ही संसार का काम सुविधापूर्वक चलता होता तो आज आपका अस्तित्व संसार में दिखाई न देता। अगर आपकी माता ने आपको मारा ही मारा होता तो आपकी क्या दशा होती? बाह्य दृष्टि से भी देखिये, तभी प्रतीत होगा कि यह संसार–संसार के आधार पर ही टिका हुआ है। अगर पूर्णरूपेण अहिंसा को अपना लिया जाय तो संसार में लड़ाई–झगड़ा रह ही नहीं सकता।

इस प्रकार तुम अपने आप ही संसार से बंधे हो। दूसरा कोई भी तुम्हें नहीं बांध सकता। आत्मा स्वयं ही कर्त्ता और भोगता है। गीता में भी कहा है–'उद्धरेदात्मनाऽऽत्मानम्' अर्थात् अपने द्वारा ही अपना उद्धार करना चाहिए–आत्मा ही आत्मा का उद्धार कर सकता है।

हिंसा के समय हृदय में कैसी लहर आती है और अहिंसा के समय क्या लहर उत्पन्न होती है, यह जरा, अन्तर्दृष्टि से देखो। अहिंसा की भावना हृदय को आनन्द की तरंगों से भर देती है। वह आनन्द दूसरे के लिए नहीं, वरन् स्वयं अहिंसक के लिए है। अहिंसक ही उसका उपभोग करता है। इसके विरुद्ध, हिंसा से दुःख की लहर आती है और वह हिंसक को ही भोगना पड़ता है।

कहा जा सकता है कि कभी–कभी किसी–किसी को हिंसा करने में ही आनन्द आता है। मगर यह धारणा भ्रममय है। रात में कुत्ते भौंकते हैं और आपकी नींद में विघ्न डालते हैं। आप उन्हें रोकना चाहें तो भी वे नहीं रुकते। उनका भौंकना आपको बुरा लगता है, लेकिन वे भौंकने में ही आनन्द मानते हैं। आपकी दृष्टि में उनका आनन्द मानना, वास्तव में आनन्द हैं या भ्रम है? 'भ्रम है।'

इसी प्रकार जो लोग मार–काट में आनन्द मानते हैं, उन्हें भूला–भटका समझो। जो हिसाब कुत्तों के लिए लगाते हो, वही अपने लिए क्यों नहीं लागू करते? भूल से जिसमें आनन्द माना जाता है, वास्तव में वह आनन्द नहीं है।

प्राण जीवन की एक अनिवार्य वस्तु का नाम है, जिससे प्राणी जीवित रहता है। आत्मा का नाश नहीं है, किन्तु प्राणों का नाश अवश्य है। प्राणों का नाश करना ही हिंसा या प्राणातिपात क्रिया है। प्राणातिपात क्रिया, जीवहिंसा या आत्मघात कहलाती है, परन्तु यह व्यवहार की बात है। वास्तव में आत्मा का नाश होता ही नहीं है। किसी का धन जाने पर वह मर नहीं जाता, लेकिन कहता है कि मेरा प्राण चला गया। अर्थात् धन उसे प्राणों के समान प्रिय था। वह धन को जीवन का आधार मानता था। जीवन के आधार के जाने से प्राण जाने के समान दुःख होता है। इसलिए धनहरण की क्रिया को शास्त्रकार हिंसा कहते हैं केवल धन हो नहीं, किन्तु कोई भी वह वस्तु, जो प्राणी को प्रिय है, उसे प्राणी से अलग कर देना–प्राणी का उससे वियोग करा देना इसे हम प्राण हिंसा कहते हैं।

जीव को धन क्यों प्रिय लगता है? इसलिए कि वह धन को प्राणों का आधार मानता है। पत्थर और सोना–दोनों ही जड़ हैं। मगर पत्थर के जाने पर उतना दुःख न होगा, जितना अपना माने हुए सोने के चले जाने पर होगा। क्योंकि सोने से प्राणी अपना जीवन सुख से बीतना मानता है। उस सोने से उसकी गर्ज पूरी होती है। अगर स्वर्ण से प्राणी की गर्ज पूरी न होती हो तो प्राणी को उस पर ममता ही न होती। इसी प्रकार और वस्तुएं–जो प्राणी

को सुख देने में सहायक होती है, जैसे घर या कपड़ा आदि कोई नष्ट कर दे, तो इससे प्राणी को दुःख होता है। क्योंकि घर का तोड़ना अर्थात् उसके प्राणों का आधार तोड़ना है। प्राणी कपड़े से जीता ही नहीं है, वरन् कपड़े को वह प्राणों का आधार मानता है अतएव उसके कपड़े को फाड़ देने से भी उसे दुःख होगा। इसलिए यह भी हिंसा है। मतलब यह है कि प्राणों को या प्राणों के लिए प्रिय किसी वस्तु को नष्ट कर देना हिंसा है। जब प्राणों की आधारभूत मानी हुई वस्तु का नाश कर देना भी हिंसा है तो जिस प्राण के होते वह वस्तु प्रिय लगती है, उस प्राण का नाश करना क्या हिंसा न होगा? अवश्य ही महाहिंसा है। इस प्रकार प्राणों के नाश करने की क्रिया को ही प्राणातिपात क्रिया कहते हैं।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! यह प्राणातिपात क्रिया एक दूसरे का स्पर्श होने पर लगती है या बिना स्पर्श हुए ही? भगवान् ने उत्तर दिया–गौतम! स्पर्श होने पर ही यह क्रिया लगती है।

यहां यह पूछा जा सकता है कि किसी प्राणी का मकान नष्ट करने में हिंसा लगती है, लेकिन मकान नष्ट करते समय प्राणी का स्पर्श नहीं होता। ऐसी स्थिति में यह बात कैसे लागू हो सकती है कि स्पर्श होने पर ही प्राणातिपात क्रिया लगती है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि स्पर्श तीन प्रकार से होता है–मन से, वचन से और काय से। किसी ने मन के प्रयोग से किसी प्राणी को मार डाला और काय से उसका स्पर्श नहीं किया, तो क्या उसे हिंसा नहीं लगेगी ? मन से उस प्राणी को मार डालने का संकल्प हुआ, इस कारण मानसिक स्पर्श हुआ और उसे क्रिया लगी।

यह तो शास्त्रीय समाधान हुआ। विज्ञान से भी यह बात सिद्ध की जा सकती है। जैन धर्म में एक लेश्या सिद्धान्त है। योग और कषाय की एकता होने पर कषाय से अनुरंजित योग की प्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं। शास्त्रकारों ने कषाय आदि समुद्घातों का भी निरूपण किया है। कषाय का भी समुद्घात होता है।

एक अंग्रेजी भाषा की पुस्तक देखने में आई थी, जो आधुनिक विज्ञान के आधार पर लिखी गई है। उसमें कषाय आदि कुछ चित्र भी थे। उसमें बतलाया गया था कि जब किसी व्यक्ति को, किसी पर क्रोध उत्पन्न होता है तब क्रोधी के शरीर से छुरी, कटार, तलवार आदि शस्त्रों के आकार के पुद्गल निकलते हैं। उन पुद्गलों का रंग लाल होता है। कहावत प्रचलित

है कि क्रोध से आंखें लाल हो गईं। क्रोध आने पर चेहरा लाल हो जाता है, यह कौन नहीं जानता? इस प्रकार विज्ञानवेत्ता यह स्वीकार करते हैं कि क्रोध करने वाले के शरीर से लाल रंग के पुद्गल निकलते हैं। वे शस्त्र के आकार के लाल रंग के पुद्गल जिस पर क्रोध किया जाता है, उसे स्पर्श करते हैं। अगर वह दूसरा भी पहले के समान क्रुद्ध हो उठा तो उसके शरीर से भी ऐसे ही पुद्गल निकलते हैं और दोनों के शरीरों से निकले हुए पुद्गलों में युद्ध होने लगता है। इससे विपरीत, अगर दूसरे ने क्रोध नहीं किया–क्षमाभाव रक्खा तो जैसे जल से आग बुझ जाती है, वैसे ही पहले व्यक्ति के शरीर से निकले हुए शस्त्र पुद्गल भी बेकार हो जाते हैं। इसी कारण गौतम स्वामी ने यह प्रश्न किया है कि जीव दूसरे को स्पर्श करके प्राणातिपात क्रिया करता है या, बिना स्पर्श किये ही? इसका उत्तर भगवान् ने दिया है–स्पर्श करते ही।

एक आदमी यहां से दूर बैठा है। यहां एक आदमी ने उसे मार डालने का विचार किया, जिससे उसे चार क्रियाऐं लग गईं। अगर उसने मंत्रादि का प्रयोग किया तो पांच क्रियाएं लगीं। यद्यपि वह आदमी दूर–बम्बई में बैठा है और मारने का विचार करने वाला यहां है। उसने उसे स्पर्श नहीं किया। लेकिन शास्त्र कहता है कि स्पर्श होने पर ही क्रियां लगती है, यह बात किस प्रकार संगत हो सकती है? यह बात दूसरी है कि किसी बात को समझाने वाला कोई न हो, परन्तु भगवान् ने अकारण ही यह वर्णन नहीं किया है। भगवान् की वाणी पर आस्था रखने से कभी कोई ऐसा पुण्यवान् भी मिलेगा जो उस बात का रहस्य आपको बतला देगा। धर्मशास्त्र में कहा है जिन वचनों के सुनने से क्षमा, अहिंसा आदि की शिक्षा मिलती है, वह ईश्वरीय वचन हैं और जिन्हें सुनने से क्रोध, हिंसा आदि दुर्भावों की जागृति होती है, वे चाहे ईश्वर के नाम पर ही क्यों न कहे गये हों, उन्हें मत सुनो।

क्रोध करने पर मन के पुद्गल कहां जाते हैं, यह बात विज्ञानवेत्ताओं ने यंत्रों की सहायता से देखी है, मगर भगवान् के पास यंत्र नहीं थे उन्होंने अपने–ज्ञान से किस प्रकार देखा होगा? इस बात का विचार करके भगवान् के वचन पर विश्वास रखना चाहिए। दूरवर्ती मनुष्य का मानसिक पुद्गलों के साथ किस प्रकार स्पर्श होता है, यह पहले बतलाया जा चुका है।

जीव चाहे कहीं भी रहे, उसका स्पर्श हो या न हो, तब भी उसके प्रति बुरी भावना होने से हिंसा का पाप लगता है: ऐसी सद्भावना अन्तःकरण में उत्पन्न होने पर आत्मा का एकान्त हित ही होता है, अहित नहीं होता।

बहुतेरे मनुष्य ऊपर की क्रिया करने में लगे रहते हैं, परन्तु अपने मन की ओर नहीं देखते। मन में क्या-क्या भरा है? इस ओर उनका ध्यान नहीं जाता। लेकिन जब तक मन स्वच्छ नहीं है, तब तक केवल ऊपरी दिखावटी क्रिया सार्थक नहीं होती। कहा भी है –

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भाव शून्याः

अर्थात् – भावहीन क्रियाएं सफल नहीं होती हैं। कहा है –

एक बगुला बैठो तीर, ध्यान धर नीर में,
एक लोग कहे याको, चित्त बस्यो रघुवीर में।
याको चित्त माछला मांय, जीव की घात है,
हा वाजिन्द दगाबाज को, नाहिं मिले रघुनाथ है।

ऐसी क्रिया से काम नहीं होता। किसी ने, जलाशय के किनारे पर ध्यान लगाये बैठे बगुले को देखा। उसे देख कर उसने कहा–ओह ! यहां के तो पक्षी भी योगियों की तरह ध्यान लगाते हैं! बगुला ध्यान लगाये बैठा था, मगर मन के भाव कहाँ छिप सकते थे? जब तक मछली नजर न आती तब तक वह ध्यान में बैठा रहता और जैसे ही मछली नजर आई कि उस पर झपटता और उसे मार खाता। इसी प्रकार बहुत से लोग मुंहपत्ती बांध कर या तिलक लगाकर, बकध्यानी बनकर लोगों को ठगते हैं। लोग उसे बकध्यानी समझते हुए भी लोभ–लालच आदि से प्रेरित होकर उपेक्षा करते हैं। मगर शास्त्र तो ऐसे लोगों को मिथ्याचारी ही कहता है।

शास्त्र कहता है दुर्भाव से प्रेरित होकर अगर मन से भी किसी जीव का स्पर्श करोगे तो पाप होगा। हां, अपने ध्यान में मग्न रहे, पाप की ओर मन न जाने दे, तो पाप से बचाव हो सकता है।

तदनन्तर गौतम पूछते हैं–भगवन्! प्राणातिपात क्रिया एक दिशा से स्पर्श होने पर लगती है या छहों दिशाओं से स्पर्श होने पर?

यहां एक आशंका और खड़ी की जा सकती है कि एकेन्द्रिय–पृथ्वी काय आदि–जीवों के मन भी नहीं होता वे मन से भी किसी दूसरे जीव का स्पर्श नहीं करते, फिर उन्हें हिंसा कैसे लगती है? इसका समाधान यह है कि एकेन्द्रिय जीवों के केवल द्रव्यमन–संकल्प–विकल्प करने का नहीं है, किन्तु मन की एक अस्पष्ट मात्रा उनमें भी पाई जाती है। अंधे पुरुष के आंख न होने पर भी जैसे वह पंचेन्द्रिय कहलाता है, उसी प्रकार उस अस्पष्ट मन के कारण उन्हें भी एक अपेक्षा से मन वाला कहा जा सकता है, एकेन्द्रिय जीव में भी प्रशस्त या अप्रशस्त अध्यवसाय होता है। अध्यवसाय के कारण ही उन्हें

प्राणातिपात क्रिया लगती है। अध्यवसाय क्या है? और उनमें किस प्रकार होता है? यह नहीं जान सकते। इसके लिए अर्हन्तों के वचन पर ही विश्वास करने से काम चल सकता है।

जीव को कितनी दिशाओं से स्पर्शी हुई क्रिया लगती है, इस विषय में छह दिशा और तीन दिशा का अन्तर है। लोक कहीं से कम चौड़ा है कहीं ज्यादा चौड़ा है। त्रस नाड़ी में रहने वाले जीवों को छहों दिशाओं की क्रिया लगती है लेकिन त्रसनाड़ी के बाहर स्थावरनाड़ी के कोने में रहे हुए जीव को जघन्य तीन दिशाओं में स्पृष्ट क्रिया लगती है और उत्कृष्ट छह दिशाओं में स्पृष्ट।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! प्राणातिपात क्रिया करने से लगती है या बिना किये ही लगती है? भगवान् ने फरमाया—हे गौतम ! करने पर ही लगती है, बिना किये नहीं लगती।

इस पर आप कह सकते है कि—तब तो अपने हाथ से कोई सावद्य क्रिया न करें, तो बस पाप से बच जाएंगे। अपने हाथ से रोटी बनाने में क्रिया लगती है; दूसरे से बनवा लेने में क्या पाप है?

कई लोगों की यह मिथ्या कल्पना है कि दूसरे की बनाई हुई सीधी रोटी खा ली, स्वयं हाथ से नहीं बनाई तो क्रिया नहीं लगती। क्योंकि शास्त्र में कहा है करने वाले को ही क्रिया लगती है। ऐसा समझने वालों को यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि जो वस्तु तुमने खाई या काम में ली और जो तुम्हारे उद्देश्य से बनाई गई है वह भले ही तुमने न बनाई हो, दूसरे ने ही बनाई हो, लेकिन वह बनाई तुमने ही है। जो रोटी तुमने खाई, या जो चीज काम में ली, उसके लिए तुम यह भले ही कहो कि यह चीज दूसरे ने बनाई है, मगर उस चीज की क्रिया तुम्हें भी लगेगी, क्योंकि उसमें तुम्हारा निमित्त है। उसे खाने या काम में लाने से परोक्ष रूप में तुमने प्रेरणा की है। अगर तुम बनाने वाले से कह देते कि मेरे लिए मत बनाना, मैं किसी दूसरे प्रकार से निर्वाह कर लूंगा, तब तो बात दूसरी है। लेकिन ऐसा न करने पर जो तुम्हारे ही लिए बना है, उसे काम में लेना या खाना और फिर यह कहना कि हमने यह क्रिया नहीं की, यह क्रिया से बचने का असफल बहाना है, केवल अपना मन—बहलाना है। अलबत्ता, जिस क्रिया के करने में मन भी नहीं लगाया, वचन भी नहीं लगाया और काया भी नहीं लगाई, वह क्रिया अवश्य न लगेगी।

अब आप कहेंगे कि, करना, कराना और अनुमोदन करना, यह तीन भंग हैं। अगर क्रिया स्वयं न की तो एक भंग से तो बच गये? अगर हमने एक करण एक योग से त्याग किया है तो वह त्याग भंग नहीं हुआ!

इस प्रकार का विचार करके कई लोग घर की बनी रोटी न खाकर हलवाई की दुकान का खाना अच्छा समझते हैं। उनकी समझ यह है कि घर पर खाने से क्रिया लगती है और हलवाई की दुकान में दूसरा बनाता है, इसलिए क्रिया नहीं लगती। मगर यदि इस प्रकार ऊपरी दृष्टि से ही देखा जाय तो घर में भी आप रोटी नहीं बनाते, स्त्री बनाती है। पर चाहे हलवाई की दुकान से खरीद कर खाओ, चाहे घर की स्त्री की बनाई खाओ, क्रिया अवश्य लगेगी। मन के परिणाम जैसे होंगे, वैसी क्रिया लगे बिना नहीं रह सकती।

आप यह इच्छा नहीं करते कि हमारे लिए रेल चले। वह तो यों भी चलती है। आप उसमें बैठें या न बैठें, रेल चलेगी ही। आप केवल टिकिट लेकर उसमें बैठ जाते हैं, फिर भी क्रिया लगती है या नहीं लगती ? इसके सिवा रेल तो रोज ही आती–जाती है, आपने अपने लिये नहीं चलवाई है; और बैलगाड़ी आप अपने ही लिए जुतवाकर कहीं जाते हैं; तो इन दोनों में से अधिक क्रिया किसमें लगती है? 'रेल में'

ऊपर से तो रेल की क्रिया शायद थोड़ी मालूम हो। और कोई यह भी समझ ले कि बहुत से आदमी रेल में बैठते हैं, इसलिए थोड़ी–थोड़ी क्रिया सब के हिस्से में आ जायेगी, लेकिन शास्त्र यह नहीं कहता। शास्त्र कहता है कि रेल बैठने वालों के लिए बनी है, अतएव सब बैठने वालों को रेल की क्रिया लगती है। इसी प्रकार हलवाई की दुकान पर मिठाई खरीददारों के लिए ही बनी है। उसे पैसे देकर जो लेता है, उसे मिठाई बनाने की क्रिया लगेगी। घर के चूल्हे में और हलवाई की भट्टी में यों भी बहुत अंतर है। श्रावक के घर लकड़ी, जल आदि सामग्री का विवेक रक्खा जायगा, मगर हलवाई के यहां यह विवेक कहां?

कभी–कभी अपने हाथ से काम करने में जितना पाप होता है, उसकी अपेक्षा दूसरे से काम कराने में अधिक पाप होता है, एक बार मेरे सांसारिक मामाजी ने दावत दी। उस समय मैं आठ दस वर्ष का था। मामाजी ने मुझसे भंग की पत्ती लाने को कहा। उस समय भंग का ठेका नहीं था। वाड़े में ही बहुत–सी भंग लगी थी। मैं बच्चा था। नहीं जानता था कि कितनी भंग की पत्ती से काम चल जायेगा। बच्चों को तोड़ने–फोड़ने का काम स्वभावतः

रुचिकर होता है। मैं कुर्ते का खोला भरकर भंग की पत्ती तोड़ लाया। मामाजी को थोड़ी–सी पत्ती ही चाहिए थी। उन्होंने कहा–क्यों ढेर पत्ती तोड़ लाया! मैं 'सकपका' कर रह गया और धीरे से कहा–मुझे क्या पता था?

मामाजी एक स्थानीय धार्मिक सेठ से ऐसे मामलों में बहुत डरते थे और उनसे लुक–छिप कर ही भंग काम में लेते थे। अतएव आवश्यक भंग रखकर शेष छिपाकर फेंक दी। अब आप विचार कीजिये कि भंग की सब पत्ती तोड़ने का पाप मामाजी को लगा या नहीं? अगर वे स्वयं तोड़कर लाते तो आवश्यकतानुसार ही तोड़ते और व्यर्थ के पाप से बच सकते थे।

सारांश यह है कि अपनी काया से कार्य न करने के कारण उस समय तक हिंसा से नहीं बचा जा सकता, जब तक उसके करने में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे प्रेरणा–अनुमोदना है। विवेक रखने पर ही क्रिया से बचाव हो सकता है। बहुत–सी श्राविकाएं सामायिक तो करती हैं, मगर उनसे पूछा जाय कि जल छानने की विधि क्या है? तो कह देंगी नौकरानी जाने! वे समझती हैं कि रोटी न बनाने से और परिंडे को हाथ न लगाने से हम क्रिया से बच गई।

आपको प्रवृत्ति बुरी ही बुरी लगती है, परन्तु सत्प्रवृत्ति के बिना निवृति नहीं हो सकती। प्रवृति में विवेक रखने के लिए ही यह उपदेश दिया जा रहा है। यहां सत्य का उपदेश दिया तो क्या दुकान पर उसका पालन नहीं करेंगे? अगर वहां स्वयं असत्य भाषण न करके, दूसरे पर असत्य भाषण का भार डाल देंगे तो यह आत्मवंचना होगी। अतएव क्रिया से बचने के लिए विवेक से काम लेना चाहिए।

क्रिया करने से लगती है या बिना किये लगती है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया है कि करने से क्रिया लगती है, बिना किये नहीं लगती।

इस उत्तर पर यह तर्क किया जा सकता है कि शास्त्र में एक जगह तो लिखा है कि जीवन को चौदह राजू लोक की क्रिया लगती है और यहां कहा गया है कि करने से लगती है, बिना किये नहीं। इस परस्पर विरोधी कथन में से किसे वास्तविक माना जाय? जिन जीवों का हमें ध्यान भी नहीं है, जिनका स्मरण भी नहीं है, उनके सम्बन्ध में हमें क्यों क्रिया लगती है ? इसके उत्तर में ज्ञानी कहते है कि बहुत–सी बातें तुम्हें नही दिखतीं। तुम उन्हे नहीं जानते। तुम्हारी शक्ति क्या है? यह बोध होने पर ही तुम ऐसा तर्क कर सकते हो। अगर तुम्हे लोक के सब जीवों की क्रिया न लगती होती तो जबर्दस्ती लगाने की क्या आवश्यकता थी? ऐसा करने से किसी को क्या लाभ

था? जिन महापुरुषों ने पूर्णता की स्थिति प्राप्त कर ली है, उन्हें उपदेश की आवश्यकता ही नहीं। उपदेश उनके लिए है भी नहीं। अपूर्ण स्थिति वालों के लिए ही उपदेश दिया जाता है। ऐसे लोगों को धर्म के संबंध में अगर कोई तर्क उपजे तो उसका समाधान करना उचित है। जहां तक धर्म का संबंध है, तर्क को प्रधानता नहीं देना चाहिए। मगर उत्पन्न हुए तर्क का समाधान न करना भी अनुचित है और बाल की खाल निकालने की कुचेष्टा करना भी अनुचित है। एकान्त तर्क ही तर्क पर तुल जाने से नास्तिकता आती है। हां, तर्क शक्ति को भी धर्म में उचित स्थान है, मगर नास्तिकताजनक तर्क हानिकारक ही हैं। वास्तव में तर्क इतनी अस्थिर और चंचल है कि वह कहीं ठहरती नहीं और सभी कुछ इन्द्रियों और बुद्धि द्वारा समझना चाहता है। मगर मनुष्य का सामर्थ्य इतना कम है कि बहुत–से सूक्ष्म तत्त्व जो अनुभवगम्य ही होते हैं, उसकी पकड़ में नहीं आते। इस कारण अश्रद्धा, संशय और मोह उत्पन्न होता है और चित्त की यह मूढ़ताएं आत्मविनाश का कारण होती हैं।

ज्ञानियों ने क्रिया लगने के पांच कारण बतलाये हैं। चाहे यह कारण ज्ञान में हों या नहीं, परन्तु इन पांच शक्तियों से कर्म–बंध की क्रिया बराबर जारी रहती है। वह पांच कारण यह हैं :– मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय, और योग। इन पांच द्वारों से जीव–रूपी तालाब में कर्म रूपी पानी आता है। यद्यपि कर्मों के आगमन के ये पांच द्वार हैं, तथापि कर्म आते हैं करने से ही, बिना किये नहीं आते। अगर बिना किये कर्म आने लगे तो जड़ पत्थर आदि और सिद्धों को भी कर्मबंध होने लगें।

'बिना कीधा लागे नहीं। किधा कर्मज होय। कर्म कमाया आपणा, तेथी सुख दुख होय।

इम समकित मन स्थिर करो।'

अब सन्देह यह होता है कि यह मिथ्यात्व की क्रिया में चौदह राजू लोक की क्रिया लगती है; सो कैसे? इस संबंध में उचित यही है कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करके मिथ्यात्व की क्रियानष्ट करो। अगर मिथ्यात्व क्रिया का नाश न करोगे तो मिथ्यात्व की क्रिया लगेगी ही। धर्म के शास्त्रों ने मिथ्यात्व का तिरस्कार करके यही कहा है कि करोड़ों वर्ष तपने पर भी आत्मज्ञान के बिना मोक्ष न होगा। क्योंकि जब तक आत्मज्ञान न होगा, कर्म बंधते रहेंगे और जब तक कर्म बंधते रहेंगे, मोक्ष नहीं होगा।

उदाहरणार्थ, कल्पना कीजिए, एक आदमी अपराध को अपराध समझ कर कारणवश करता है। दूसरा आदमी पागल है। वह अपराध को

अपराध नहीं मानता। वह भी वही अपराध करता है। इन दोनों के अपराध का परिणाम क्या होगा? अपराध को अपराध समझकर करने वाले को कानून के अनुसार नियत सजा मिलेगी, मगर पागल को तो पागलखाने में ही बंद कर दिया जायगा। पहला व्यक्ति नियमित अवधि पर छुटकारा पा जाएगा, मगर पागल के लिए कोई अवधि निश्चित नहीं है। उसकी सजा का अन्त तभी होगा, जब उसका पागलपन दूर हो जायगा। इसी प्रकार मिथ्यात्व का पाप बहुत बड़ा है। इस पाप का अन्त नहीं है।

मिथ्याज्ञान नष्ट हो गया; सम्यग्ज्ञान प्राप्त हो गया, व्रत–अव्रत की समझ आ गई, फिर व्रत क्यों नहीं स्वीकार करते? न स्वीकार करोगे तो अव्रत की क्रिया लगेगी ही।

मान लीजिए, आपने देवलोक के रत्न लेने का त्याग नहीं किया है। ऐसी स्थिति में अगर कोई देव देवलोक के रत्न लाकर आपको दे तो आप इंकार करेंगे? आप यही सोचेंगे कि इन्हें लेने में क्या हर्ज है ? मैंने इन्हें लेने का त्याग नहीं किया है। आप उन्हें ले लेंगे। अगर त्यागा हुआ है तो आप उन्हें कदापि न लेंगे। यह न लेना व्रत का ही प्रताप है। और त्याग न होने पर ले लेना ही कर्म आने का मार्ग है। यही अव्रत की क्रिया कहलाती है। चाहे आपको विचार हो या न हो, परन्तु जिसका त्याग न होगा उसके लेने में आप उद्यत हो जाएंगे। अतएव अव्रत की क्रिया से बचने के लिए त्याग करना नितान्त आवश्यक है।

तीसरी क्रिया प्रमाद सम्बन्धी है। एक घटना सुनी थी। किसी समय उदयपुर–जेल में एक बुढ़िया अपराधिनी आई थी। बुढ़िया बैठी थी और पहरेदार को नींद आ गई। वह तलवार खूंटी पर टांग कर सो गया। सिपाही को यह ख्याल नहीं था कि बुढ़िया मेरी तलवार लेकर अपने आपको मार लेगी, न उसकी यह भावना ही थी कि वह मार ले! मगर उस बुढ़िया को न जाने क्या सूझी कि उसने पहरेदार की तलवार उठाई और आत्महत्या करने लगी। बुढ़िया को तलवार चलाने का ज्ञान नहीं था; अतएव उसने तलवार की नौंक गले में घुसेड़ ली। इस कारण वह मरी तो नहीं हाय–हाय करने लगी। उसकी आवाज सुनकर पहरेदार जाग उठा। उसने बुढ़िया से तलवार छीन ली। मुकदमा अदालत में गया और अदालत से उस सिपाही को भी सजा मिली।

सिपाही की भावना यह नहीं थी कि बुढ़िया मेरी तलवार से आत्महत्या करने का यत्न करेगी, फिर भी सिपाही को सजा मिलने का क्या कारण है ? वास्तव में सिपाही को उसकी गफलत के लिए सजा मिली।

सावधानी न रखने से—गफलत करने से सजा मिलने के सैकड़ों उदाहरण मिल सकते हैं। यही बात शस्त्रीय भाषा में प्रमाद के विषय में कही जा सकती है। संसार में प्रमाद के लिए मिलने वाली सजा के लिए तर्क—वितर्क नहीं किया जाता मगर शास्त्रों में कल्याण के लिए जो बात कही गई है, उसमें तर्क किया जाता हैं।

आत्मा में एक प्रबल विकार है, जिसे कषाय कहते हैं। जैसे विकारकारक वस्तु का सेवन करने पर वह अपना असर दिखलाती ही है, इसी प्रकार कषाय करोगे तो उसके परिणामस्वरूप कर्म भी आयेंगे ही। आत्मज्ञान होने पर कषाय भी शनैः—शनैः नष्ट हो जाते हैं।

पांचवां कारण योग है, जिसमें कषाय शेष नहीं रहा है—जो वीतराग हो गया है, उसमें भी यदि योग की चपलता है तो योग की क्रिया उसे लगेगी। जब तक मन, वचन, काय का परिस्पंदन होता है—उनमें हलचल रहती है, तब तक किसी न किसी तरह दूसरे को पीड़ा पहुंचती ही है और जब तक अपने द्वारा दूसरों को पीड़ा पहुंचती है तब तक मोक्ष कैसे हो सकता है? योग न हो तो कर्म का ईर्यापथिक—आस्रव भी नहीं होगा, मगर यह संभव नहीं है कि योग हों और कर्म—बंध न हों। हां, कषाय के अभाव में सिर्फ योग के निमित्त से स्थितिबंध और अनुभागबंध नहीं होता, प्रकृति और प्रदेशबंध ही होता है। इस प्रकार कषाय के क्षय हो जाने पर और आत्मा का अनन्त वीर्य प्रकट हो जाने पर भी योग के कारण क्रिया लगती है। तब कषाययुक्त योगों की प्रवृत्ति तो कर्मबन्धन का कारण है ही।

मतलब यह है कि चाहे किसी को मालूम हो या न हो, आत्मा जब क्रिया करता है तब क्रिया लगती है। बिना किये क्रिया नहीं लगती। हां, अगर आत्मा गफलत से क्रिया करेगा तो गफलत से करने का पाप लगेगा और जानकर करेगा तो जानकर करने का पाप लगेगा। अतएव अगर क्रिया से बचना है तो सावधानी रखनी चाहिए।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! अगर क्रिया करने से ही लगती है तो अपने करने से लगती है, दूसरे के करने से लगती है या अपने और दूसरे—दोनों के करने से लगती है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम! अपने करने से लगती है; दूसरे के करने से नहीं लगती।

कोई यह तर्क कर सकता है कि अगर एक पाप दो व्यक्तियों ने मिलकर किया तो व्यापार के नफे के माफिक पाप में भी हिस्सा क्यों नहीं हो जाता? बहुत से लोग इसी प्रकार के विचारों से सीधा लेकर खाते और सीधा

लेकर पहनने की गड़बड़ में पड़े हैं, लेकिन जब तक आदमी अपने आपके सहारे न होगा, तब तक गड़बड़ नहीं मिटेगी। पाप के हिस्से होने का कानून संसार–व्यवहार में भी नहीं है। राजकीय नियम यह है कि यदि एक अपराध चार आदमी मिलकर करें तो उन चारों को ही अपराध का पूरा–पूरा दंड दिया जाता है। दंड में हिस्सा बांट लेने को स्थान नहीं है।

कर्त्ता, कर्म और क्रिया, तीन अलग–अलग वस्तु हैं। इन तीनों के समुचित सहकार से कार्य होता है। जिसके करने से क्रिया हो वह कर्त्ता कहलाता है। अगर कर्त्ता न हो तो क्रिया नहीं हो सकती। कर्त्ता चाहे अधिक हों, परन्तु क्रिया के पाप में भाग नहीं होगा। प्रत्येक कर्त्ता को उसके आशय के अनुसार पाप लगेगा। पाप का बंटवारा नहीं होगा। अगर पच्चीस आदमियों ने मिलकर कोई अपराध किया है तो इन सबकी जांच अलग–अलग होगी कि किसने किस नियत से अपराध किया है? फिर जिसने जिस नियत से अपराध किया होगा, उसे उसीके अनुसार दण्ड दिया जायगा। इसी प्रकार शास्त्र का कथन है कि पाप का भाग नहीं होगा, किन्तु अपने–अपने अध्यवसायों के अनुसार सब को फल भोगना पड़ेगा। पच्चीस आदमी मिलकर अगर एक मनुष्य की हत्या करते हैं तो पच्चीसों को क्रियाएं लगेंगी। हां, अगर इन पच्चीस आदमियों में पांच आदमी जबर्दस्ती शामिल कर लिये गये हैं उन्होंने मारने में भाग नहीं लिया है, तो उन्हें क्रिया नहीं लगेगी। दुनिया का कानून अपूर्ण है और ज्ञानियों का कानून पूर्ण है। जब अपूर्ण कानून भी दंड के हिस्से नहीं करता तो पूर्ण कानून क्यों हिस्से करेगा? सारांश यह है कि जो जीव जिस भाव से, जैसी क्रिया करेगा उसे उसी प्रकार का फल भोगना पड़ेगा। आत्मा अपने ही किये का फल भोगता है। दूसरे के पापों का फल नहीं भोगता।

जब अपनी वृत्तियां आप में नहीं रहती–आत्मा अपने स्वभाव में स्थित नहीं रहता, तब आत्मा पापक्रिया करता है। अगर बाहर जाने वाली वृत्तियों को आत्मा की ही ओर मोड़ लिया जाय तो पाप होने का कोई कारण नहीं है।

इसके पश्चात गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन् ! आत्मा प्राणातिपात क्रिया अनुपूर्वी से करता है या अनानुपूर्वी से !

हाथ में पांच उंगलिया है। उन्हें एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी इस प्रकार क्रम से गणना करना अनुपूर्वी है। इसे पूर्वानुपूर्वी भी कहते

हैं। इस क्रम को उलट देना अर्थात पांचवी, चौथी, तीसरी इस प्रकार गिनना पश्चानुपूर्वी है। और किसी प्रकार का क्रम नहीं होना अनानुपूर्वी है।

गौतम स्वामी के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया– आत्मा अनुपूर्वी से प्राणातिपात क्रिया करता है, क्रम को छोड़कर नहीं करता।

ज्ञानी पुरुषों ने इस क्रम का हिसाब किस प्रकार लगाया है, यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता, परन्तु आत्मा क्रम से क्रिया करता है, संभवतः यह अर्थ निकलता है। अर्थात् आत्मा मन से भी क्रिया करता है, वचन से भी क्रिया करता है और काय से भी क्रिया करता है। इस प्रकार किसी से भी क्रिया की जावे मगर अध्यवसाय के बिना क्रिया नहीं होती। अध्यवसाय के साथ चाहे मन हो, वचन हो या काय हो; लेकिन अध्यवसाय के चलने पर ही मन, वचन और काय चलते हैं। अध्यवसाय के साथ जब कोई क्रिया की ओर चलता है तो पहले पास के कर्मदलिकों को ग्रहण करता है। उदाहरणार्थ–चिकने घड़े पर पहले पास की रज लगेगी, फिर दूर की लगेगी। इसी प्रकार राग–द्वेष की चिकनाई से जीव जिन कर्मदलिकों को ग्रहण करता है, वे क्रमसे ही ग्रहीत होते हैं; बिना क्रम के नहीं आते। यह अर्थ मैंने अपनी समझ के अनुसार किया है तत्त्वं तु केवलीगम्यम्।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! जीव जो प्राणातिपात क्रिया करता है, वह क्रिया अनुक्रम से की गई है, ऐसा कहा जा सकता है? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हां, गौतम! कहा जा सकता है।

यह प्राणातिपात क्रिया का समुच्चय विचार हुआ। लेकिन भगवान् के यहां एक का विचार हो और एक का न हो, यह नहीं हो सकता। पूर्ण पुरुष के समक्ष कसी भी प्रकार की अपूर्णता नहीं ठहर सकती। सर्वज्ञ के सिद्धान्तों में सभी का उचित विचार किया जाता है।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! नरक के जीव प्राणातिपात क्रिया करते हैं ?

भगवान् ने फरमाया–गौतम ! हां, करते हैं। शेष सब प्रश्नोत्तर पूर्वोक्त सामान्य जीव के कथन के समान ही समझना चाहिएं, मगर नारकी जीवों के सम्बन्ध में छह दिशाओं का ही स्पर्श करना चाहिए। त्रस–नाड़ी में होने के कारण आलोक के अन्तर का व्याघात यहां नहीं होता।

एकेन्द्रिय के पांच दण्डकों को छोड़कर शेष सब दण्डकों के सम्बन्ध में नारकियों के समान ही कथन समझना चाहिए। एकेन्द्रिय में समुच्चय जीव की तरह छह दिशाओं और तीन दिशाओं का स्पर्श कहा गया है। एकेन्द्रिय

को तीन दिशा की क्रिया भी लगती है, चार की भी लगती है और पांच की भी लगती है। उत्कृष्ट छह दिशा की क्रिया तो है ही।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! प्राणातिपात से ही क्रिया लगती है या और किसी तरह से भी क्रिया लगती है? भगवान् ने फरमाया—हे गौतम! अठारह तरह से क्रिया लगती है। प्राणातिपात के समान ही शेष सत्तरह स्थानों को भी समझ लेना चाहिए।

प्राणातिपात क्रिया के समान मृषावाद की क्रिया के भी प्रश्नोत्तर समझना। जैसे—भगवन्! क्या जीव मृषावाद की क्रिया करता है? भगवान् ने उत्तर दिया—हां, गौतम! करता है।

साधारण झूठ तो सभी की समझ में आ जाता है, परन्तु तात्विक (तत्त्व से सम्बन्ध रखने वाले) झूठ को समझ लेना इतना सरल नहीं है। घड़े को घड़ा कहना, कपड़ा नहीं कहना यह साधारण सत्य है। घड़े को घड़ा कहने की बात व्यावहारिक है, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से देखना चाहिए कि एकान्त दृष्टि से घड़े को घड़ा समझा और कहा है या अनेकांत दृष्टि से? घट के कारणों की प्रतिपत्ति में कोई विपर्यास तो नहीं है? उदाहरणार्थ—प्रश्न किया गया कि घट की उत्पत्ति कहां से हुई है? उत्तर होगा—कुम्हार से। तब पूछा गया—कुम्हार उपादान कारण है ? या निमित्त कारण है? अगर किसी ने कुम्हार को उपादान कारण कहा तो समझिए कि यह कथन मिथ्या है। क्योंकि उपादान कारण पहले तो कारण रूप होता है फिर कर्त्ता और निमित्त कारण के व्यापार से स्वयं कार्यरूप में परिणत हो जाता है। जैसे कपड़ा सूत से बना है, अतः सूत कपड़े का उपादान कारण है, क्योंकि सूत, जुलाहे और करघा आदि निमित्त कारणों के संसर्ग से स्वयं ही कपड़े के रूप में परिणत हो जाता है। अगर सूत के आगे चलकर विचार करें तो रूई उपादान कारण ठहरेगी और सूत उसका कार्य होगा। इस प्रकार आगे बढ़ते जाने पर अन्त में विवाद खड़ा हो जाता है। जैसे प्रश्न किया गया—रूई कहां से आई? उत्तर मिला—मिट्टी से। फिर प्रश्न हुआ—मिट्टी कहां से आई? उत्तर मिलेगा—परमाणु से। यह अन्त हुआ। इस पर प्रश्न उपस्थित होता है—परमाणु कहां से आये? इस प्रश्न के उत्तर में मतभेद होता है। कोई कहता है—ईश्वर से, कोई कहता है परमाणु सदैव विद्यमान रहते हैं। इस सम्बन्ध में जैन धर्म की मान्यता यह है कि जैसे जीव अनादि से है, उसी प्रकार पुद्गल द्रव्य भी अनादि से है। ईश्वरवादी जैसे ईश्वर को अनादि मानते है उसी प्रकार पुद्गल को अनादि मानने में कोई बाधा नहीं दिखाई देती है।

मतलब यह है कि घड़ा कुम्हार ने बनाया है, यह तो सभी कहेंगे, मगर उसकी कारण–परम्परा पर–उसके मूल पर विचार करने पर अनेक प्रकार के विवाद उपस्थित हो जाते हैं, यद्यपि कई ऐसे दर्शनशास्त्र भी हैं जो घड़े को काल्पनिक मानते हैं और घड़े की तरह अन्यान्य पदार्थों को भी कल्पना ही समझते हैं। उनके अभिप्राय से ज्ञान या ब्रह्म के अतिरिक्त ओर किसी भी पदार्थ का वास्तव में अस्तित्व नहीं है।

निमित्त कारण वह कहलाता है, जो कार्य की उत्पत्ति में सहायक तो हो, मगर स्वयं कार्य के रूप में न पलटे। जैसे घड़ा बनने में चाक, डंडा आदि। इन कारणों की घड़ा बनाने में आवश्यकता है, मगर वे घड़े को बनाकर अलग रह जाते हैं; स्वयं मिट्टी की भांति घट नहीं बन जाते, अतएव वे उपादान कारण नहीं, वरन् निमित्त कारण है। घड़े में तो मिट्टी आई है, अतएव वही उपादान कारण है।

इस प्रकार घड़े को घड़ा कहने पर भी जो उपादान और निमित्त कारण को ठीक मानता और जानता है, वही तात्विक दृष्टि से ठीक कहता है–सत्यवादी है; अन्यथा उसे मिथ्याभाषी ही समझना चाहिए।

यह बात दूसरी है कि ऐसी तात्विक बातें एकदम अपनी समझ में न आवें और आप इस सूक्ष्म सत्य का पालन न कर सकें; परन्तु इस ओर ज्ञान बढ़ाना उचित है, बात को ठीक तरह समझे बिना खींचतान करने से–आग्रहशील बन बैठने से मृषावाद–क्रिया लगती है।

एक प्रकार से यह कहा जा सकता है कि आत्मवंचना ही झूठ है। जहां परवंचना है वहां आत्मवंचना अवश्यंभावी है। मान लीजिए, एक आदमी आपके पास दस रुपये मांगने आया। आपके पास रुपये अवश्य हैं, लेकिन आप देना नहीं चाहते और सत्य बोलने का भी आप में साहस नहीं है। इसलिए आपने कह दिया–हमारे पास अभी रुपये नहीं हैं, होते तो दे देता। असल में देने की इच्छा नहीं थी, मगर बहाना आपने यह बनाया कि रुपये नहीं हैं। ऐसा करके आप समझते हैं कि आपने उसे समझा दिया, परन्तु दरअसल आपने अपने आपको धोखा दिया है। कहीं आपके वचन में सत्य होने की शक्ति होती तो क्या होता? सचमुच ही आपके घर में का रुपया गायब हो जाता! मगर आप जानते हैं कि हमारे निषेध कर देने से रुपये कहीं चले थोड़े ही जाएंगे! इस प्रकार तो सत्यवादी की ही बात सत्य हुआ करती है। आपको अपने सत्य पर ही विश्वास नहीं है।

आपने असत्य बोलकर रुपये मांगने वाले को टाल दिया, मगर उसका आपके ऊपर विश्वास नहीं रहा। वह जान गया कि आप चाहते तो रुपये दे सकते थे, किन्तु मतलब निकालने के लिए झूठ भी बोल सकते हैं। इस प्रकार की आत्मवंचना करके आपने अपने को सत्पुरुषों की गणना से बाहर कर लिया। जब तक आप झूठ नहीं बोले थे—आत्मवंचना आपने नहीं की थी तब तक आप सत्यरूप थे। परन्तु झूठ बोलने के कारण आपका ईश्वरत्व ठगा गया। अगर आप साहस करके स्पष्ट कह देते—मेरे पास रुपये हैं, मगर अमुक कारण से नहीं दे सकता, तो थोड़ी देर के लिए वह मांगने वाला पुरुष बुरा चाहे मान लेता परन्तु यह तो कहता ही कि मुझे रुपये नहीं दिये, यह बात दूसरी है, मगर हैं सत्पुरुष—झूठ नहीं बोलते। लेकिन आप मनुष्य को नाराज नहीं करना चाहते, ईश्वर भले ही नाराज हो जाए। शास्त्र में कहा है—

तं सच्चंखु भगवं

सत्य भगवान् है। उस भगवान् को आपने असत्य बोलकर नाराज कर दिया। आप कदाचित् सोचते होंगे कि ऐसा किये बिना हमारा काम नहीं चलता, मगर यह आपका भ्रम है। चिरकालीन अभ्यास के कारण ही आपको ऐसा मालूम होता है। इसी भ्रम के शिकार होकर लोग सत्य बोलकर मनुष्य को नाराज करने की अपेक्षा झूठ बोलकर सत्य का परित्याग करते हैं।

यह सम्भव है कि कभी रुपये आपके घर में हों, मगर आपको उनके होने का पता नहीं है और आप कह देते हैं कि भाई! मैं देना तो चाहता था, मगर रुपये मेरे पास नहीं हैं। ऐसी अवस्था में आपको मृषावाद की क्रिया नहीं लगेगी; क्योंकि आपने जो कुछ कहा है उसे सत्य समझकर ही कहा है। अलबत्ता, जहां जान—बूझकर, कपट करके मृषावाद किया जाता है, वहां मृषावाद का पाप अवश्य लगता है।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि प्राणातिपात से लगने वाली क्रिया कौनसी है और मृषावाद से लगने वाली क्रिया कौनसी है ! इसका उत्तर यह है कि वस्तु तो एक ही है, किन्तु प्राप्ति के कारण अलग—अलग हैं। एक आदमी हाथ से भोजन करता है, दूसरा छुरी कांटे से। हाथ से खाने पर हाथ का चेप लगेगा और छुरी आदि से खाने पर उनका चेप लगेगा? इसी प्रकार प्राणातिपात करने पर प्राणातिपात जन्य क्रिया लगती है और मृषावाद करने पर मृषावाद जन्य क्रिया लगती है।

गौतम स्वामी पूछते है—प्रभो ! क्या अदत्तादान की भी क्रिया लगती हैं?

भगवान् उत्तर देते है—हां, गौतम! लगती है।

बिना दिये किसी की चीज ले लेना अदत्तादान कहलाता है। कोई आदमी बिना दी गई वस्तु तो न ले, परन्तु किसी से ऐसी लिखत लिखा लेवे कि जिससे विवश होकर उस लिखने वाले को लिखत के अनुसार देना पड़े; देने वाले का चित्त बेहक का देने के कारण दुःखी हो, तो ऐसा लेने वाला अदत्तादान करता है। भले ही लेने वाला ये समझे कि वह अदत्तादान नहीं करता, लेकिन ज्ञानी पुरुष यह कहते हैं कि कुटिलता का भाव रखकर बेहक का लेना अदत्तादान के ही अन्तर्गत है।

'अदत्तादान' का शब्दार्थ तो इतना ही है कि किसी की बिना दी हुई चीज न लेना। मगर उसका भाव अर्थ बहुत व्यापक है। कहां-कहां किस-किस प्रकार से अदत्तादान का पाप लगता है, यह जानने के लिए विवेक की आवश्यकता है। उदाहरणार्थ-दो भाई शामिल भोजन करते हैं। चीज थोड़ी है और अधिक मिलने की आशा नहीं है। यह मालूम है कि इस चीज में दोनों का हक बराबर है, लेकिन एक हाथ धीमा चलता है और दूसरे का जल्दी-जल्दी। इस कारण एक भाई अपने भाग से भी अधिक खा गया और दूसरे को उसका भत्ता भी पूरा नहीं मिला। तो ज्यादा खाने वाले को अदत्तादान की क्रिया लगती है या नहीं ? आप कहेंगे- उसने कब चोरी की है? वह तो दूसरे के सामने बैठकर ही खा रहा था। किन्तु ज्ञानी पुरुष कहते हैं-उसने ध्यान नहीं रक्खा कि इस चीज में दोनों का भाग बराबर-बराबर है। प्राणरक्षा दोनों करना चाहते हैं। लेकिन उसने उसकी रक्षा की परवाह नहीं की। मगर वह जल्दी भोजन करता था तो उसे उचित था कि वह पहले ही दो भाग कर लेता या अपने ही हक का खाता। यदि ऐसा किया होता तो उसे अदत्तादान की क्रिया न लगती।

एक उदाहरण और लीजिए। मान लीजिए, आप चालाक या होशियार है और दूसरा आदमी सीधा और भोला है, ऐसे भोले आदमी को किसी प्रकार की चाल में फंसा अनुचित उपाय से कुछ ऐंठ लेना और फिर यह कहना कि मैं बिना दिये नहीं लेता या हक का लेता हूं, ठीक नहीं यह भी अदत्तादान है। आप की दृष्टि में चाहे वह अदत्तादान न हो, मगर ज्ञानी की दृष्टि में वह अदत्तादान है। अगर आप यह सोचें कि यह भोला है तो क्या हुआ, इसे इसके हक का मिलना चाहिए और मुझे मेरे हक का; और आप उचित भाग ही लें तो आपको अदत्तादान की क्रिया नहीं लगेगी।

प्रकृति-प्रदत्त पदार्थों पर सबका समान अधिकार है। कल्पना कीजिए आपके पास दो कोट है। आपकी ठंड दूर करने के लिए एक ही कोट काफी

है। दूसरा कोट पहनने से शरीर में खराबी होती है। यदि ऐसे अवसर पर आपके सामने दूसरा आदमी ठंड का मारा मर रहा है, आप उसे कोट न देकर कहें कि यह कोट हमारा है, तो यह अदत्तादान है या नहीं? अगर आपके पास बेकाम पड़ा हुआ कोट, शीत से पीड़ित पुरुष छीन ले तो उसे सरकार दंड देती है, परन्तु जिन्होंने बिना आवश्यकता के दो कोट पहन रक्खे हैं, या कई–एक कोट वृथा संदूकों में भर रक्खे हैं, उन्हें सरकार सजा नहीं देती। ऐसा विचित्र यह न्याय है! सरकार छीनने वालों को ही दंड देने का कानून बना सकती है, इससे आगे उसकी गति कुंठित हो गई है, लेकिन धर्म कहता है कि अपने पास इतना अनावश्यक रखना कि जिसके कारण दूसरे जीवित न रह पावें, अदत्तादान नहीं तो क्या है?

आपने एक मजदूर से बोझा उठवाया। आप उसे मजदूरी देंगे। उसने तो अपना पेट भरने के लोभ से अपनी शक्ति से अधिक बोझ उठाया, लेकिन आपको उसकी शक्ति देखना चाहिए। उसमें अगर उतना बोझ उठाने की शक्ति नहीं है और आप जानते हैं कि इतना बोझ उठाने से वह अधमरा हो जायगा, फिर भी आपने उस पर बोझ लाद दिया, तो पैसे देने के कारण आप व्यवहार में चाहे न पकड़े जावें, लेकिन शास्त्र कहता है कि यह अतिभारारोपण नामक अहिंसाव्रत का अतिचार है। मतलब यह है कि आप जिसे हक मानते हैं, वह वास्तव में हक है या नहीं, इस बात का विचार आपको गम्भीरतापूर्वक करना चाहिए। कोट पहनकर अपनी ठंड मिटा लेना आपका हक है, लेकिन आप अनावश्यक लादे रहे और दूसरा ठंड के मारे मर रहा हो, यह हक आपको नहीं है। बेईमानी से कमाना और बेईमानी से खर्च करना हक नहीं है। गीता मे भी कहा है कि जिसने दिया है, उसे न देकर अकेले हड़प जाना चोरी है।

आपको जिन गरीबों ने कपड़ा बनाकर दिया है, वे नंगे उघाड़े शीत का कष्ट भोग रहे हैं और आप अनावश्यक दो कोट पहने खड़े हैं ! अगर आपने अपने दो कोटों में से एक ठंड से मरने वाले गरीब को दे दिया, तब तो कहा जायगा कि आपने हक का विचार किया है, अन्यथा आप हक पर, न्यायनीति पर ध्यान नहीं दे रहे है। ऐसी अवस्था में शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार अदत्तादान की क्रिया की।

अगर आप अदत्तादान की क्रिया से बचना चाहते हैं तो हक कायदे के कोई भी काम मत कीजिए। एक दरी अगर चौड़ी बिछा ली जाय तो उस पर कई आदमी बैठ सकते है पर ऐसा न करके उस दरी को समेट कर आप ही अकेले बैठ जायं तो यह कायदे की बात नही।

अदत्तादान में स्थूल और सूक्ष्म भेद है। स्थूल अदत्तादान का त्याग करके धीरे-धीरे सूक्ष्म अदत्तादान का भी त्याग करना चाहिए। शास्त्र में साधुओं के संबंध में कहा है कि अगर दो साधु एक साथ भोजन लाये और एक साधु ने उसमें से एक कौर भी अधिक खा लिया तो उसे अदत्तादान की क्रिया लगी। आप संसारव्यवहार में पचे रहते हैं। अगर इतने सूक्ष्म अदत्तादान का त्याग न कर सके तो भी आदर्श तो यही सामने रखना चाहिए। किसी को अन्तराय तो नहीं देना चाहिए।

इसी प्रकार अठारह पापों की क्रिया लगती है, इसलिए विवेक के साथ विचार कर पाप से बचने के लिए निरन्तर उद्योग करना चाहिए। अगर अठारह पापों का अलग-अलग विवेचन किया जाय तो उसका पार पाना कठिन है। अतः संक्षेप में ही उस पर प्रकाश डाला जाता है।

क्रोध, मान, माया, लोभ और राग द्वेष का थोड़ा सा स्पष्टीकरण करना आवश्यक है। जीव को इन विकारों के द्वारा भी क्रिया लगती है। चाहे वह चीज हो या न हो, लेकिन यदि लोभ नहीं मिटेगा तो क्रिया लगेगी ही। उदाहरण के लिए, किसी आदमी के पास पांच ही रुपया है, मगर वह लखपति होने की चाह रखता है तो चाहे वह लखपति हो या न हो, उसे लखपति की क्रिया लगेगी। इससे विपरीत अगर कोई लखपति होकर भी अपनी सम्पत्ति के प्रति ममत्व नहीं रखता तो उसे संचय की ही क्रिया लगेगी, लोभ की क्रिया नहीं लगेगी।

प्रश्न होता है कि जब अठारह पाप स्थानों में क्रोध और मान का नामोल्लेख कर दिया है तो फिर द्वेष की अलग क्यों गणना की है? इसी प्रकार जब माया और लोभ का नाम गिना दिया है तब राग को अलग कहने की क्या आवश्यकता थी? इसका उत्तर यह है कि जिसमें क्रोध और मान-दोनों का समावेश हो जाता है, वह द्वेष कहलाता है और माया एवं लोभ के मिलने से राग होता है। जैसे दो रंगों के मिलने से तीसरा रंग तैयार हो जाता है, उसी प्रकार राग और द्वेष, क्रोध, मान, माया तथा लोभ से होने पर भी क्रोध और मान से द्वेष तथा माया और लोभ से राग होता है। अर्थात् दो-दो का एक-एक में समावेश हो जाने से अन्तर पड़ जाता है।

प्रेम और द्वेष में भी बड़ा अन्तर है। यह भी प्रकृति का भेद है। पूर्ण वीतराग अवस्था में तो प्रेम का भी सद्भाव नहीं रहता, परन्तु नीची अवस्था में प्रेम रहता है। यहाँ प्रेम का अर्थ अभिष्वंग समझना चाहिए। अभिष्वंग रूप प्रेम, राग ही है, जिसे लोग प्रेम कहते हैं। उदाहरणार्थ किसी को स्त्री से, धन

से, भंग से, मदिरा से या मिठाई से प्रेम होता है। यह प्रेम प्रेम नहीं, राग है, क्योंकि इसमें अभिष्वंग है।

जिसमें माया और लोभ का भेद अलग–अलग मालूम न हो, पर शक्कर एवं दही, या दूध और मिश्री की तरह दोनों एकमेक हो रहे हों, और इस कारण एक तीसरा ही रूप उत्पन्न हो गया हो, इसे संसार में प्रेम कहते हैं। यह प्रेम–'अट्ठिमिंज्जा पेमाणुरागरत्ता' या 'धम्मपेमाणुरागरत्ता' के समान प्रेम नहीं है, वरन् राग ही है।

जिसमें क्रोध और मान का अलग–अलग भेद न किया जा सके, जिसमें दोनों का ही समावेश हो जाए, वह द्वेष होने पर नफरत होती है। यह नफरत क्रोध से हुई है या मान से, यह नहीं जाना जा सकता। अतएव यह द्वेष कहलाता है।

मोहनीय कर्म के उदय से चित्त में जो उद्वेग होता है, उसे अरति समझना चाहिए और मोहनीय कर्म के उदय से उत्पन्न विषयानुराग को रति समझना चाहिए।

कपटयुक्त झूठ बोलना माया मृषावाद कहलाता है। झूठ दो प्रकार का होता है। एक को काला झूठ और दूसरे को सफेद झूठ कह सकते हैं। काले झूठ को सब लोग पहचान लेते हैं, मगर सफेद झूठ को पहचानना कठिन होता है। सफेद झूठ को काम में लाने वाले लोग ऊपर से ऐसी पालिसी प्रकट करते हैं कि वह झूठ भी सत्य प्रतीत होने लगता है। आज की विद्या की यही तारीफ है कि उसे पढ़ने वाले लोग सफेद झूठ बोलने में चतुर हो जाते हैं। लेकिन शास्त्र ऐसे किसी भी झूठ को प्रश्रय नहीं देता।

झूठ तो मृषावाद रूप ही है, लेकिन माया मृषावाद कपटयुक्त झूठ है। दार्शनिक भेद डालकर मारामारी फैलाने का काम झूठ बोलने वालों ने नहीं, वरन् माया–मृषावादियों ने सफेद झूठ बोलने वालों ने किया है। मायामृषावादी लोग अपने असत्य पर ऐसा रंग चढ़ाते हैं कि साधारण जनता उनके चक्कर में पड़ जाती है। चाहे इस प्रकार की बनावट से लोगों को फांस लिया जाय, मगर शास्त्र स्पष्ट कहता है कि यह झूठ भी झूठ है।

कदाचित् आप कहें कि ऐसा किये बिना काम कैसे चल सकता है? लेकिन इसके साथ यह भी विचार कीजिए कि अगर संसार के सभी लोग इसी प्रकार झूठ बोलने लगें–सभी एक–दूसरे को फांसने के प्रयत्न में लग जाएं तो क्या संसार का काम चलेगा? नही।

फिर यों तो कलाल भी कहता है कि शराब पिये बिना काम नहीं चलेगा। वेश्याएं भी कहती हैं कि अगर हम न होंगी तो समाज का काम कैसे चलेगा? अगर यह बातें ठीक मानी जाएं तो यह भी माना जा सकता है कि कपट सहित झूठ के बिना संसार–व्यवहार नहीं चल सकता।

आप लोगों ने जिस सफेद झूठ के बोलने से अपने आपको होशियार मान रक्खा है, उसे एक मास के लिए ही त्याग कर देखो; और इस एक महीने की आमदनी से झूठ बोले हुए एक महीने की आमदनी मिलाकर देखो तो मालूम होगा कि झूठ बोले बिना काम चल सकता है या नहीं! यह तो आपकी आदत पड़ गई है कि झूठ बोले बिना आपको काम चलता नहीं दिखाई देता। मगर सत्य की ओर झुको तो झूठ की बुराई और सत्य की महिमा देखकर चकित हो जाओगे।

कल्पना कीजिए, एक बड़ी और मोटी लकड़ी जमीन पर पड़ी है और दूसरी उतनी ही बड़ी जल में पड़ी है। जमीन पर पड़ी लकड़ी को घुमाने में कई लोगों की आवश्यकता होगी। लेकिन जल में् पड़ी लकड़ी को घुमाने के लिए उतने आदमियों की आवश्यकता न होगी। उसे एक साधारण–सा बालक भी घुमा सकता है। क्योंकि उसे घुमाने में एक दूसरी शक्ति सहायक है। आप कहते हैं–असत्य के बिना काम नहीं चल सकता, लेकिन मेरा कथन यह है कि सत्य के बिना काम नहीं चल सकता। सत्य ईश्वरीय सहारा है। इस सहारे की विद्यमानता में किसी भी काम में जरा सा इशारा होने की आवश्यकता है, फिर कार्य सिद्ध होने में विलम्ब नहीं लगता। मगर लोग यह अनुभव नहीं करते। वे झूठ में ऐसे तल्लीन हैं कि उन्हें सत्य के अमोघ सामर्थ्य पर विश्वास ही नहीं है। सत्य का शरण ग्रहण करो तो परम कल्याण होगा।

मिथ्यादर्शनशल्य यहां दर्शन का अर्थ है–अभिप्राय। जिसे मिथ्यादर्शन का शल्य लग गया, उसे सब बातें झूठी ही झूठी दिखाई देती हैं। ऐसे आदमी को देखकर ज्ञानी को शिक्षा लेनी चाहिये कि–हे आत्मन् ! तू इस मिथ्यादर्शन शल्य से वचना! देख, यह वेचारा अज्ञानी मिथ्यादर्शन शल्य के ही कारण सत्य को भी असत्य रूप में देखता है।

इस प्रकार गौतम स्वामी ने अठारह ही पापों के विषय में प्रश्न किये और भगवान् ने सबके उत्तर दिये। अपने हृदय का समाधान करके गौतम स्वामी सेवं भंते! सेवं भंते! कहकर तप–संयम में लीन हो गये।

भगवान् और आर्य रोह

मूलपाठ

तेणं कालेणं तेणं समएणं समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतेवासी रोहे णामं अणगारे पगइभद्दए, पगइमउए, पगइविणीए, पगइउवसंते, पगइपतणु कोह–माण– माया–लोहे, मिउमद्दवसंपण्णे, अल्लीणे, भद्दए, विणीए, समणस्स भगवओ महावीरस्स अदूरमासंते, उड्ढंजाणू, अहोसिरे, झाण कोट्ठोवगए संजमेणं तवसा अप्पाणं भावेमाणे विहरइ। तएणं से रोहे अणगारे जायसड्ढे जाव पज्जु वासमाणे एवं वसायीः–

प्रश्न–पुव्विं भंते! लोए? पच्छा अलोए? पुव्विं अलोए, पच्छा लोए?

उत्तर–रोहा! लोए य अलोए य, पुव्विं पेते, पच्छा पेते, दो वि ए सासया भावा, अणाणुपुव्वी एसा रोहा!

प्रश्न–पुव्विं भंते! जीवा? पच्छा अजीवा? पुव्विं अजीवा, पच्छा जीवा?

उत्तर–जहेव लोए, य अलोए, य; तहेव जीवा य अजीवा य। एवं भवसिद्धिआ य अभवसिद्धिआ य, सिद्धि, असिद्धि य सिद्धा असिद्धा।

प्रश्न–पुव्विं भंते! अंडए? पच्छा कुक्कुडी? पुव्विं कुक्कुडी पच्छा अंडए?

'रोहा! से णं अंडओ कओ?'

'भयवं! तं कुक्कुडीओ!'

'साणं कुक्कुडी कओ?'

'भंते! अंडयाओ!'

उत्तर–एवामेव रोहा! से य अंडए, सा य कुक्कुडी पुव्विं पेते, पच्छा पेते–दुवे एसासया भावा, अणाणुपुव्वीं एसा रोहा!

प्रश्न–पुव्विं भंते! लोयंते? पच्छा अलोयंते? पुव्विं अलोयंते, पच्छा लोयंते?

उत्तर–रोहा! लोयंते य, अलोयंते य, जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा!

प्रश्न–पुव्विं भंते! लोयंते? पच्छा सत्तमे उवासंतरे? पुच्छा।

उत्तर–रोहा! लोयंते य, सत्तमे य उवासंतरे, पुव्विं पि दो वि एते, जाव–अणाणुपुव्वी ऐसा रोहा! एवं लोयंते य, सत्तमे य तणुवाए, एवं घणवाए, घणोदही, सत्तमा पुढवी। एवं लोयंते एक्केक्केणं संजोएयव्वे इमेहिं ठाणेहिं, तंजहाः–

उवास–वाय घणउदहि–पुढवी–दीवा य सागरा वासा।
नेरइ आई अत्थिय समया कम्माइं लेस्साओ।।
दिट्ठि दंसण णाणा सण्णा सरीरा य जोग उवओगे
दव्व पएसा पज्जव अद्धा किं पुव्वि लोयंते।।

प्रश्न–पुव्विं भंते! लोयंते, पच्छा सव्वद्धा?

उत्तर–जहा लोयंतेणं संजोइआ सव्वे ठाणा, एवं अलोयंतेण वि संजोएयव्वा सव्वे।

प्रश्न–पुव्विं भंते! सत्तमे उवासंतरे पच्छा सत्तमे तणुवाए?

उत्तर–एवं सत्तमं उवासंतरं सव्वेहिं समं संजोएयव्वं जाव सव्वद्धाए।

प्रश्न–पुव्विं भंते! सत्तमे तणुवाए, पच्छा सत्तमे घणवाए?

उत्तर–एयं पि तहेव नेयव्वं, जाव–सव्वद्धा। एवं उवारिल्लं एक्केक्कं संजोयंतेणं जो जो हिट्ठिल्लो, तं तं छड्डंतेणं नेयव्वं जाव–अईअ अणागयद्धा, पच्छा सव्वद्धा, जाव अणाणुपुव्वी एसा रोहा !

सेवं भंते! सेवं भंते! ति जाव–विहरइ।

संस्कृत–छाया–

तस्मिन् काले, तस्मिन् समये श्रमणस्य भगवतो महावीर–स्यान्तेवासी रोहो नाम अनगारः प्रकृतिभद्रकः, प्रकृतिमृदुकः, प्रकृतिविनीतः, प्रकृत्युपशान्तः, प्रकृतिप्रतनुक्रोध–मान – माया– लोभः, मृदुमार्दवसम्पन्नः अलीनः, भद्रकः, विनीतः श्रमणस्य भगवतो महावीरस्य अदूरसामन्ते,

ऊर्ध्वजानुः, अधःशिराः, ध्यानकोष्ठोपगतः, संयमेन तपसा आत्मानं भावयन् विहरति। तदा स रोहोऽनगारो जातश्रद्धो यावत् पर्युपासीन एवमवादीत्–

प्रश्न–पूर्वं भगवन्! लोकः पश्चात् अलोकः, पूर्वम् अलोकः, पश्चाद् लोकः?

उत्तर–रोह! लोकश्च, अलोकश्च पूर्वमपि एतौ, पश्चाद् अपि एतौ, द्वौ अपि एतौ शाश्वतौ भावौ, अनानुपूर्वी एषा रोह!

प्रश्न–पूर्वं भगवन्! जीवाः, पश्चाद् अजीवाः, पूर्वं अजीवाः, पश्चाद् जीवाः?

उत्तर–यथैव लोकः, अलोकश्च; तथैव जीवाश्च, अजीवाश्च। एवं भवसिद्धिकाश्च अभवसिद्धिकाश्च। सिद्धिः, असिद्धिः, सिद्धाः, असिद्धाः।

प्रश्न–पूर्वं भगवन्! अण्डकम्, पश्चात् कुक्कुटी? पूर्वं कुक्कुटी पश्चात् अण्डकम्?

'रोह! तद् अण्डकं कुतः?

'भगवन्। कुक्कुट्याः।'

'सा कुक्कुटी कुतः।'

'भगवन्! अण्डकात्।'

उत्तर–एवमेव रोह! तद् अण्डकं सा च कुक्कुटी पूर्वमपि एते पश्चादपि एते–द्वौ शाश्वतौ भावौ। अनानुपूर्वी एषा रोह!

प्रश्न–पूर्वं भगवन्! लोकान्तः, पश्चाद् अलोकान्तः? पूर्वं अलोकान्तः? पश्चाद् लोकान्तः?

उत्तर–रोह! लोकान्तश्च, अलोकान्तश्च, यावत् अनानुपूर्वी एषा रोह!

प्रश्न–पूर्वं भगवन्! लोकान्तः, पश्चात् सप्तममवकाशान्तरम्? पृच्छा।

उत्तर–रोह! लोकान्तश्च, सप्तमम्–अवकाशान्तरम्। पूर्वमपि द्वौ अपि एतौ यावत्–अनानुपूर्वी एषा रोह! एव लोकान्तश्च सप्तमश्च तनुवातः, एव घनवातः, घनोदधिः, सप्तमी पृथ्वी। एवं लोकान्त एकैकेन संयोजमितव्य एभिः स्थानैः, तद्यथा–

अवकाश वात घनोदधि पृथिवी द्वीपाश्च सागराः वर्षाणि।
नैरयिकादि–अस्तिकायाः समयाः कर्मणि लेश्याः।।
दृष्टिदर्शनं ज्ञानानि संज्ञा शरराणि च योगोपयोगौ।
द्रव्यप्रदेशाः पर्यवाः अद्धा किं पूर्वं लोकान्तः।।

प्रश्न—पूर्वं भगवन् लोकान्तः पश्चात् सर्वाद्धा!

उत्तर—यथा लोकान्तेन संयुक्तानि सर्वाणि स्थानानि एतानि, एवं लोकान्तेनापि संयोजयितव्यानि सर्वाणि।

प्रश्न—पूर्वं भगवन्! सप्तमं अवकाशान्तरम्, पश्चात् सप्तमस्तनुवतः?

उत्तर—एवं सप्तमम् अवकाशान्तरम् सर्वैः समं संयोजयितव्यम् यावत् सर्वाद्धा।

प्रश्न—पूर्वं भगवन्! सप्तमस्तनुवातः, पश्चात् सप्तमो घनवातः?

उत्तर—एवमपि तथैव ज्ञातव्यम्, यावत् सर्वाद्धा। एवं उपरितनम् ऐककेन सयोजयता यो योऽधस्तनः तं तं छर्दयता ज्ञातव्यम् यावत्अतीत—अनागताद्धा, यावत्—अनानुपूर्वी एषा रोह!

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति यावत् विहरति।

शब्दार्थ—

उस काल और उस समय, श्रमण भगवान् महावीर के शिष्य रोह नाम अनगार थे। वे स्वभाव से भद्र, स्वभाव से कोमल, स्वभाव से विनीत, स्वभाव से शान्त, अल्प क्रोध, मान, माया, लोभ वाले, अत्यन्त निरभिमानी, गुरु के समीप रहने वाले, किसी को कष्ट न पहुंचाने वाले और गुरुभक्त थे। वे रोह अनगार ऊर्ध्व जानु और नीचे झुके मुख वाले, ध्यानरूपी कोठे में प्रविष्ट, संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप विचरते हैं। तत्पश्चात् वे रोह अनगार जातश्रद्ध होकर यावत् भगवान् की पर्युपासना करते हुए, इस प्रकार बोले :—

प्रश्न—भगवन्! क्या पहले लोक है? और पश्चात् अलोक? या पहले अलोक और फिर लोक?

उत्तर—रोह! लोक और अलोक, पहले भी हैं और पीछे भी हैं। यह दोनों ही शाश्वत भाव हैं। हे रोह! इन दोनों में यह पहला और यह पिछला ऐसा क्रम नहीं है।

प्रश्न—भगवन्! जीव पहले और अजीव पीछे हैं? या पहले अजीव और फिर जीव हैं ?

उत्तर—हे रोह! जैसा लोक और अलोक के विषय में कहा है, वैसा ही जीव और अजीव के सम्बन्ध में समझना चाहिये। इसी प्रकार भवसिद्धिक, अभवसिद्धिक, सिद्धि और असिद्धि तथा सिद्ध और संसारी के संबंध में भी जानने चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! पहले अंडा और फिर मुर्गी है? या पहले मुर्गी और फिर अंडा है?

'हे रोह! वह अंडा कहां से आया?'

'भगवन्! वह मुर्गी से हुआ।'

'हे रोह! वह मुर्गी कहां से आई?'

'भगवन्! मुर्गी अंडे से हुई।'

उत्तर–इसी प्रकार हे रोह! मुर्गी और अंडा पहले भी है और पीछे भी है, यह शाश्वत भाव है। रोह! इन दोनों में पहले–पीछे का क्रम नहीं है।

प्रश्न–भगवन्! पहले लोकान्त और फिर अलोकान्त है? अथवा पहले अलोकान्त और फिर लोकान्त है?

उत्तर–रोह! लोकान्त और अलोकान्त, इन दोनों में यावत्–कोई क्रम नहीं है।

प्रश्न–भगवन्! पहले लोकान्त है और फिर सातवां अवकाशान्तर है? इत्यादि प्रश्न करना।

उत्तर – हे रोह! लोकान्त और सातवां अवकाशान्तर, यह दोनों पहले भी है, पीछे भी इस प्रकार यावत्–रोह! इन दोनों में पहले–पीछे का क्रम नहीं है। इसी प्रकार लोकान्त, सातवां तनुवात, इसी प्रकार घनवात, घनोदधि और सातवीं पृथ्वी। इस प्रकार प्रत्येक के साथ लोकान्त को निम्नलिखित स्थानों के साथ जोड़ना चाहिए।

अवकाशान्तर, वात घनोदधि, पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्ष (क्षेत्र), नारकी आदि जीव, चौबीस दण्डक अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, संज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्यप्रदेश और पर्याय तथा क्या काल पहले है और लोकान्त बाद में है?

प्रश्न–भगवन्! लोकान्त पहले और सर्वाद्धा बाद में है?

उत्तर–रोह! जैसे लोकान्त के साथ सब स्थानों का संयोग किया, उसी प्रकार इस सम्बन्ध में भी जानना चाहिए। और इसी प्रकार इन स्थानों को अलोकान्त के साथ भी जोड़ना चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! पहले सातवां अवकाशान्तर और फिर सातवां तनुवात है?

उत्तर–हे रोह! इसी प्रकार सातवें अवकाशान्तर को पूर्वोक्त सब के साथ जोडना चाहिए, इसी प्रकार सर्वाद्धा तक समझना चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! पहले सातवां तनुवात और फिर सातवां घनवात है?

उत्तर–हे रोह! यह भी उसी प्रकार जानना, यावत्–सर्वाद्धा। इस प्रकार एक–एक का संयोग करते हुए और जो–जो निचला हो उसे छोड़ते हुए पूर्ववत् समझना। यावत्–अतीत और अनागत काल और फिर सर्वाद्धा, यावत्–हे रोह! इनमें कोई क्रम नहीं है।

भगवन् यह इसी प्रकार है, हे भगवन्! यह इसी प्रकार है ! ऐसा कहकर यावत् विचरते हैं।

व्याख्यान

भगवान् महावीर के एक शिष्य रोह नामक अनगार थे। संभव है, आधुनिक रुचि 'रोह' नाम पसंद न करे। मगर प्राचीन काल में नाम पर उतना ध्यान नहीं दिया जाता था, जितना काम पर। आज की अवस्था इससे विपरीत है। अब काम की ओर नहीं, नाम की ओर ही ध्यान दिया जाता है। मेरे कथन का आशय यह न समझा जाय कि मैं सुन्दर और सार्थक नाम रखने का विरोध करता हूं। मेरा अभिप्राय केवल इतना ही है कि नाम के बजाय काम (कार्य) को प्रधानता मिलनी चाहिए और इसी आधार पर मनुष्य को प्रतिष्ठा अप्रतिष्ठा मिलनी चाहिए। रोह! कितना सीधा–सादा, संक्षिप्त नाम है! इस संक्षिप्त नाम के साथ उन्होंने कितनी विशेषताएं प्राप्त की थी! यह इन्द्रपूजित महात्मा थे। शास्त्रकार ने इनका जो परिचय दिया है, वह आगे आएगा। उन्होंने भगवान् से कुछ प्रश्न किये हैं और भगवान ने उनका उत्तर दिया है।

यहां यह आशंका की जा सकती है कि हमें प्रश्नोंत्तर सुनने से और किसी दूसरे की गुणावली श्रवण करने से क्या लाभ है? मगर गीता में कहा है कि :–

तद् विद्धि प्रणिपातेन, परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेश्यंति ते ज्ञानं, ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।गीता–4/34

अर्थात्–उस ज्ञान को पोथी से न चाहो, किन्तु नम्र भाव से आत्मा को झुकाकर गुरु से पूछकर, उनकी सेवा करके प्राप्त करो।

आप गाय से दूध चाहते हैं, मगर क्या उसकी सेवा करके चाहते हैं? नहीं, यह घोर कृतघ्नता है। इसी प्रकार जो ज्ञान प्राप्त करना चाहते हैं मगर उसके बदले ज्ञानदाता की सेवा नहीं करना चाहते, उनका यह भाव स्वार्थपूर्ण है। ज्ञान अमृत है। गीता के अनुसार ज्ञान देने वाले को झुक कर और नमस्कार करके ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

आजकल बहुत–से लोग अगर नमस्कार भी करेंगे तो अपनी अकड़ चली गई मानेंगे। उनकी समझ ऐसी है कि उनकी अकड़ ही उनकी प्रशंसा

का कारण है। पर इस अभिमान से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। तत्त्वज्ञान प्राप्त करते समय अभिमान को जूतों की तरह दूर रख देना चाहिए। अभिमान का त्याग करने पर आत्मा में एक विशेष प्रकार की जागृति उत्पन्न होती है। आत्मा विचारने लगता है—हे आत्मन्! अब कड़ा रहकर तू कब तक ठोकरें खाता फिरेगा? नम्र बन कर ज्ञान प्राप्त कर ले। इसी में तेरा कल्याण है।

रोह अनगार ने नम्र बन कर ज्ञान प्राप्त किया था। यह बात प्रकट करने के ही लिए शास्त्र में रोह अनगार का परिचय दिया गया है। सबसे पहले रोह अनगार के स्वाभाविक गुणों का वर्णन किया गया है। वे प्रकृति से ही भद्र थे।

आजकल तो भद्र या भद्रिक का प्रयोग मूर्ख के अर्थ में होने लगा है। मगर मूर्ख को भद्र या भद्रिक कहना 'भद्र' शब्द का अपमान करना है। भद्रिक पद बड़े—बड़े महात्माओं के लिए प्रयुक्त किया गया है उसी शब्द को मूर्ख के लिए व्यवहार करना मूर्खतापूर्ण ही है।

'भज्—कल्याणे' धातु से 'भद्र' शब्द बना है। इसका अर्थ है—कल्याणकारी। अच्छे वस्त्र पहनने वाला और ठाठ से रहने वाला पुरुष ही कल्याणकारी नहीं है, वरन् जिसमें स्वभावतः परोपकार और दूसरों का कल्याण करने का गुण है, वही वास्तव में भद्रिक कहला सकता है।

कहा जा सकता है कि प्रकृति से इस प्रकार का गुण कैसे आ जाता है? अगर प्रकृति पर ध्यान दिया जाय तो मालूम हो जायगा कि वृक्ष अपना सारा शरीर परोपकार में क्यों लगा देता है? वृक्ष को अजात शत्रु कहते हैं। उसने अपना अंग—अंग लकड़ी, पत्ते, फल, फूल आदि सब कुछ परोपकार के लिए ही अर्पित कर दिया है। वह छाया देता है, फल देता है, ज्यादा कुछ नहीं तो आक्सीजन वायु तो देता ही है, जो मनुष्यों के जीवन का मूल है। जिस प्रकार वृक्ष के साथ बुराई करने पर भी वृक्ष भलाई ही करता है, अर्थात् पत्थर मारने पर भी फल—फूल या पत्ता ही देता है, इसी प्रकार जो मनुष्य स्वभाव भद्र हैं, वे भी बुराई करने वाले के साथ भलाई ही करते है। इसके लिए एक उदाहरण दिया जाता है :—

एक राजा प्रकृत्ति का भद्र था। उसका स्वभाव ही यह था कि वह प्रत्येक दशा में दूसरे का कल्याण ही करता था। कल्याण करने की भावना रखने वाले के पास दूसरे के कल्याण की वस्तुएं उसी प्रकार रहा करती है, जिस प्रकार शिकारी अपनी बंदूक भरी हुई रखता है कि कोई शिकार मिले और मारूं।

वह राजा प्रकृति का भद्र था। एक दिन वह जंगल की रचना देखने के लिए जंगल की ओर निकल पड़ा। जंगल की स्वच्छ वायु और जंगली पशु–पक्षियों की रचना देखकर वह विचारने लगा–हम सद्गुण प्राप्त करने के लिए पुस्तकों के साथ माथापच्ची करते हैं, मगर सद्गुण इस जंगल में स्वतः उत्पन्न हो सकते हैं, वह पुस्तकों में कहां रक्खे हैं!

राजा जंगल में भ्रमण करता–करता दोपहर की धूप से घवड़ा उठा उसने जंगल में विश्राम करने का विचार किया। वह एक बेर के झाड़ के नीचे विश्राम करने लगा। यद्यपि बेर के झाड़ में कांटे थे, मगर राजा ने उसकी छाया सुन्दर देखकर वहीं विश्राम किया।

राजा वेर के पेड़ के नीचे सो गया। राजा ने अपने साथी पहरेदारों को दूर रहने के लिए कहा, जिससे निद्रा में व्याघात न हो, पहरेदारों की स्वतंत्रता में बाधा न पड़े और शुद्ध हवा मिल सके। जब राजा सो रहा था तो एक ग्रामीण पथिक उस ओर से निकला। पथिक इतना भूखा था कि उसका पेट पाताल को जा रहा था। वह भूख मिटाने का उपाय सोच रहा था कि उसे वेर का पेड़ नजर आया। पथिक ने सोचा–बेर के फलों से ही भूख कुछ शान्त हो जायगी।

पथिक ने देखा–पेड़ फलों से लदा है। उसने सोचा पेड़ के पास पहुंचने पर फल गिराऊंगा तो कुछ देर लगेगी ही, इसलिए यहीं से लकड़ी फैंक दूं। उसने पेड़ में जोर से लकड़ी मारी बहुत से फल नीचे आकर गिरे। वृक्ष से फल तो गिर गये मगर लकड़ी नीचे गिर कर राजा को लगी। बेर और लकड़ी लगने से राजा की नींद खुल गई। राजा उठ बैठा।

पथिक अभी तक वृक्ष के ऊपरी भाग को ही देख रहा था। फल गिरने के समय उसने देखा कि मेरी लकड़ी राजा को लग गई है। पथिक भय के मारे कांपने लगा। उसने कहा–महाराज, क्षमा कीजिए। मैंने आपको नहीं, वृक्ष को लकड़ी मारी थी। भूल से आपको भी लग गई। मैं भूख से व्याकुल था। इसी कारण वेर खाना चाहता था। आपके ऊपर मेरी निगाह नहीं पड़ी।

इतने में पुलिस आ धमकी। वे वात को घटाने क्यों लगे? खैरख्वाही जताने के लिए उन्होंने ववंडर खड़ा कर दिया। वे उसे पकड़ने के लिए झपटे। पथिक भागा। राजा ने कहा इसे मारो मत। पकड़ कर मेरे पास ले आओ। राजा ने पथिक से भी कहा–भाई, तू डर मत। तू मेरा परिचित है। आखिर पथिक विवश था। भाग कर भी पकड़ में आता ही। यह सोचकर उसने कहा–अच्छा, चलो, मैं राजा के पास चलता हूं।

सिपाहियों के साथ पथिक राजा के पास गया। उसने विनय करते हुए कहा—हुजूर! आप मारना चाहें तो भले मारिये मगर मैंने आपको जानबूझ कर लकड़ी नहीं मारी।

राजा ने अपने साथ के खजांची से लेकर उसे एक खोवा (अंजुली) भर रुपये दिये। खजांची भौंचका रह गया। लकड़ी मारने का इतने रुपये इनाम ! अगर लोगों को यह बात मालूम होगी तो गजब हो जायगा। इसे अधिक सजा नहीं तो गफलत की सजा अवश्य मिलनी चाहिए। राजा ने कहा—कानून के अनुसार तुम्हारा कहना ठीक है लेकिन मैं कानून से उच्चतर नीति का अवलंबन करना चाहता हूं। मैं तुम्हारा जमा—खर्च करवा देता हूं। लिखो—एक गरीब ने बेर वृक्ष पर लकड़ी फैंकी लकड़ी खाकर उस वृक्ष ने गरीब को बहुतेरे फल दिये। परन्तु लकड़ी राजा पर गिर पड़ी। वृक्ष राजा को चेतावनी देता है कि—मैं भी गरीब को भूखा नहीं रहने देता, तो तूं राजा होकर के भी गरीब को भूखा कैसे रख सकता है? गरीब को भूखा रखने वाला राजा कैसा! इस चेतावनी के मिलने पर भी राजा अगर गरीब को भूखा रखता है तो उसका विरुद जाता है। इसलिए राजा ने गरीब को इनाम दिया।

इसे कहते हैं प्रकृति—भद्रता! यह भद्रता पोथियां पढ़ने से नहीं आती। प्रकृति के सान्निध्य में बसने वाले ही इसे प्राप्त करने का सोभाग्य पाते हैं।

रोह अनगार प्रकृति से भद्र होने के साथ प्रकृति से मृदु थे। मृदु का अर्थ है कोमल। जो पुरुष द्राक्ष की भांति बाहर—भीतर से कोमल होता है, उसे प्रकृति मृदु कहते हैं। मतलब होने पर मृदुता प्रकट करना और मतलब निकल जाने पर अपना असली रूप प्रकट करना मृदुता नहीं है। यह मायाचार है। प्रकृति की मृदुता का उदाहरण श्रीकृष्ण के चरित्र में भी दिखाई पड़ता है। जरा—जीर्ण बूढ़े की ईट उठाना उनका प्राकृतिक मृदुता का प्रमाण है।

रोह अनगार प्रकृति से भद्र और मृदु थे, अतएव प्रकृति से विनीत भी थे। जो प्रकृति से भद्र और मृदु होगा वही विनयी भी होगा। इनमें आपस में कार्य कारण भाव सम्बन्ध है। विनय कार्य है और भद्रता एवं मृदुता उसका कारण है।

विनयति—निराकरोति अष्ट प्रकारं कर्म, इति विनयः। अर्थात् जिसके द्वारा आठ प्रकार के कर्म दूर किये जाते है, उसे विनय कहते हैं। जैसे कोमल मिट्टी या राख बर्तन को साफ कर देती है, उसी प्रकार विनय आत्मा को निर्मल बना देती है। शास्त्र में कहा है —

धम्मस्स विणओ मूलं

अर्थात्–धर्म का मूल विनय है।

अन्य लोग कर्मनाश का कारण भक्ति मानते हैं, परन्तु जैन धर्म विनय को कर्मनाश का कारण कहता है।

विनीत–नम्र होना प्रत्येक मनुष्य के लिए आवश्यक है। कई लोग सोचते हैं–नम्र रहने पर कद्र नहीं होगी, मगर यह भ्रम है। स्वार्थ–साधन के लिए दीनता या नम्रता दिखलाना दूसरी बात है, मगर निःस्वार्थ भाव से नम्र होने पर कदापि बेकद्री नहीं हो सकती।

रोह अनगार के क्रोध, मान, माया ओर लोभ रूप कषाय पतले पड़ गये थे अगर उनके क्रोध आदि का सर्वथा क्षय हो गया होता, तब तो वे भगवान् से प्रश्न ही न करते अर्थात् वे स्वयं सर्वज्ञ, सर्वदर्शी परमात्मा बन जाते। अतः क्रोधादि उनमें विद्यमान तो थे, मगर उसे वे सफल नहीं होने देते थे; और वह बहुत हल्का पड़ गया था।

रोह अनगार ने 'अहं' प्रकृति पर भी विजय प्राप्त कर ली थी। संसार में जहां देखो, अहंकार का झगड़ा चल रहा है। अहंकार ने हाहाकार मचा रक्खा है। न जाने कितना संहार अहंकार के कारण हो रहा है! लेकिन हे जीव! जिसके लिये 'मैं' कहता हैं, उससे क्यों नहीं पूछता कि वह तेरे 'मैं' का समर्थन करता है या नहीं? अगर वह समर्थन नहीं करता तो तू उसके लिये क्यों 'मैं–मैं' कर रहा है? तू घड़ी को अपनी कहता है, मगर घड़ी से तो पूछ देख कि वह तुझे अपना कहती है या नहीं? अगर वह नहीं कहती तो तू क्यों उसे अपनी मान बैठा है! इस प्रकार के विचार से अहंकार और ममकार छूट जाते हैं और आत्मा में अपूर्व शान्ति का प्रादुर्भाव होता है।

रोह अनगार ने अहंकार को जीत लिया था। गुरु का उपदेश पाकर उन्होंने अहंकार को गला दिया था। वास्तव में सच्चा साधु वही है, जो अहंकार को जीत ले !

रोह अनगार प्रकृति से ही अलीन थे। अलीन का अर्थ है गुरु–समाश्रित। अर्थात गुरु का उन्होंने पूर्णरूपेण आश्रय लिया था। वे गुरु पर निर्भर थे। सब प्रकार से गुरु की सेवा भी करते थे।

सब धर्मशास्त्र कहते हैं कि महात्माओं की सेवा से ही तत्त्वज्ञान की प्राप्ति होती है। पुस्तकें उस ज्ञान की झाँकी भी नहीं दिखा सकतीं। ऊपर गीता का उदाहरण देकर भी यही बात बतलाई गई है।

कई लोगों को शंका–समाधान करने मे झिझक होती है और कई–एक को पूछने की इच्छा ही नहीं होती। अनेक लोग समझते हैं कि हमने

पुस्तकें पढ़ ली हैं, धर्म– अधर्म आदि सब ढ़ोंग है। हम इस ढ़ोंग में क्यो पड़ें? अधर्म आदि सब ढ़ोग है। हम इस ढ़ोग में क्यों पड़े? इस प्रकार विभिन्न विचारों से प्रेरित होकर लोग प्रश्न नहीं करते। कुछ शायद ऐसे भी होंगे जो सोचते होंगे कि कहीं प्रश्न पूछने से गुरुजी गुस्सा हो गये तो क्या होगा! कुछ लोग अभिमान से प्रश्न नहीं पूछते और कुछ अज्ञान से। मगर वास्तव में देखा जाय तो यह सब कल्पनाएं मानसिक दुर्बलता का परिणाम हैं। प्रश्न करने में, लाभ के सिवा हानि कुछ भी नहीं है। अगर कोई अपने संचित ज्ञान के खजाने को लुटाना चाहता है तो लूटने में तुम्हारी हानि क्या है? तुम्हें अनायास ही जो निधि प्राप्त हो सकती है, उसके लिए भी तुम नाना प्रकार के संकल्प–विकल्प करते हो! यह तुम्हारे लिए दुर्भाग्य की बात नहीं तो क्या है? हां, प्रश्न करो, मगर उसमें उद्धतता नहीं, नम्रता हो, जिगिसा नहीं जिज्ञाषा हो।

इस प्रकार अनेक गुणों से विभूषित आर्य रोह अनगार ऐसे स्थान पर बैठे थे, जो भगवान् से बहुत दूर नहीं था।

गुरु की दृष्टि में रहना कच्छपी भक्ति है। कहा जाता है कि कछुआ अपने अंडों को दृष्टि से पालता है। इसी प्रकार भक्त या शिष्य भी भगवान् या गुरु से इतनी ही दूर बैठता है, जहां भगवान् या गुरु की नजर पड़ती हो। गुरु की अमृतमयी दृष्टि से ही शिष्य को आनन्द रहता है। व्यवहार में कहा जाता है कि अमुक व्यक्ति पर मेरी नजर है! दृष्टि में रहने से भी बड़े–बड़े अनर्थ टल जाते हैं।

रोह अनगार भगवान् से अदूर और गोदुहासन से बैठे थे। उनके दोनों घुटने ऊपर सिर नीचे था। अर्थात वह ऐसे बैठे थे जैसे गौ दुहने के समय गुवाल बैठता है।

गोदुहासन से बैठे हुए अनगार रोह ध्यान के कोठे में तल्लीन हो रहे हैं और तत्त्व–विचार करके ज्ञान का अमृतपान कर रहे हैं।

रोह अनगार तप और संयम में विचरते थे। संयम, जीवन की दिव्य मात्रा है। जिस आत्मा को यह प्राप्त हो, उसका प्रभाव अपूर्व और अद्भुत हो जाता है। संयम, तप के बिना निभ नहीं सकता। संयम और तप आत्मा को मोक्ष पहुंचाने वाले रथ के दो पहिया हैं। अथवा यों कहिए कि यह दोनों धर्म–रथ के दो पहिया हैं।

रोह अनगार जब ध्यान के कोठे में तल्लीन होते हुए तप संयम में विचरते थे, उस समय दे जात संशय हुए। जात संशय आदि पदो की व्याख्या

प्रथम उद्देशक के प्रारंभ में की जा चुकी है। वही व्याख्या यहां भी समझ लेना चाहिए।

रोह अनगार के मन में यह प्रश्न उत्पन्न हुआ कि पहले लोक है या पहले अलोक है? अथवा इन दोनों में कौन पहले और कौन पीछे है? इस प्रकार का प्रश्न उत्पन्न होने पर रोह अपने स्थान से उठे और भगवान् महावीर के सन्निकट उपस्थित हुए। उन्होंने तीन बार भगवान् को प्रदक्षिणा की और नमस्कार किया।

वन्दना– नमस्कार करके रोह अनगार ने भगवान् से पूछा– भगवन्! मैंने आप से लोक और अलोक दो पदार्थ सुने हैं परंतु मैं यह जानना चाहता हूं कि पहले लोक है या अलोक? पहले लोक बना है या अलोक बना है?

जैसे 'आत्मा' शब्द असमस्त (समास–रहित) है और 'अनात्मा' शब्द उसके निषेध से बना है, इसी प्रकार 'लोक' भी असमस्त पद है और 'अलोक' उसके निषेध से बना है। समास वाले पद के वाच्य पदार्थ में संदेह भी हो सकता है, परन्तु असमस्त पद का वाच्य पदार्थ अवश्य होता है। उसमें संदेह के लिए अवकाश नहीं है, ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि समास–रहित कोई पद हो, मगर उसका अर्थ न हो।

अगर लोक और अलोक में से किसी भी एक को पहले बना हुआ माना जाय तो दोनों की आदि होगी। तो क्या यह दोनों सादि हैं? इन्हें किसी ने बनाया है।

रोह के प्रश्न के उत्तर में भगवान ने फर्माया– हे रोह! लोक और अलोक पहले भी हैं और पश्चात् भी हैं। इन दोनों में पहले–पीछे का क्रम नहीं है। जैसे गाय के दो सींगो में और मनुष्य के दो नेत्रों में पहले–पीछे का कोई क्रम नहीं है, उसी प्रकार लोक और अलोक में भी पूर्व– पश्चात् की कल्पना नहीं हो सकती। यह दोनों शाश्वत हैं। किसी प्रकार का क्रम संभव होता; मगर यह बने नहीं है। अतएव इनमें आनुवर्ती (क्रम) नहीं है। जैसे 'दाहिनी आंख' कहने पर बाई आंख भी अपने स्थान पर ही रहती है, मगर दो शब्दों का उच्चारण एक साथ नहीं हो सकता, इसलिये किसी एक को पहले और दूसरी को पश्चात कहते हैं, परन्तु आंखों में वस्तुतः आगे–पीछे का कोई भेद नहीं है। यही बात लोक और अलोक के विषय में भी समझनी चाहिये।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि रोह मुनि ने पहले लोक–अलोक के विषय में ही क्यों प्रश्न किया है? असल में क्षेत्र आधार है। आत्मा का संबंध क्षेत्र से है। कोई कहीं भी जाए, पहले यही पूछा जायेगा

कि– आप कहां रहते हैं? इसके पश्चात् अन्य बातें पूछी जाती हैं। तदनुसार रोह ने भी सर्वप्रथम लोक अलोक के विषय में प्रश्न किया है।

लोक और अलोक में यही अन्तर है कि लोक में पंचास्तिकाय है और अलोक में केवल आकाश ही है। लोक में जितनी भी वस्तुएं हैं, जीव और अजीव में सब का समावेश हो जाता है।

तत्पश्चात् आर्य रोह पूछते हैं–भगवन्! पहले जीव हैं या अजीव?

किसी–किसी का कथन है कि जीव, जड़ से उत्पन्न हुआ है। पंच भूतों के मेल से जीव उत्पन्न हो जाता है। लेकिन ऐसा मानने से जीव की आदि ठहरती है और यह भी मानना पड़ता है कि पहले जड़ और बाद में जीव बना है।

किसी का मन्तव्य यह है कि– ब्रह्म के अतिरिक्त दूसरी कोई भी सत्ता नहीं है। सारे जगत में एक ही वस्तु है– ब्रह्म, और कुछ भी नहीं है– 'एकं ब्रह्म द्वितीयों नास्ति।

इस प्रकार जीव और अजीव के विषय में नाना मतभेद होने के कारण रोह ने प्रश्न किया– भगवन्! इस विषय में आप क्या कहते हैं? रोह के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर दिया– हे रोह! ऐसा प्रश्न ही नहीं हो सकता, क्योंकि जीव और अजीव–दोनों ही शाश्वत भाव हैं। लोक अलोक के विषय में जो उत्तर दिया गया है, वही, उत्तर यहां समझ लेना चाहिये।

भगवान् कहते हैं– मैं अपने ज्ञान में प्रत्यक्ष देख रहा हूं, मगर तुम्हारी श्रद्धा भी उस तत्व को आंशिक रूप में ग्रहण कर सके, इस अभिप्राय से कुछ और समझाता हूं।

यह मान लिया जाय कि जड़ पहले और चेतन बाद में हुआ, तो चेतन आत्मा बनावटी और नाशवान् ठहरेगा। अगर कोई जीव को बनावटी और नाशवान् भी कहे तो यह कथन मिथ्या है जीव उत्पत्ति तर्क से संगत नहीं है। युक्ति इसे सिद्ध नहीं कर सकती है।

प्रत्येक प्राणी को 'अहं प्रत्ययं अर्थात् 'मैं' ऐसा ज्ञान होता है; यह बात स्वतः सिद्ध है। अब प्रश्न यह है कि 'मै' कहने वाला और 'मैं' को जानने वाला कौन है? लोक में यह भी कहा जाता है– 'मेरा शरीर।' अर्थात् मैं शरीर नहीं मेरा शरीर।' अर्थात् मै शरीर नहीं मेरा शरीर। यहां शरीर को अपना कहने वाला कौन है? क्या यह भी संभव है कि शरीर तो हो मगर शरीर को अपना बतलाने वाला कोई न हो? 'मेरा शरीर' यह कथन शरीर और शरीरी को अलग–अलग बतला रहा है। जैसे 'मेरा घर' इस कथन से घर अलग और

घर वाला अलग, मालूम होता है, इसी प्रकार 'मेरा शरीर' इस कथन से भी तो शरीर और शरीर का मालिक अलग–अलग ही प्रतीत होता है। इस प्रत्यक्ष प्रमाण को न मानना और तर्क का असत्य सहारा लेना कहां तक ठीक हो सकता है?

अगर यह कहा जाय कि चैतन्य में अनन्त शक्ति है, इसलिए उसे ब्रह्म मानकर, ब्रह्म से जड़ की उत्पत्ति मान ली जाय तो क्या हानि है? इसका उत्तर यह है कि अगर यह मान लिया जाय कि पहले जीव था और फिर उससे जड़ बना तो इसका मतलब यह हुआ कि जीव ही जड़ हो गया। मिट्टी से घड़ा बनता है, इसका अर्थ यह है कि मिट्टी ही घड़ा रूप हो जाती है। इसी प्रकार ब्रह्म से अगर जड़–जगत् की उत्पत्ति मानी जाय तो ब्रह्म ही जड़ हो गया, ऐसा मानना पड़ेगा।

अगर ब्रह्म को ही जड़ मान लिया जाय और सारे संसार की रचना उसी से मानी जाय तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि चिदानन्द अपने स्वरूप में था, तब उसे जड़ रूप बनने का क्या हेतु हुआ? ब्रह्म सच्चिदानन्द रूप में मौजूद था, उसे सृष्टि रूप में उत्पन्न होने की क्या आवश्यकता पड़ी? इस के अतिरिक्त, सृष्टि को बना कर फिर उसे ब्रह्मरूप में ले जाने की क्या आवश्यकता है? ईश्वरीय माया ने इस सृष्टि की रचना की है, तो जब ईश्वर अपनी माया का उपसंहार करेगा, तभी सृष्टि ब्रह्म में जा सकेगी। तभी वह या उसका कोई भी अंश कैसे ब्रह्मस्वरूप हो सकता है।

लोग कहते हैं, परमात्मा की इच्छा हुई कि चलो संसार बनाएं, सो उसने संसार बना डाला। लेकिन वीतराग को भी कभी इच्छा हो सकती है? जो निरंजन, कहलाता है, उसे भी इच्छा हो और वह भी विचित्र–विचित्र प्रकार की हो, यह कैसे संभव है? कोई संत–महात्मा भी नहीं चाहते कि जगत् का कोई भी जीव दुखी हो, तो फिर सैकड़ों दुखों से परिपूर्ण सृष्टि ईश्वर कैसे रचेगा?

कई वेदान्ती भी ईश्वर में इच्छा स्वीकार नहीं करते। स्वामी रामतीर्थ ने अपने एक व्याख्यान में कहा है कि– कल्पना कीजिए, एक बादशाह ने अपने पांच नौकरों को भिन्न–भिन्न काम बतलाया। नौकरों ने बादशाह के आदेशानुसार काम कर दिया। जब वे काम करके बादशाह के पास आये, तब बादशाह को क्या करना चाहिये? क्या बादशाह एक को कार गार और दूसरे को पुरस्कार दे? क्या वह एक को सत्कार और दूसरे का तिरस्कार करे? अगर बादशाह ऐसा करता है तो कौन निष्पक्ष विचारक यह नहीं कहेगा कि

बादशाह अन्यायी है? पहले तो आज्ञा देकर काम करवाता है, फिर उसके लिए दंड देता है! अगर बादशाह ने उन्हें स्वेच्छानुसार काम करने के लिए रक्खा होता और उन्हें काम करने की स्वतन्त्रता दी होती, और तब उनके कामों की जांच करके निग्रह–अनुग्रह किया होता, तब तो पांच काम करने वालों में से किसी को दंड और किसी को पुरस्कार देना उचित भी कहा जा सकता था। किन्तु स्वयं काम करवा कर किसी को दंड और किसी को पुरस्कार देना किस प्रकार न्याय संगत हो सकता है? इसी प्रकार जीव अगर स्वेच्छापूर्वक काम करने वाला होता, तब तो अपने–अपने काम के अनुसार भिन्न–भिन्न फल भोगना उचित कहलाता परन्तु लोग तो यह कहते हैं कि ईश्वर की इच्छा और आज्ञा के बिना एक पता नहीं हिल सकता! अगर ऐसा है और सभी जीव जो कुछ भी करते हैं, वह ईश्वर की ही प्रेरणा से करते हैं, और फल देने वाला भी ईश्वर ही है, तो फिर ईश्वर को उसी की प्रेरणा से किये हुए काम का क्या फल देना चाहिए। यदि सब को समान फल मिलता तो कदाचित यह जाना जाता कि जीव जो कुछ करता है, वह सब एक ईश्वर की आज्ञा और इच्छा के अनुसार ही करता है। लेकिन फल में बहुत विचित्रता देखी जाती है, अतएव यह कैसे माना जा सकता है?

व्याकरण में कर्त्ता को स्वतन्त्र माना गया है। पाणिनि कहते हैं– 'स्वतन्त्रः कर्त्ता।' कारक का विचार करने में मुख्यतया कर्त्ता, कर्म और क्रिया का विचार होता है। व्याकरण में कहा गया है कि कर्त्ता वह है जो स्वतन्त्र होकर क्रिया करने वाला हो– स्वेच्छा से क्रिया करे। अगर जीव से ईश्वर ही क्रिया करवाता है तो जीव कर्त्ता कैसे ठहर सकता है? क्योंकि वह तो ईश्वराधीन है। ऐसी हालत में क्रिया का दंड या पुरस्कार जीव को क्यों मिलना चाहिए?

अब आप यह कह सकते हैं कि जब कोई भी वस्तु कर्त्ता के बिना नहीं होती, तो फिर संसार का भी कोई न कोई कर्त्ता अवश्य होना चाहिए। क्या जैन शास्त्र का यह मंतव्य है कि चीज बिना बनाये भी बन सकती है? इसका उत्तर यह है कि जैन कर्त्ता मानता है और आत्मा को स्वतंत्र कर्त्ता मानता है। लिखे हुए अक्षर देखकर आप सोचेंगे, यह अक्षर किसी ने लिखे हैं। मगर किसने लिखे हैं, इस प्रश्न का उत्तर है– आत्मा ने लिखे हैं, कोई यह सकता है कि कलम से लिखे गये हैं। लेकिन प्रश्न लिखने वाले का है। कलम स्वयं नहीं लिख सकती। और दूसरी बात यह भी है कि कलम को बनाने वाला कौन है? कलम आखिर आत्मा ने ही तो बनाई है! अब बरु के

कमलों का चलन नहीं रहा, होल्डरों का चलन हो गया है। होल्डर कारीगर ने बनाया है, मगर उसका लोहा किसने बनाया है? एक कहता है—लोहा ईश्वर ने बनाया, मगर वास्तव में लोहा बनाने वाला भी आत्मा है। लोहा खदान में था। खदान में पृथ्वीकाय के जीव थे! उन्होंने लोहा बनाया और वह लोहा कारीगर के हाथ में गया। इस प्रकार लोहा भी आत्मा ने ही बनाया है।

जैन धर्म पृथ्वी में भी आत्मा मानता है। पृथ्वी स्वयं आत्मा नहीं है, किन्तु पृथ्वी रूप शरीर धारण करने वाला जीव—आत्मा है। वह आत्मा स्वतंत्र रूप से पुद्‌गलों को अपने में खींचता है। जैसे आत्मा ही दूध पीता है और आत्मा ही उसे खल—भाग एवं रस भाग आदि में परिणत करता है, फिर भी कई लोग यह काम भी ईश्वर का बतलाते हैं, इसी प्रकार लोहा भी आत्मा ने बनाया है, किन्तु लोग उसे ईश्वर का बनाया हुआ मानते हैं। ईश्वर के ऊपर किसी प्रकार की जवाबदारी डालना, अपनी जवाबदारी से छूटने का प्रयत्न करना है। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि ईश्वर पर एक बात का आरोप करने से अनेक आरोप करने पड़ेंगे।

कई लोगों का ऐसा कथन है कि जीव कर्म करने में तो स्वतंत्र है, मगर फल ईश्वर देता है। यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर एक आदमी ने चोरी की या दुराचार किया तो उस ने यह नया कर्म किया है या पुराने कर्म का फल भोगा है? अगर यह माना जाय कि नया कर्म किया है तो जिसका धन या शील गया, उसके लिए तो प्राचीन कर्म का फल—भोग ही हुआ? अगर ऐसा न माना जाय तो प्राचीन कर्म का फल ही नहीं होगा। अगर यह कहा जाय कि चोरी या व्यभिचार करने का कार्य ईश्वर ने प्राचीन कर्म के फल का भोग कराने के लिए करवाया है, तो इसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर ने चोरी या व्यभिचार का कार्य करवाया है। गीता में कहा है—

न कर्तृत्वं न कर्माणि, न लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं, स्वभावस्तु प्रवर्त्तते।।

वास्तव में ईश्वर कर्त्ता नहीं है और न कर्म का फल देने वाला है। यह सब वस्तु—स्वभाव से होता है।

इस प्रकार न जड़ से चेतन की और न चेतन से जड़ की उत्पत्ति होती है। इसी कारण रोह अनगार ने भगवान् से प्रश्न किया— हे प्रभो! आपके ज्ञान में क्या प्रतिभासित हो रहा है?

इस विषय का विस्तृत विवेचन न्यायग्रन्थों में किया गया है। शास्त्रकार उसका मूल तत्त्व ही प्रकट करते हैं।

रोह के प्रश्न का भगवान् ने उत्तर फर्माया–हे रोह! यह नहीं कहा जा सकता कि जीव से अजीव की या अजीव से जीव की उत्पत्ति हुई है। यह दोनों ही पदार्थ अनादि हैं।

वैज्ञानिक कहते हैं–हमारी दृष्टि अपूर्व है, इसी कारण हम किसी वस्तु का नाश होना कहते हैं, परन्तु वास्तविक रूप से देखा जाये तो कोई भी वस्तु नष्ट नहीं होती। केवल उसकी अवस्थाएं पलटती हैं। जली हुई मोमबत्ती के विषय में यह समझा जाता है कि वह नष्ट हो गई, परन्तु मोमबत्ती, वस्तुतः नष्ट नहीं होती, सिर्फ उस की शक्ल बदलती है। उसका संग्रह बिखर जाता है। सुना जाता है कि वैज्ञानिकों ने ऐसे आकर्षक यंत्र बनाये हैं, जिन्हें जलती हुई मोमबत्ती के इधर–उधर रख देने से, जली हुई मोमबत्ती के परमाणु उन यंत्रों में खिंच कर आ जाते हैं, और अगर उन्हें फिर मिल दिया जाय तो जैसी की तैसी मोमबत्ती तैयार हो जाती है।

जल के विषय में भी यही बात है। साधारणतया यह समझा जाता है कि जमीन पर गिरा हुआ जल सूख कर नष्ट हो जाता है, परन्तु विज्ञानवेत्ता कहते हैं कि वह नष्ट नहीं हुआ है, किन्तु दो प्रकार की वायु थी, जो बिखर गई है। आक्सीजन और हाईड्रोजन नामक दोनों हवाओं से जल बनता है और दोनों के बिखरने से जल नहीं रहता।

मेरी कारेली नामकी एक पाश्चात्य विदुषी ने लिखा था– जब एक रजकरण का भी नाश नहीं है, उसका भी सिर्फ रूपान्तर होता है, तो उस महाशक्ति का, जो संसार में गजब कर रही है, कैसे नाश हो सकता है? उसका नाश होने से तो गजब हो जायगा। रजकण और मोमबत्ती का भी नाश नहीं है, तो आत्मा कैसे नष्ट हो सकता है?

भगवान् कहते हैं–हे रोह! जड़ से चैतन्य बना हो या चैतन्य से जड़ बना हो, यह संभव नहीं है। जैसे आकाश के फूल नहीं होते, इसी प्रकार निराकार से साकार और साकार से निराकार की उत्पत्ति संभव नहीं है। जो लोग भूतों से चैतन्य की उत्पत्ति मानते हैं, उन्हें विचारना चाहिए कि किसी भी भूत में चैतन्य नहीं पाया जाता, तब उनसे चैतन्य कैसे उत्पन्न हो सकता है? अतएव जड़ और जीव–दोनों अनादि हैं, यही मानना युक्तिसंगत है।

अब आप कह सकते हैं कि आपने जीव और जड़ दोनों को अनादि बतलाया है, मगर वेदान्ता तो ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ की सत्ता ही स्वीकार नहीं करते। इस विषय में आप क्या कहते हैं? इस संबंध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि यदि पूरी तरह पता लगाया जाय तो ब्रह्म के अतिरिक्त

अन्य पदार्थों की सत्ता भी अवश्य प्रतीत होगी। इस संबंध में भी न्यायशास्त्र में विस्तृत विवेचना की गई है। विशेष जिज्ञासुओं को वहाँ देखना चाहिए।

गीता में अश्वत्थ वृक्ष का आकार वैसा ही बतलाया है, जैसा जैन शास्त्रों में लोक का आकार–पुरुषाकार–हैं। अश्वतथ वृक्ष का आकार देते हुए गीता में कहा है–

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य, शाखा
न रूपमस्येह

हे अर्जुन! यदि मुझ से संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष का रूप पूछो तो न इस वृक्ष की आदि है, न अन्त है अर्थात् वह अनादि है।

गीता भी संसार को अनादि कहती है और भगवती सूत्र भी अनादि कहता है, आधुनिक वैज्ञानिक भी यही कहते हैं। नास्तिक आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते, लेकिन कौन कह सकता है कि आगे चल कर आधुनिक विज्ञान ही आत्मा का अस्तित्व सावित नहीं करेगा? और आज भी आत्मा प्रमाणों से सिद्ध है।

भगवान् ने आजकल के विज्ञान से किसी बात को नहीं देखा था। उन्होंने अपने परिपूर्ण ज्ञान में देख कर ही जीव और अजीव को अनादि कहा है। यह भगवान् का बतलाया हुआ बीजमंत्र है।

अब रोह अनगार पूछते हैं–भगवान्! संसार और सिद्धि–यह दो पदार्थ हैं। इन दो से पहले कौन है? पहले सिद्धि है या संसार? अर्थात् सिद्धि में से संसार निकला या संसार में से सिद्धि निकली है?

यहां यदि कहा जाय कि संसार पहले है और संसार से निकल कर (जीव) सिद्ध होते हैं, तो इसका अर्थ यह हुआ कि संसार पहले है और सिद्धि पीछे है। अर्थात् संसार पहले हुआ है। गीता भी कहती है कि इस अश्वत्थ रूप संसार का छेदन करके जो निवृत्त हो जाते हैं, वे चिदानन्द रूप होकर सिद्धिक्षेत्र में आनन्द का उपभोग करते हैं। इस कथन से भी यही सिद्ध होता है कि सिद्ध संसार से निकल कर हुए हैं, और संसार पहले है, सिद्धि बाद में है। लेकिन भगवान् ने फर्माया कि सिद्धि और संसार दोनो ही शाश्वत हैं। जब से संसार है, तभी से सिद्धि है, और जब से सिद्धि है, तभी से संसार है। सिद्ध हुए हैं संसार से ही, लेकिन संसार की आदि हो तो सिद्धि की भी आदि हो।

आज का दिन दर्त्तमान कहलाता है, गया दिन भूतकाल कहलाता है और आगामी दिन भविष्य काल कहलाता है। यद्यपि गया दिन, आज

भूतकाल है, मगर वह वर्त्तमान में होकर ही गया है। जब प्रत्येक भूतकाल, एक दिन वर्त्तमान था, तो भूतकाल की आदि होनी चाहिए। अगर भूतकाल की आदि नहीं है तो क्या यह कहा जा सकता है कि भूतकाल कभी वर्त्तमान रूप में आया ही नहीं? वह वर्त्तमान हुए बिना ही सीधा भूतकाल हो गया? लेकिन यह सभी को मालूम है कि कल का दिन वर्त्तमान में था। इसी प्रकार वर्ष और सैकड़ों वर्ष वर्त्तमान में आकर के ही भूतकाल बने हैं। इसी प्रकार भविष्य काल में से निकल कर कुछ अंश वर्त्तमान होता जा रहा है और फिर वह वर्त्तमान, भूतकाल बनता जाता है, फिर भी भविष्य काल का कहीं अन्त नहीं है। वह ज्यों का त्यों अनन्त है। भविष्य की तरह भूतकाल भी अनन्त है। भूतकाल और भविष्यकाल—दोनों बराबर कहे गये हैं। जैसे हाथीदांत की बनी हुई बिना जोड़ की चूड़ी का मध्य, जहां उंगली रक्खो वहीं है। इसी प्रकार अगर वर्त्तमान को भूत में मिला लो तो भूतकाल और अगर उसे भविष्य में मिला लो तो भविष्यकाल भले ही बढ़ जाए, अन्यथा भूत और भविष्य दोनों बराबर हैं और दोनों ही अनन्त हैं। इसी प्रकार सिद्धि और संसार दोनों ही साथ हैं और दोनों ही अनादि हैं।

कई लोगों को यह आशंका है कि जब संसार से ही निकलकर जीव सिद्ध होते हैं तो कभी न कभी संसार खाली हो जायगा। इस भय के कारण लोगों ने यह मान्यता गढ़ ली है कि मुक्त जीव एक नियत अवधि तक ही मोक्ष में रहकर फिर संसार में लौट आता है। मगर यह कथन जैन शास्त्रों के अतिरिक्त गीता से भी बाधित है। गीता में कहा है:—

यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते, तद्धाम परमं मम।

अर्थात्—जहां जाकर फिर न लोटना पड़े, वही मेरा धाम—मोक्ष है।

संसार के खाली हो जाने की आशंका निर्मूल है। भविष्यकाल, प्रतिक्षण, वर्त्तमान होकर भूतकाल में मिलता जाता है और भूतकाल फिर कभी भविष्यकाल नहीं बनता, तो क्या यह भय होता है कि कभी भविष्यकाल का अन्त हो जायगा?

'नहीं!'

'क्यों?'

'इसलिए कि भविष्यकाल अनन्त है।'

इसी प्रकार संसार भी अनन्त है— संसारी प्राणी भी अनन्तानन्त हैं। रुपयों की थड़ी जमाते जाओ तो क्या कभी आकाश का अन्त आ जावेगा? रुपयों ने आकाश को घेरा अवश्य है, मगर आकाश अनन्त है, अतएव उसका

कभी अन्त नहीं आ सकता है। इसी प्रकार जीव संसार से ही मुक्त होते हैं, मगर अनन्त होने के कारण संसार कभी जीव–शून्य नहीं हो सकता।

यद्यपि रोह अनगार ने पहले भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक का प्रश्न किया है और बाद में सिद्धि तथा संसार का तथापि पहले सिद्धि और संसार संबंधी प्रश्नोत्तर का व्याख्यान किया गया है, जिससे भवसिद्धिक और अभवसिद्धिक का प्रश्नोत्तर सरलता से समझा जा सके।

रोह अनगार ने प्रश्न किया–भगवन्! पहले भवसिद्धिक हैं या अभवसिद्धिक हैं?

जिसमें जो कार्य करने की क्षमता है– योग्यता है, वह उस कार्य के लिए भव्य कहलाता है। उदाहरणार्थ कुंभार मिट्टी से घड़ा बनाता है, परन्तु जिस मिट्टी से घट बन सकता है वही मिट्टी घट के लिए भव्य है, और जिसमें घट बनने की शक्ति नहीं है, वह घट के लिए अभव्य है।

किस आदमी को अग्नि की आवश्यकता है। वह सोचता है– लकड़ी में अग्नि है। मगर कोई लकड़ी आग के लिए भव्य है, कोई अभव्य है। अर्थात् जिस लकड़ी के घिसने से आग उत्पन्न होती है, वह आग के लिए भव्य है, और जिसे घिसने पर भी आग नहीं उत्पन्न होती वह लकड़ी आग के लिए अभव्य है। अरणि की लकड़ी घिसने से अग्नि उत्पन्न होती है, वह अग्नि के लिहाज से भव्य है।

आम आदि की लकड़ी इस दृष्टि से अभव्य है।

मतलब यह है कि जिस वस्तु में जिस कार्य की सिद्धि की क्षमता है, वह उस कार्य के लिए भव्य है। अभव्य इससे विपरीत है।

यहां सिद्धि की दृष्टि से भव्य–अभव्य का विचार किया गया है।

मगर सिद्धि का अर्थ इस जगह अणिमा, महिमा, गरिमा, आदि आठ सिद्धियां नहीं समझना चाहिए, किन्तु समस्त परभावों से अतीत होकर, समस्त उपाधियों से रहित होकर तथा विगतदेह होकर आत्मा जो अवस्था प्राप्त करता है, वह अवस्थासिद्धि कहलाती है। जिस अवस्था में आत्मा को पुनः पुनः जन्म–मरण करना पड़ता है, उसे असिद्धि 'संसार' कहते हैं।

रोह ने भगवान् से सिद्धि और असिद्धि के संबंध में प्रश्न किया– इन दोनों में से पहले कौन है और पीछे कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं– यहां पहले पीछे का क्रम नहीं है, दोनों साथ हैं, दोनों शाश्वत हैं। जैसे शरीर में मस्तक और पैर में से कोई पहले–पीछे नहीं साथ ही बने हैं, उसी प्रकार सिद्धि और सिर पर है और संसार नीचे है। इसलिए शरीर में जैसे

पांव और सिर साथ बने हैं, इन दोनों में पहले–पीछे का भेद नहीं है, इसी प्रकार शाश्वत सिद्धि और असिद्धि में भी पहले–पीछे का भेद नहीं है, जैसे सिद्धि–असिद्धि में क्रम नहीं है, उसी प्रकार सिद्धि के योग्य भव्य और सिद्धि के अयोग्य अभव्यों में भी क्रम नहीं है। इनमें भी कोई आगे–पीछे नहीं है।

अब रोह अनगार प्रश्न करते हैं–भगवन्! पहले सिद्धि है या असिद्धि है?

साधारण विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि सिद्ध भगवान् संसार से मुक्त होकर ही सिद्धि लाभ करते हैं, अतः पहले असिद्ध और फिर सिद्ध होने चाहिए; परन्तु वास्तविक बात यह नहीं है। समूहतः सिद्ध और असिद्ध दोनों ही अनादि हैं। जैसे यद्यपि भविष्यकाल, वर्त्तमान होकर ही भूतकाल होता है, इसलिए पहले वर्त्तमान काल और पीछे भूतकाल होना चाहिए, मगर ऐसा नहीं है। तीनों ही काल प्रवाहत अनादि और अनन्त हैं। वेदान्त ने भी, जहां वह निष्पक्ष हुए हैं, संसार को अनादि माना है। गीता संसार रूपी अश्वत्थ वृक्ष को अनादि कहती है।

लोक–अलोक, जीव–अजीव, सिद्धि–असिद्धि, आदि आदि का हाल बाल जीवों को प्रत्यक्ष से नहीं दिखाई देता, इसलिए रोह अनगार अब एक ऐसा प्रश्न करते हैं, जो सर्वसाधारण के लिए भी प्रत्यक्ष है और जिसके उदाहरण से उपर्युक्त विषय भी समझे जा सकते हैं। रोह पूछते हैं भगवन्! पहले मुर्गी है और फिर अण्डा है या पहले अण्डा और मुर्गी है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् फर्माते हैं– हे रोह! बोलते समय तो कोई भी क्रम बनाया जा सकता है, मगर वस्तु में क्रम नहीं है। अगर पहले अंडा माना जाय और फिर मुर्गी मानी जाय तो मैं पूछता हूं– मुर्गी कहां से आई?

रोह–भगवन्! मुर्गी, अण्डे से आई है।

भगवान्–हे रोह! अण्डा कहां से आया?

रोह–भगवन्! अण्डा मुर्गी से आया है।

भगवान्– तो रोह! मुर्गी और अण्डे में आगे या पीछे किसे कहा जाय? वस्तुतः न कोई पहले है, न पीछे है। दोनों में आगे–पीछे का क्रम नहीं है। दोनों प्रवाह से अनादि हैं।

शास्त्रकार कहते हैं कि मुर्गी और अण्डे के उदाहरण से शेष लोक–अलोक आदि का अनादि भाव समझा जा सकता है। यों काल की अपेक्षा देखा जाय तो मुर्गी, अण्डा नहीं है और अण्डा, मुर्गी नहीं है। मगर

वस्तुतः मुर्गी ही अण्डा है और अंडा ही मुर्गी है। इसी प्रकार प्रायः अन्य विषयों में भी यथायोग्य घटा लेना चाहिए।

अब रोह अनगार सारे लोक का हिसाब भगवान् से पूछते हैं। वे एक को प्रमाण मानकर, दूसरे को प्रमेय बनाते हैं। रोह पूछते हैं—भगवन्! पहले लोक का अन्त (किनारा) है, या अलोक का अन्त? इसके उत्तर में भगवान् ने कहा—हे रोह! इन दोनों में किसी प्रकार का क्रम नहीं है। क्रम तब होता, जब दो में से एक पहले बना होता और दूसरा पीछे बना होता। यह दोनों ही शाश्वत हैं, अतएव इनमें क्रम नहीं है।

लोक के सात अवकाशान्तर माने गये हैं। अतएव रोह पूछते हैं—भगवन्! पहले लोकान्त है या पहले सातवां अवकाशान्तर है?

यह लोक और अवकाशान्तर का प्रश्न है। इसी प्रकार सात धनवात, सात धनोदधि और सात पृथ्वी संबंधी प्रश्न हैं। इन सब में सम्पूर्ण संसार का समावेश हो जाता है।

भगवान् उत्तर देते हैं—हे रोह! इनमें आगे पीछे का कोई क्रम नहीं है। यह सब शाश्वत भाव हैं।

इसी प्रकार सातों अवकाशान्तर, सातों तनुवात, सातों घनवात, सातों घनोदधि, सातों पृथ्वी, द्वीप, सागर, वर्षक्षेत्र, नारकी आदि जीव, अस्तिकाय, समय, कर्म, लेश्या, दृष्टि, दर्शन, ज्ञान, संज्ञा, शरीर, योग, उपयोग, द्रव्यप्रदेश, पर्याय तथा काल के प्रश्नोत्तर समझ लेने चाहिए। अर्थात् इन सब को लोकान्त के साथ जोड़—जोड़कर प्रश्न करना चाहिए कि पहले लोकान्त है या तनुवात है? इत्यादि। इन सबके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—यह सब शाश्वत भाव हैं। इनमें आगे—पीछे का क्रम नहीं है। ये प्रश्न इस प्रकार भी किये जा सकते हैं—

रोह ने पूछा—भगवन्! पहले द्वीप है या पहले सागर है? इसके उत्तर में भी भगवान् ने फरमाया—हे रोह! यह दोनों अनादि हैं।

रोह आगे पूछते हैं—नरक के भीतर नरकावास है, सो पहले नरक हैं या नरकावास हैं? इसका उत्तर भगवान् ने दिया—ये दोनों शाश्वत हैं।

अगर कोई यह पूछे कि पहले नगर बना या नगर के गृह बने ? तो किसे पहले और किसे पीछे बतलाया जा सकता है? इसी सूत्र में से एक प्रश्न किया गया है कि राजगृह नगर किसे कहा जाय? इसका उत्तर भगवान् ने यह दिया है कि—जीव, अजीव, पृथ्वी, पानी आदि सब मिलकर राजगृह नगर कहलाते हैं।

अब रोह पूछते हैं–भगवन्! पहले नरक के जीव हैं, या मनुष्य जीव हैं; या तिर्यच हैं अथवा देव हैं?

इस विषय में विभिन्न दर्शनकार अनेक कल्पनाएं करते हैं, मगर अंत में सभी को अनादि पर ही आना पड़ता है। कई कहते हैं– अंडे का एक भाग ऊपर गया तो ऊंचा लोक हो गया और एक भाग नीचे गया तो उससे नीचा लोक हो गया। लेकिन उनसे जब यह पूछा जाता है कि अंडा कहां से आया? तब वे गड़बड़ में पड़ जाते हैं। अतएव किसी भी गति के जीवों को पहले या पीछे नहीं कह सकते। सभी जीव अनादि हैं। अगर नरक की आदि खोजने चलेंगे तो समय की भी आदि खोजनी पड़ेगीं, फिर कर्म की भी आदि ढूंढनी होगी कि पहले देव के कर्म हैं, मनुष्य के कर्म हैं, या नारकी आदि के कर्म हैं? लेकिन कर्म–सामान्य अनादि हैं, इसी प्रकार यह कर्म विशेष भी अनादि है।

कर्म बिना लेश्या के नहीं होते। योग और कषाय का एकीभाव लेश्या कहलाता है। कषाय के साथ जब तक मन, वचन और काय के योग नहीं मिलते, तब तक वह कषाय है, जब योग और कषाय मिल जाते हैं, तब कषाय ही लेश्या का रूप धारण कर लेता है। जैसे–जैसे लेश्या की शुद्धि होती जाती है, कर्म की भी न्यूनता होती जाती है।

रोह अनगार फिर पूछते हैं–भगवन्! पहले दृष्टि है या पहले लेश्या है? भगवान् ने फरमाया–हे रोह! यह दोनों भी अनादि हैं, अतएव इनमें पहले–पीछे का क्रम नहीं है।

इससे आगे दर्शन और ज्ञान संबंधी प्रश्न है। वस्तु के सामान्य धर्म को जानना दर्शन है और विशेष धर्मो का बोध होना ज्ञान कहलाता है। रोह ने पूछा– भगवन्! पहले दर्शन है या ज्ञान है? भगवान् ने उत्तर दिया–रोह! दोनों भाव अनादि हैं। इसी प्रकार लोकान्त के साथ भी इनके प्रश्नोत्तर समझने चाहिएं।

तदनन्तर संज्ञा का प्रश्न है। संज्ञा, ज्ञान को भी कहते हैं, मगर यहां मोहजन्य तृष्णा का अर्थ अपेक्षित है। जैसे–धन चाहना धनसंज्ञा है, स्त्री की चाह होना स्त्रीसंज्ञा है, आहार की तृष्णा होना आहारसंज्ञा है।

रोह पूछते हैं–भगवन्! पहले शरीर है या संज्ञा है? भगवान् फरमाते हैं–दोनों ही अनादि हैं।

इसी प्रकार योग और उपयोग का प्रश्न है। योग पहले है या उपयोग पहले है, इस प्रश्न के उत्तर में भगवान ने दोनों को अनादि बतलाया है और क्रम का निषेध किया है।

आत्मा का उपयोग मन, वचन और काय के सहारे होता है। अतएव मन आदि योग कहलाते हैं और आत्मा का मूल स्वभाव उपयोग कहलाता है।

रोह प्रश्न करते हैं–भगवन! अभिमान पहले है या योग पहले है ? भगवान उत्तर देते हैं–दोनों ही अनादि हैं।

इन सबको लोकान्त के साथ मिलाकर तथा अलोकान्त के साथ मिलाकर प्रश्न करना। यहां पिछला–पिछला छोड़ते जाना और आगे–आगे का बोलते जाना चाहिए।

भगवान् से अपने प्रश्नों का उत्तर सुनकर रोह अनगार ने 'सेवं भंते!' कहा और तप–संयम में विचरने लगे।

कांच में कोई पदार्थ पूर्णरूपेण नजर नहीं आता। केवल पदार्थ की परछाई भर दिखाई देती है। फिर भी फोटो खींचने का प्रयत्न क्यों किया जाता है? फोटो में स्थूल प्रतिबिम्ब ही आता है, पदार्थ के गुण–दोष नहीं उतरते। फिर भी फोटो उतारने का प्रयास करने का प्रयोजन यह है कि, इससे प्रथम तो कैमरे की शक्ति का विकास होता है, दूसरे ज्ञानियों के लिये छोटी वस्तु भी बड़ा काम देती है। ज्ञानी अपूर्ण अंश को देखकर भी पूर्ण का पता लगा लेते हैं। रोह ने स्वयं कैमरा बनकर भगवान महावीर के अनन्त ज्ञान का फोटो उतारने का प्रयास किया है। कैमरे का जितना परिमाण होता है, उसी परिमाण में फोटो भी बड़ा या छोटा उतरता है। लेकिन फोटो भले ही छोटा हो, उसमें पदार्थ की आकृति आ जाती है और उस फोटो से पूर्ण मूल पदार्थ का पता लगाया जा सकता है। इसी प्रकार रोह के प्रश्नों के दिये हुए उत्तरों से विदित हो जाता है कि भगवान अनन्त ज्ञानी हैं। रोह समझते हैं कि भगवान का अनन्त ज्ञान मुझमें नहीं आ सकता, परन्तु उस ज्ञान का छोटा सा फोटो भी अगर मन में रहा तो अनन्त ज्ञान आप ही प्रकट हो जाएगा।

अब संक्षेप में यह भी देख लेना चाहिए कि इतने विस्तार के साथ यह प्रश्नोत्तर क्यों किये गये हैं? इस संबंध में टीकाकार कहते हैं–शून्यवादी लोगों का कथन है कि हमें संसार में जो कुछ भी दिखलाई पड़ता है, वह सब भ्रान्ति है। वास्तव में वह कुछ भी नहीं है। न कोई दिखाई देने वाला है, न देखने वाला है, न देखता है। कहीं कुछ भी नहीं है। जैसे स्वप्न में जो सृष्टि दिखाई देती है, यह भ्रममात्र है, उसी प्रकार जागृत अवस्था की सृष्टि भी भ्रममात्र है। शून्यवादी इस प्रकार संसार को शून्यरूप बतलाते हैं, मगर रोह और भगवान् के प्रश्नोत्तरों से यह सिद्ध हो जाता है कि जगत् को एकान्ततः शून्यरूप मानना मिथ्या है। स्वप्न में भी वही वस्तु दिखाई देती है जो वास्तव

में होती है। चाहे वह किसी भी काल में, किसी भी देश में देखी या सुनी हो, मगर उसके हुए बिना उसका स्वप्न नहीं दिखता। ऐसी अवस्था में शून्यवाद सिद्ध नहीं होता।

कई लोग लोक को बनावटी मानते हैं। उनके कथनानुसार ईश्वर ने लोक का निर्माण किया है। परन्तु विचार करने से इस कथन की निस्सारता प्रतीत हो जाती है। अपनी नम्रता और ईश्वर की महत्ता प्रदर्शित करने के लिये ऐसा कहना दूसरी बात है। जैसे कोई विनीत पुत्र आप धन कमाता है, मगर उसे माता–पिता का ही प्रताप कहता है। जैसे–यह आपकी ही कमाई है। आपके ही प्रताप से इसकी प्राप्ति हुई है। इसी प्रकार ईश्वर की महत्ता प्रदर्शित करने के लिए ही अगर उसे कर्त्ता कहा जाय तो बात दूसरी है, लेकिन जैसे कुंभार घड़ा बनाता है, उसी प्रकार ईश्वर को जगत् का कर्त्ता मानना उपहास्यास्पद है। ऐसा मानने से ईश्वर में अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि पहले ईश्वर है, फिर संसार है।

होशियार कुंभार वही माना जाता है, जिसके बनाये हुए सभी बर्तन सुन्दर और सुडौल हों, मगर ईश्वर की रचना ऐसी नहीं है। कोई मनुष्य बदसूरत है, कोई लूला है, कोई लंगड़ा है, कोई बहिरा है, कोई अंधा है, कोई दरिद्र है, कोई अल्पायुष्क है। अगर यह कहा जाय कि जैसा जिसका कर्म था, वैसा उसे फल मिल गया तो ठीक नहीं, क्योंकि पहले अकेला ईश्वर ही था, कर्म नहीं थे। जब जीवों के कर्म नहीं थे, तो किसका फल उन्हें मिला ? अतएव या तो ईश्वर को अकुशल मानना पड़ेगा या संसार को अनादि मानना पड़ेगा।

सारांश यह है कि शून्यवाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद आदि का निराकरण करने के लिए रोह ने भगवान् से विस्तार के साथ प्रश्न पूछे हैं कि इन प्रश्नोत्तरों के द्वारा यह प्रमाणित किया गया है कि भौतिक एवं आध्यात्मिक तत्त्वों का संयोग अनादिकालीन है।

संसार के लोग कहते हैं–'आपस में लड़ाई, झगड़ा मत करो।' यह 'आपस' क्या है? यह पूछा जाय तो उत्तर मिलेगा–जिनके साथ विवाह आदि कोई संबंध हुआ है, वह 'आपस' के कहलाते हैं। मगर ज्ञानी बतलाते हैं कि–हे जीव! थोड़ी देर के लिए ही तू अपनी क्षुद्र बुद्धि को त्यागकर विचारकर। तूं अनादिकाल से संसार में है। सब जीवों के साथ तेरा किसी न किसी प्रकार का संबंध हो चुका है। फिर उन्हें क्यों अपना संबंधी नहीं समझता। काल का व्यवधान पड़ने से ही क्या संबंध छोड़ बैठेगा?

बड़े परिवार वाला कहता है—अगर मुझसे संबंध रखना हो तो सभी परिवारवालों से संबंध रखना पड़ेगा। इसी प्रकार ईश्वर कहता है—अगर मुझसे संबंध रखना है तो संसार के सभी जीवों से सम्बन्ध रक्खो। अगर सबके साथ संबंध नहीं रख सकते तो फिर मुझसे भी नाता तोड़ना पड़ेगा।

इस प्रकार आर्य रोह और भगवान् के प्रश्नोत्तरों में अनेक रहस्य छिपे हुए हैं। उन्होंने लोकान्त के साथ ज्ञान आदि का प्रश्न करके आत्मा का सब पदार्थों के साथ संबध प्रकट किया है।

रोह अनगार के प्रश्नों के पश्चात् गौतम स्वामी प्रश्न पूछते हैं।

भगवती सूत्र व्याख्या
भाग–6

लोक–स्थिति

प्रश्न–भंते! त्ति भगवं! गोयमे समणं जाव–एवं वयासी कइ विहाणं भंते! लोयट्ठिती पन्नत्ता?

उत्तर–गोयमा! अट्ठविहा लोयट्ठितो पन्नता तंजहा–आगास पइट्ठिए वाए, वाय पइट्ठिए उदही, उदहि पइट्ठिया पुढ़वीत्र् पुढ़वि पइट्ठिया तसा, थावरा पाणा। अजीवा, जीव पइट्ठिया, जीवा कम्म पइट्ठिया, अजीवा जीव संगहिया। जीवा कम्म संगहिया।

प्रश्न–से केणट्ठेण भंते! एवं वुच्चइ अट्ठ विहा जाव–जीवा कम्म संगहिया?

उत्तर–गोयमा! से जहा णामए केइ पुरिसे बत्थि माडोवेइ, उप्पिं सितं बंधइ; बंधइता मज्झेणं गंठिं बंधइ, बंधइत्ता उवरिल्लं गंठिं मुयइ, मुइत्ता, उवरिल्लं देसं वामेइ, उवरिल्लं देसं वामेत्ता, उवरिल्लं देसं आउयायस्स पूरेइ, पूरित्ता, उप्पिं–सितं बंधइ, बंधित्ता मज्झिल्लं गंठिं मुयइ, मुइत्ता, से णूणं गोयमा! से आउयाए तस्स वाउयायस्स उप्पिं उवरिमतले चिट्ठइ?

'हंता, चिट्ठइ।'

से तेणट्ठेणं जाव–जीवा कम्म संगहिया।

से जहा वा केइ पुरिसे बत्थि माडोवेइ, माडोवेत्ता कडीए बंधइ, बंधित्ता, अत्थाह–मतार मपोरसियंसि, उदगंसि ओगाहेज्जा। से णूणं गोयमा! से पुरिसे तस्स आउयायस्स उवरिमतले चिट्ठइ?

हंता, चिट्ठइ।

एवं वा अट्ठ विहा लोयट्ठिई पण्णत्ता, जाव जीवा कम्म संगहिया।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–'भगवन्!' इति भगवान् गौतमः! श्रमणं यावत्–एवम् वादीत कतिविधा भगवन्! लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता?'

उत्तर—गौतम! अष्टविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता। तद्यथा—आकाश प्रतिष्ठितो वातः, वातप्रतिष्ठितः उदधिः, उदधि प्रतिष्ठिता पृथिवी, पृथिवी प्रतिष्ठितास्त्रसाः स्थावराः प्राणाः। अजीवा जीव प्रतिष्ठिताः। जीवाः कर्म प्रतिष्ठिताः। अजीवा जीव संगृहीताः जीवाःकर्म संगृहीताः।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते—अष्टविधा यावत् जीवाः कर्मसंगृहीताः?

उत्तर—गौतम! तद्यथा नामकः कश्चित्पुरुषो बस्तिमाटोपयति बस्तिमाटोप्य उपरि तद् बध्नति, बद्धा मध्ये ग्रन्थि बध्नाति, बद्धा उपरितनां ग्रन्थिं मुञ्चति, मुक्त्वा उपरितनं देशं वमयति, उपरितनं देशं वमयित्वा उपरितनं देशं अप्कायेन पूरयति, पूरयित्वा, उपरि तद् बध्नाति, बद्धा मध्यमग्रन्थिं, मु०चति, मुक्तवा तद् नूनं गौतम! स अप्कायः वायुकायस्य उपरि उपरिमतले तिष्ठत? 'हन्त, तिष्ठति।

तत् तेनार्थेन यावत् जीवा कर्म संगृहीताः।

तद् यथा वा कश्चित् पुरुषो बस्तिमाटोपयति, आटोप्य कय्यां बध्नाति बद्धा अस्त धाऽतारा ऽपौरुषेये, उदके अनगाहयेत्, तद् नूनं गौतम स पुरुषः तस्य अप्कायस्य उपरिमतले तिष्ठति? 'हन्त तिष्ठति,'

एवं वा अष्टविधा लोकस्थितिः प्रज्ञप्ता, यावत्—जीवाः कर्मसंगृहीताः

शब्दार्थ

प्रश्न—हे भगवन्! ऐसा कहकर, भगवान् गौतम ने श्रमण भगवान महावीर से यावत्—इस प्रकार कहा—हे भगवन्! लोक की स्थिति कितने प्रकार की कही है?

उत्तर— हे गौतम! लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही है। वह इस प्रकार—वायु आकाश के आधार पर टिका है। उदधि वायु के आधार पर हैं। पृथ्वी उदधि के आधार पर है। त्रस और स्थावर जीव पृथ्वी के सहारे हैं। अजीव जीव के आधार पर टिके हैं। जीव कर्म के सहारे हैं। अजीवों को जीवों ने संग्रह कर रक्खा है और जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रखा है।

प्रश्न—हे भगवन्! इस प्रकार कहने का क्या हेतु है कि लोक की स्थिति आठ प्रकार की है? और यावत्—जीवों को कर्मों ने संग्रह कर रक्खा है।?

उस मसक के ऊपर के (खाली) भाग में पानी भरे। फिर मसक का मुंह बंद कर दे। फिर उस मसक की बीच की गांठ खोल दे। तो हे गौतम! वह भरा हुआ पानी उस हवा के ऊपर ही ऊपर के भाग में रहेगा?

'हां, रहेगा।'

इसलिए मैं कहता हूं कि यावत् 'कर्मो ने जीवों का संग्रह कर रक्खा है।

अथवा हे गौतम! कोई पुरुष चमड़े की उस मसक को हवा से फुलाकर अपनी कमर पर बांध ले। फिर वह पुरुष अथाह, दुस्तर और पुरुषा भर से ज्यादा (जिसमें पुरुष मस्तक तक डूब जाय, उससे भी अधिक) पानी में प्रवेश करे। तो हे गौतम ! वह पुरुष पानी के ऊपरी सतह पर ही रहेगा ?

'हां, रहेगा।'

इस प्रकार लोक की स्थिति आठ प्रकार की कही है, यावत्–कर्मों ने जीवों को संग्रहीत कर रक्खा है।

व्याख्यान

अब रोह अनगार के प्रश्नों से संबंध रखने वाला प्रश्न गौतम स्वामी पूछते हैं। गौतम स्वामी कहते हैं– भगवन्! रोह ने लोक, अलोक आदि के संबध में प्रश्न किये और आपने उत्तर दिये। परन्तु लोक–स्थिति कितने प्रकार की है?

इस प्रश्न का भगवान ने उत्तर दिया–हे गौतम! आठ प्रकार की है।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं–भगवन्! आठ प्रकार की कैसे है?

इस विषय में भगवान ने जो निरूपण किया है, उसे जानने से पहले संसार का रंग समझ लेने की आवश्यकता है। गौतम स्वामी ने, जिस पृथ्वी पर हम लोग ठहरे हुए हैं, उसके विषय में यह प्रश्न किया है। इस पृथ्वी के नीचे सात पृथ्वियां और हैं मगर जिस पृथ्वी पर हम लोग स्थित हैं, वह किस आधार पर ठहरी है, यही गौतम स्वामी का प्रश्न है।

इस विषय में अन्य मतावलम्बी जो कुछ कहते हैं वह गौतम स्वामी को ठीक ठीक नहीं जंचा, इसी कारण उन्होंने यह प्रश्न किया है।

कुछ लोगों का कहना है कि यह पृथ्वी शेषनाग पर ठहरी है। अगर यह कथन मान लिया जाय तो प्रश्न होता है कि शेषनाग किस आधार पर ठहरा है? अगर शेषनाग को कच्छप के सहारे और कच्छप (कच्छुवे) को जल पर आश्रित कहा जाय तो भी प्रश्न समाप्त नहीं होता। आखिर जल किस पर ठहरा है, यह प्रश्न खड़ा ही रहता है। इसके अतिरिक्त जिस शेषनाग के फन

पर पृथ्वी ठहरी है, वह कभी तो थकता ही होगा! अगर वह शेषनाग हजार फन वाला है, इस कारण सम्पूर्ण पृथ्वी का भार सहन कर लेता है तो दिखाई देने वाले शेषनागों पर सेर दो सेर वजन तो ठहरना ही चाहिए। जब उन पर इतना भी वजन नहीं ठहरता तो यह कैसे माना जा सकता है कि एक शेषनाग पर इतनी विशाल पृथ्वी, सदा के लिए ठहरी हुई है।

अगर पृथ्वी को गाय के सींग पर ठहरी मानें तब भी यही प्रश्न उपस्थित होता है। आखिर गाय किस आधार पर ठहरी है? इसके सिवा जब एक गाय अपने सींग पर सारी पृथ्वी का बोझ लादे हुए है तो फिर पृथ्वी के ऊपर दिखलाई देने वाली गायों के सींग पर मन आधा मन वजन भी क्यों नहीं ठहरता? जब गाय के सींग पर इतना भी वजन नहीं ठहरता तो यह कैसे मान लिया जाय कि किसी गाय के सींग पर यह सम्पूर्ण पृथ्वी ठहरी हुई है।

यदि यह कहा जाय कि यह कथन आलंकारिक है। पृथ्वी को सहारा देने वाली शक्ति तो और कोई है। तो यह बतलाना चाहिए कि वह शक्ति कौन–सी है ?

शेष का अर्थ कई लोग 'बाकी बचा' करते हैं और कहते हैं कि पृथ्वी सत्य की शक्ति पर ठहरी है। इस प्रकार कोई–कोई शेषनाग पर, कोई कछुये पर कोई गाय के सींग पर और कोई सत्य पर पृथ्वी का ठहरना मानते हैं। परन्तु इन मान्यताओं में से किसी से भी आधार का प्रश्न हल नहीं होता।

तब गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में, भगवान् कहते हैं–हे गौतम! मैं आठ प्रकार की लोकस्थिति बतलाता हूं। इस पृथ्वी के नीचे, सब से पहले आकाश है। वह आकाश किस पर ठहरा है, यह प्रश्न नहीं हो सकता, क्योंकि आकाश स्व–प्रतिष्ठ है–वह अपने आप पर ही ठहरा रहता है। उसके लिए अन्य आधार की आवश्यकता नहीं होती। आकाश पर वायु है। वायु के दो भेद हैं–घनवायु और तनुवायु। यों जैन शास्त्रों में वायु के सात लाख भेद बतलाये गये हैं, और विज्ञान भी वायु के बहुतेरे भेद स्वीकार करता है, मगर यहां सिर्फ दो भेद ही किये गये हैं, क्योंकि यहां उन्हीं की उपयोगिता है। आकाश के पश्चात् तनुवात है और तनुवात के पश्चात् घनवात है। तनुवात का मतलब है–पतली हवा। हल्की चीज भारी चीज को धारण कर लेती है अतः तनुवात पर घनवात अर्थात् मोटी हवा है। घनवात पर घनोदधि अर्थात् जमा हुआ मोटा पानी है। उस पानी पर यह पृथ्वी ठहरी हुई है। पृथ्वी के सहारे त्रस और स्थावर जीव रहे हुए हैं।

अब यह कहा जा सकता है कि अजीव पृथ्वीरूप यह आकार कैसे बना है? अजीव को कौन धारण करता है? इसका उत्तर यह है कि पृथ्वीकाय के भी जीव हैं और जीव पर अजीव प्रतिष्ठित है।

जीव सूक्ष्म है और अजीव स्थूल है। लेकिन सूक्ष्म पर स्थूल रहता है, यह बात प्रत्यक्षसिद्ध है। जो भी विशेष शक्ति है, वह सूक्ष्म मे पाई जाती है। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं कि अजीव, जीव पर प्रतिष्ठित हैं। जीव कर्म –प्रतिष्ठित हैं अर्थात् कर्म पर अवलंबित है। अजीव को जीव ने संग्रह किया है और जीव को कर्म ने संग्रह किया है।

भगवान् ने यह आठ बातें बतलाई हैं। गौतम स्वामी कहते हैं–प्रभो! आपका कथन सत्य है, मगर इसके लिए कोई उदाहरण भी बताइए, जिससे साधारण शिष्यों का भी उपकार हो! आकाश पर वायु और वायु पर पानी ठहरा है, यह बात आप प्रत्यक्ष देखते हैं, परन्तु ऐसा कोई उदाहरण भी बतलाइए, जिससे यह कथन सहज ही समझ में आ जाय।

भगवान फर्माते हैं–कल्पना करो, कोई पुरुषार्थ में निपुण और बुद्धिमान पुरुष हाथ में चमड़े की मशक लिए हुए हैं। उस मशक मे वह वायु भरे और मशक का मुंह बांध दे। फिर बीच में एक रस्सी बांध कर मशक की हवा को दो विभागों में बांट दे। तदन्तर मशक का मुंह खोल कर, एक हिस्से की हवा बाहर निकाल दे और उस खाली हिस्से में पानी भर दे और मशक का मुंह बंद करके, फिर बीचकी रस्सी भी खोल दे। ऐसा करने पर एक ही मशक के आधे भाग में हवा होगी और आधे भाग में पानी होगा। हे गौतम! वह मशक का पानी मशक में भरी हुई हवा पर ठहरेगा या नही? अवश्य ठहरेगा। हवा सूक्ष्म है और पानी उससे स्थूल है। फिर भी हवा के आधार पर पानी रहेगा या नहीं?

गौतम ने कहा–हां, भगवन्! रहेगा!

इस न्याय से मेरी पहले कही हुई बात सहज ही समझी जा सकती है कि हवा पर पानी रहता है।

अब भगवान् एक दृष्टांत और देते हैं–हे गौतम ! एक चतुर आदमी नदी पार करना चाहता है, परन्तु वह तैरना नहीं जानता–अतएव उसने एक मशक ली, उसमें हवा भरी और उसका मुंह बांध दिया। तदन्तर वह मशक उसने कमर पर या पेट पर मजबूत बांधली और फिर वह अथाह जल में गिर पड़ा। अब हे गौतम, वह पुरुष उस मशक पर रहेगा या मशक उस पर रहेगी? गौतम स्वामी कहते हैं–वह पुरुष मशक पर रहेगा।

हे गौतम! वायु सूक्ष्म है। फिर भी वायु मनुष्य का भार वहन करती है। जैसे इसमें संदेह को अवकाश नहीं, उसी प्रकार गौतम आठ प्रकार की लोक–स्थिति में भी संदेह करने का कोई कारण नहीं है।

वस्तु का समीचीन ज्ञान निश्चय और व्यवहार–दोनों दृष्टियों से होता है। निश्चय दृष्टि में सूक्ष्म से सूक्ष्म बात का भी पता लगाया जाता है। निश्चय दृष्टि से चौदहवें गुणस्थान वाले अयोग केवली भी संसारी ही कहलाते हैं, क्योंकि उनमें संसार का कुछ अंश अब भी शेष है। जब व्यवहार दृष्टि से काम लिया जाता है तो स्थूल बात को देखकर सूक्ष्म को गौण कर दिया जाता है। उदाहरणार्थ– किसी बगीचे में आम के वृक्ष अधिक है और दूसरे प्रकार के कम हैं, तो अन्य वृक्षों के होते हुए भी व्यवहार दृष्टि से वह बगीचा आम का ही कहलाता है, क्योंकि उसमें आम्रवृक्षों की अधिकता है। यहां घनोदधि पर पृथ्वी के ठहरने की जो बात कही है, वह इसी पृथ्वी की अपेक्षा से है।

उस पृथ्वी पर रहने वाले त्रस और स्थावर जीवों पर व्याख्यान भी प्रायः अपेक्षा से है, क्योंकि सात लोकों को ही पृथ्वी कहते हैं,मगर सुमेरुपर्वत पर और आकाश पर भी प्राणी रहते हैं। अतः पृथ्वी पर त्रस–स्थावर जीव रहते हैं, इस कथन का अर्थ यह नहीं समझना चाहिये कि पृथ्वी के अतिरिक्त और कहीं वे नहीं रहते।

अव यह भी देखना है कि अजीव, जीव के आधार पर है, या जीव, अजीव के आधार पर है? जड़ को चेतन ने आधार दिया है या चेतन को जड़ ने आधार दिया है? इस संवंध में शास्त्रकार कहते हैं,–'अजीवा जीवपइट्ठिया।'

शरीर अजीव पुद्गल का संग्रह है, लेकिन इसका अधिकारी जीव है। मनुष्य ने मकान बनाया है। वह चाहे तो उसे गिरा भी सकता है। इसी प्रकार पहाड़, शरीर का ढ़ांचा, कान, नाक आदि सब जीव के बनाये हुए हैं। यद्यपि कई लोग इन सबका कर्त्ता ईश्वर बतलाते हैं, मगर इसमें सत्यता नहीं है। यह बात पहले स्पष्ट की जा चुकी है और यहां उसे दोहराने की आवश्यकता नहीं है। वास्तव में आत्मा स्वयं ही कर्त्ता है। आत्मा अनादि है और उसकी शक्ति अपरिमित है। वह अपरिमित शक्ति कर्म–संयोग से दबी हुई है, इसलिये आत्मा को उसका ज्ञान नहीं है। आत्मा अपनी शक्ति को जान ले तो वह पूर्ण है। आत्मा बाहर की ओर देखने का अभ्यासी हो रहा है। यह

साहूकार बहुत होशियार था। उसने कुछ धन ऊपर रखा था और कुछ जमीन में गाड़ दिया था। धन इस चतुराई से गाड़ा गया था कि जानकार को ही मिल सकता था। उस गड़े हुए धन का हाल एक स्वामीभक्त मुनीम के सिवा और किसी को मालूम नहीं था। मुनीम ने उस लड़के से कहा–'या तो तुम अपनी अक्ल से चलो या मेरी अक्ल से चलो; मगर गुण्डों के इशारों पर मत नाचो। धन को वृथा मत गंवाओ।' मुनीम की बात लड़के ने नहीं मानी। मुनीम काम छोड़ के चला गया। धीरे धीरे साहूकार का लड़का जमीन–जायदाद सब कुछ बेचकर भिखारी बन गया। वह मांग मांग कर खाने लगा। मांगने पर कोई दे देता तो प्रसन्न होता, न देता तो उसके दुःख का ठिकाना न रहता। इसी प्रकार दिन बीतते गये।

एक बार मांगते–खाते वह अपने मुनीम की दुकान पर चला गया। लड़के ने मुनीम को तो नहीं पहचाना, परन्तु मुनीम ने उसे पहचान लिया। मुनीम ने उससे पूछा–कहो, यह क्या हाल है? लड़के ने कहा–हाल जो कुछ है, सो दीख रहा है। टुकड़ा हो तो खाने को दीजिए। तब मुनीम ने कहा–तुम्हारे घर के टुकड़े ही मेरे यहां है। मैं आपका वही मुनीम हूं। आपने मुझे पहचाना नहीं।

मुनीम को पहचान कर लड़का रोने लगा। मुनीम की आंखों में भी आंसू छलक आये। मुनीम ने उसे सान्त्वना देते हुए कहा–रो मत मेरे बेटे ! बाहर का धन गया, परन्तु भीतर की शक्ति अभी विद्यमान है।

मुनीम लड़के को लेकर उसके घर आया और गड़ा हुआ निधान खजाना बतलाकर उसका काम बना दिया। लड़का बोला–मुनीमजी, मैं भिखारी बन चुका था। आपने यह निधान बतलाकर कितना अनुग्रह किया है, कह नहीं सकता। तब मुनीम जी बोले–भैया, तुम्हारी चीज तुम्हें बतला दी, इसमें मेरा क्या अनुग्रह है?

मित्रों! तुम्हारे भीतर ईश्वरीय तत्व भरे हुए हैं, लेकिन इन्हें भूलकर तुम संसार के भिखारी बने हुए हो।

भगवान कहते है–गौतम! शक्ति जीव में ही है। जीव ने ही अजीव को पकड़ रखा है। संसार में जितने पदार्थ है, सब प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जीव द्वारा बने हुए है। जीव ने ही पृथ्वी रूप आकार बना रक्खा है। पानी (शरीर) भी जीव ने ही बनाया है। अग्नि, पवन, चिऊंटी, हाथी, राजा, रंक, नारकी देव आदि सब रूप जीव ने ही धारण कर रक्खे हैं। किसी की ताकत नहीं कि वह जीव को पकड़े। जीव ने ही सब को पकड़ रक्खा है।

जैन सिद्धान्त तो कहता ही है, मगर श्रुतियां भी यही बात कहती हैं।

एक जगह कहा है – यह आत्मा पृथ्वी के भीतर रहता हुआ भी पृथ्वी से अलग है–रहता यह पृथ्वी में है, मगर पृथ्वी नहीं है। जैसे देह और देही अलग है, उसी प्रकार पृथ्वी और पृथ्वी में रहने वाला जीव अलग है। आत्मा पृथ्वी को जानता है, मगर पृथ्वी आत्मा को नहीं जानती । आत्मा ने पृथ्वी का शरीर धारण कर रक्खा है।

जैन शास्त्र 'पृथ्वीकायिक' जीव कहता है। पृथ्वीकायिक का अर्थ–पृथ्वी जिसका शरीर है, ऐसा जीव।

वृहदारण्यक में कहा है–पृथ्वी आत्मा का शरीर है। आत्मा पृथ्वी में रहता हुआ उसे प्रेरित करता है। 'यश्चायमस्यां पृथ्वीव्यां तेजामयऽमृतपुरुषा' इत्यादि। (पंचमब्राह्म्)

जैन शास्त्रानुसार पृथ्वीकाय के जीवों में काय का योग है या नहीं? अवश्य है। पृथ्वीकाय का जीव व्यंजन भी करता है, मगर बारीक होने से दीख नहीं पड़ता।

वृहदारण्यक में कहा है– वह आत्मा अन्तर्यामी है और अमृत है।

पृथ्वी के समान पानी के संबंध में भी यही बात है। पानी भी आत्मा का ही खेल है। आत्मा ने ही परमाणुओं को पकड़ कर पानी बनाया है। आत्मा पानी में है, मगर पानी से अलग है। पानी को वह जानता है, पर पानी उसे नहीं जानता। वह पानी में रहता हुआ, पानी में प्रेरणा उत्पन्न करता है। वह अंतर्यामी है और अमृत है।

इसी प्रकार वायु, अग्नि, मन आदि के लिए भी श्रुति है। तात्पर्य यह है कि अजीव को पकड़ने वाला जीव है। अजीव आप ही समुदित नहीं हुआ है, इसे समुदित करने वाला जीव है। आप जरा आंख खोल कर देखिए। सोइए मत, जागिए।

"थाने छा आई अनादि की नींद, जरा टुक जोवो तो सही।"

जोवो तो सही चेतनजी जोवो तो सही–

"जरा ज्ञानादि जल छांट गगन पट धोवो तो सही"

ज्ञानी पुरुष अपने और पराये आत्मा का अभेद करके कहते हैं–जागो! अनादि काल की नींद भंग करके जरा देखो कि सामने क्या है ? मोह रूपी अनादि कालीन निद्रा का परित्याग करो।

आप सोचते होंगे–हम कैसे जागें? हमें कौन–सी नींद सता रही है? मगर नहीं, यह नींद ऐसी है कि कठिनाई से पहचानी जाती है। यह अज्ञान

की निंद्रा है। अज्ञान क्या है? है कुछ और, समझना कुछ और ही, यही अज्ञान है। इसी अज्ञान के कारण आत्मा दुःखी हो रही है। अज्ञान छोड़कर देखो कि हम मूछें मरोड़ कर चलते हैं, कमर में बल डाल कर चलते हैं, परन्तु चलते किस पर हैं? अगर पृथ्वी ने आपको आश्रय न दिया होता तो आपकी अकड़ कहां तक निभती? समाचार पत्रों में आप पढ़ते हैं कि अमुक जगह भूकम्प हुआ, जमीन फट गई, फिर भी आप में अंहकार घुसा हुआ है। अन्यान्य देशों की भांति आपको भूकम्प का अधिक भय नहीं है, तथापि इस बात को तो समझना ही चाहिए कि आपको आश्रय देने वाली पृथ्वी क्या है? इस विषय में जैन सिद्धांत ने खूब व्याख्या की है। जैन सिद्धांत में पृथ्वीकाय के जीवों का भी खूब वर्णन किया गया है। उनका शरीर, अवगाहना, संहनन, संस्थान आदि सभी कुछ बतलाया गया है। पृथ्वीकाय के जीव की अवगाहना अंगुल के असंख्यातवें भाग बराबर है। ऐसी अवगाहन वाले छोटे-छोटे अनेक जीव मिले हुए हैं, इसी कारण हिमालय और सुमेरु जैसे बड़े-बड़े पर्वत हैं।

सामान्यदृष्टि से मेरु का विचार करते हैं तो मेरु एक ही कहा जाता है, परन्तु उसमें रहे हुए पृथ्वीकाय के जीव असंख्य हैं और वे सभी मेरू हैं। एक घर में रहने वाले बच्चे, बूढ़े, कुत्ते, बिल्ली, चूहे आदि सभी उस घर को अपना-अपना बतलाते हैं। इसी प्रकार अनेक जीव मिलकर उनके शरीर रूप में यह पृथ्वी बनी है। मगर आप स्थूल को पकड़ कर सूक्ष्म को भूल रहे हैं। यही आपकी भूल है।

तात्पर्य यह कि आप अभिमान करते हैं, मगर यह नहीं देखते कि अभिमान करने योग्य कौन-सी बात आप में है। अगर यह पृथ्वी के जीव बिखर जावें तो कैसी बीते, कैसा हालात हो जाए? समष्टि से ही यह संसार है। अगर सब जीव बिखर जाएं तो उथल पुथल हो जाए।

आपको यह देखना चाहिए कि आप जो काम करते हैं, वह मिलने के हैं या बिखरने के हैं? कृषक खेती करते हैं, तब अन्न निष्पन्न होता है। वे पृथ्वी की सहायता से ही अन्न उत्पन्न करके उसका संग्रह करते हैं। ऐसा न करें तो संसार में हाहाकर मच जाय। संग्रह ही आधार हैं। इसलिए आप ऐसा कोई काम न करें, जिससे आप में फूट पैदा हो। प्राण और शरीर का वियोग मत करो। इनका वियोग न करना ही दया है। मगर कठिनाई तो यह है कि आप जीवों को भंग-खंडित करने मे लग रहे हैं।

आप सोचते होंगे कि संसार में रहते हुए ऐसा किस प्रकार किया जा सकता है? लेकिन अगर आप जोड़ने का काम नहीं कर सकते और तोड़ने-फोड़ने

से सर्वथा नहीं बच सकते, तो भी कम से कम मन में जोड़ने की भावना तो करो। ध्यान में इतनी बात तो रक्खो कि मुझ में बिखेरने और जोड़ने की–दोनों शक्तियां विद्यमान हैं। आप यह तो देखते हैं कि हिंसा, झूठ के बिना काम नहीं चल सकता, लेकिन यह क्यों नहीं देखते कि हम हिंसा से जीवित हैं या अहिंसा से जीवित हैं? आपकी माताने आप का पालन हिंसा की भावना से किया है या अहिंसा की भावना से? जगत् का व्यवहार सत्य से चलता है या असत्य से? आपको भूख लगी हो, फिर भी आप कहें कि मुझे भूख नहीं है तो कब तक काम चलेगा? वास्तव में सब काम सत्य से ही चल रहे हैं, मगर आपने असत्य का आश्रय लेकर अपनी भावना निर्बल बना ली है।

मतलब यह है कि हमें सब प्रकार के भ्रमों का परित्याग कर के परमार्थ तत्व का विचार करना चाहिए। सत्य का अन्वेषण करने वाला ही कल्याण का भागी होता है।

मूल बात यह थी कि अजीव, जीव पर प्रतिष्ठित है जैसे पानी आधेय और पात्र आधार है, बिना आधार के आधेय नहीं रह सकता, इसी प्रकार संसार जिस आकार में दृष्टिगोचर होता है, उस आकार का मूलाधार जीव है। अर्थात् अजीव जीव की सत्ता में है।

पुद्गल शब्द का अर्थ ही मिलना और बिखरना है। पुद्गल में स्थायित्व नहीं है। पुद्गल में उत्कृष्ट स्थिरता सत्तर (70) कोड़ाकोड़ी सागरोपम तक की है, मगर यह भी जीव की शक्ति से ही है। जीव पुद्गल को इतने समय तक ठहरा रख सकता है। आत्मा सहित मानव शरीर सौ वर्ष तक भी टिका रहता है, परन्तु आत्मविहीन शरीर कितने दिन तक ठहर सकता है ? शरीर तो वही है, मगर उसे टिका कर रखने वाला चला गया। इसी कारण अब वह नहीं टिक सकता।

प्रश्न होता है अगर जीव ही अजीव को टिकाए रखता है तो जीव शरीर को सौ वर्ष तक ही क्यों टिकाकर रखता है? अधिक क्यों नहीं टिकाता ! कदाचित् यह कहा जाय कि जीव की इच्छा सौ वर्ष से अधिक टिकने की नहीं है, मगर मरना कौन चाहता है? सौ वर्ष का वृद्ध भी युवा पुरुष की भांति दीर्घ जीवन की आकांक्षा रखता है। ऐसी स्थिति में प्रश्न का ठीक समाधान क्या है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि मृत्यु भी एक प्रकार से, चाहने से होती है। चाह दो प्रकार की है–एक दिखावटी एवं बनावटी और दूसरी चाह असली एवं सच्ची। सच्ची चाह मस्तिष्क में उत्पन्न होती है और बाहर पूरी होती है।

मकान एक दिन किसी की इच्छा–शक्ति में आया और तभी बना। वह इच्छा–शक्ति अगर निर्बल होती तो मकान न बनता। लेकिन मकान विषयक इच्छा–शक्ति प्रबल थी, इससे मकान बन गया। इसी प्रकार जीव की इच्छाशक्ति उसके जीवन और मरण का कारण होती है। मगर बच्चों के खेल की–सी इच्छा शक्ति से काम नहीं चलता, इच्छाशक्ति में प्रगाढ़ता होनी चाहिए।

प्रकट में देखा जाता है कि मरणासन्न मनुष्य का जीव जब नहीं निकलने लगता है–अटक जाता है, तो उसे लोग पूछते हैं, आप क्या चाहते हैं ? उसके कुछ कहने पर जब उसे संतोष दिला दिया जाता है कि वह काम हो जायगा, तब वह प्राण छोड़ देता है। इस प्रकार जीव ने ही शरीर टिका रक्खा है, इसी कारण भगवान् कहते हैं–'अजीवा, जीव संठिया।' अर्थात् अजीव जीव पर आश्रित है। और 'जीवा कम्मसंठिया' अर्थात् जीव कर्म पर आश्रित है। यहां तक छह प्रकार की स्थिति का वर्णन किया गया है।

सातवें बोल का आशय यह है कि चेतन पदार्थ, जड़ को ग्रहण करके उन्हें संग्रह करता है। यहां चेतन में आत्मा का और जड़ में मन आदि पौद्‌गलिक वस्तुओं का ग्रहण होता है। इससे स्पष्ट है कि आत्मा ने मन आदि समस्त वस्तुओं को अपनी सुविधा के लिए संग्रहीत कर रक्खा है । और वे सब उसी आत्मा के सेवक हैं। आत्मा भिन्न पदार्थ है और मन आदि भिन्न हैं। मन आत्मा का साधन है, आत्मा मन का स्वामी है। इसलिए मन की अपेक्षा आत्मा महान् है। शरीर के सब अवयव वास्तव में जड़ हैं–पौद्‌गलिक हैं। नेत्र देखते हैं, मगर देखने की शक्ति वास्तव में नेत्र की नहीं है। आत्मा की शक्ति के स्रोत विभिन्न इन्द्रियों को प्राप्त होते हैं और तभी वह अपना–अपना काम करती है। इसलिए वास्तविक दृष्टा आत्मा है, जो नेत्रों को साधन बनाकर देखता है। दृष्टि कम हो जाने पर ऐनक लगाया जाता है, मगर ऐनक दृष्टा नहीं है, उसी प्रकार नेत्र भी दृष्टा नहीं हैं। दृष्टा आत्मा है।

इसी प्रकार मन दृष्टा नहीं, वह भी साधन मात्र है। नेत्र, कान, नाक, त्वचा आदि की तरह मन को भी आत्मा का साधन ही समझना चाहिए। आज लोग गहराई में नहीं घुसते इस कारण उन्हें असल तत्व का पता नही चलता। 'जिन खोजा तिन पाइया, गहरे पानी पैठि।' बाहर से भीतरी तत्व कैसे दिखाई दे सकता है?

कोई पूछे, दृष्टा बड़ा है या दृश्य? संसार के सारे पदार्थ दृश्य हैं और आत्मा दृष्टा है। अब इन दोनों में बड़ा कौन है? इस प्रश्न के उत्तर में यह प्रश्न करना ही उचित होगा कि जौहरी बड़ा है या हीरा? हंडिया बड़ी है या उसकी

परीक्षा करने वाला? सब समझदार यही स्वीकार करेंगे कि दृश्य की अपेक्षा दृष्टा बड़ा है। मगर आज हम इससे विपरीत होता देखते हैं। आज लोग व्यवहार में दृष्टा को छोटा और दृश्य को बड़ा मान बैठे हैं। उन्हें दृष्टा की कोई चिन्ता नहीं, चिन्ता है केवल दृश्य की। आत्मतत्व का ध्यान भूल कर लोग जड़ पदार्थों के लिए ही व्याकुल हो रहे हैं। इसका कारण अज्ञान है। अज्ञान के कारण लोगों ने असली तत्त्व को बिसार दिया है और दृश्य पर अपने आपको न्यौछावर कर रहे हैं।

मन, भाषा, इन्द्रियां तथा अन्य पदार्थ दृश्य हैं, और आत्मा इन सब का दृष्टा है। शरीर भी आत्मा का साधन और दृश्य है। यही कारण है कि शरीर का नाश होने पर भी ज्ञानीजन दुःख का अनुभव नहीं करते। इसके विरुद्ध आत्मा के प्रतिकूल आत्मा को कर्मबंधन में डालने वाला कोई भी कार्य उन्हें सहन नहीं होता। अज्ञानी शरीर को ही सब कुछ समझता है और ज्ञानी के लिए आत्मा सर्वस्व है।

आप कह सकते हैं कि शरीर की चिन्ता क्यों न की जाय? क्या हम पशु हैं? जो शरीर की या अन्य पदार्थों की चिन्ता न करें? हम मनुष्य, पशुओं की तरह नहीं रहना चाहते। हमारे घर–द्वार हैं, स्त्री, बाल–बच्चे हैं। इन सब की चिन्ता छुड़वा कर हमें पशुता की ओर ले जाना क्या उचित है ? मगर इस प्रकार की आशंका निर्मूल है। अगर पशुता की ओर ले जाने की इच्छा होती तो उपदेश देने की क्या आवश्यकता थी। बल्कि हम तो पाशविक जीवन से मनुष्य को ऊंचा उठाना चाहते हैं। मनुष्य को पशुता से बचाकर, सच्चा मनुष्य बनाकर देवत्व की ओर ले जाने के उद्देश्य से ही ज्ञानी उपदेश देते हैं। मनुष्य ऐसे–ऐसे काम करता है, जिन्हें करने में पशु भी लज्जित होता है। उन्हीं कार्यों से दूर रखने के लिए यह उपदेश दिया जाता है कि–तुम वैसे कार्य मत करो, जिससे तुम्हारा अस्तित्व पशुओं से भी निम्न कोटि का बन जाय। ज्ञानी पुरुष कुटुम्बपालन का निषेध नहीं करते, मगर उससे भी महान् और पवित्र उद्देश्य की ओर इंगित करते हैं और कुटुम्ब के संबंध में मनुष्य ने जो क्षुद्र कल्पना बना ली है, संकीर्ण सीमा निर्धारित कर रखी है, उसे विशाल–विशालतर बनाने के लिए प्रेरित करते हैं।

मनुष्य में बुद्धि अवश्य है, किन्तु वह दृष्टा को भूलकर भ्रमवश दृश्य को ही सब कुछ मान बैठा है। अपने दृष्टापन को भूल कर दृश्य के लिए ही परेशान रहता है। वह अपनी गुरुता तो बिसर गया है और तुच्छ वस्तुओं को अपने से अधिक मूल्यवान मान रहा है। एक कारीगर ने पुतली बनाई। पुतली

जमीन पर गिर कर फूट गई। अब अगर कारीगर उसके लिए रोता–बिलखता है, तो पुतली बड़ी कहलाई या कारीगर बड़ा कहलाया? 'पुतली!'

मनुष्य अज्ञान के कारण रोता है। वह वस्तुस्थिति को नहीं पहचानता, इसी से रोता है। जरा–जरा सी बातों के लिए रोना, अज्ञानपूर्ण है और पशु से भी निकृष्ट होने का प्रमाण है। वास्तव में पौद्गलिक पदार्थो के फेर में पड़ जाने के कारण ही मनुष्य वास्तविकता से बहुत दूर जा पड़ा है। अज्ञान के ही कारण मनुष्य, मनुष्य के लिए इतना भयंकर हो पड़ा है, जितना सांप भी नहीं होता। सांप के काटने से थोड़े ही मनुष्य मरते हैं। मगर मनुष्य के काटने से प्रति वर्ष लाखों मनुष्य मरते हैं। यह विशालकाय तोपें, मशीनगनें और वायुयान आदि विनाश के दूत, क्या मनुष्य ने मनुष्य के शिकार करने के लिए ही नहीं बनाये हैं? इन सब का कारण क्या है? यही कि मनुष्य वास्तविकता भूल गया है और भौतिक पदार्थो, की ओर ही उसका पूरा लक्ष्य आकर्षित हो गया है।

शास्त्रकार कहते हैं– संग्राहक होने के कारण आत्मा बड़ा है। संग्रह किये हुए पदार्थ जड़ हैं। इसी से वे आत्मा के मुकाबले–तुलना में तुच्छ हैं। इन तुच्छ वस्तुओं के लिए आर्त्तध्यान करना बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं। भक्तों में भी यद्यपि आरती होती है, किन्तु वह सांसारिक पदार्थों के लिए नहीं है। उसके हृदय मंदिर में जब काम, क्रोध आदि बलवान् चोर घुसने लगते हैं और उन्हें रोकने में असमर्थ हो जाता है, तब भक्त में आरती उत्पन्न होती है । और वह अपने स्वामी को दीनतापूर्वक पुकारने लगता है। उस समय, पैसा, मकान, दुकान यहां तक कि शरीर नष्ट होने पर भी उसे दुःख नहीं होता। क्योंकि वह आत्मतत्व को जानता है और उसे सदैव उसी की चिन्ता लगी रहती है। आत्मतत्व के समक्ष संसार का सम्पूर्ण वैभव उसके लिए तिनके के समान है।

जैसे बाजीगर नकली बाग लगाकर उसे उड़ा देते हैं, रुपये बनाकर उन्हें लोप देता है, किन्तु इन चीजों के लिए वह रोता नहीं है, क्योंकि वह उनकी वास्तविकता को भली–भांति जानता है कि यह कैसे बनी? और इनका मूल्य क्या है? इसी प्रकार अगर सब लोग आत्मा एवं शरीर आदि पदार्थ के सम्बन्ध को और उसके महत्व को भलीभांति जान लें तो फिर रोने–बिलखने का कोई कारण ही न रहे!

अगर कोई चित्रकार भिन्न भिन्न प्रकार के रंग दिखलाकर किसी साधरण मनुष्य को यह समझाने का प्रयत्न करे कि इन रंगों में हाथी, घोड़े आदि के चित्र समाये हुए हैं तो साधारण मनुष्य की बुद्धि में यह बात कदापि

नहीं आ सकती। किन्तु वह चित्रकार अपनी तूलिका से जब उसी रंग की लकीरें दीवाल पर बना देता है, तब उन्हें देखकर एक बच्चा भी बतला देता है कि यह अमुक जीव का चित्र है, जैसे रंग में चित्र बनाने की शक्ति विद्यमान है, किन्तु दीवाल पर चित्र बनाने से पहले लोग उसे कम ही समझ पाते हैं, उसी प्रकार शास्त्रीय ज्ञान में बहुत बड़े-बड़े मर्म छिपे हुए हैं, किन्तु जब तक कोई वैसा चित्र जनसाधारण के सामने प्रस्तुत नहीं किया जाता, तब तक उसका महत्व उनकी समझ में नहीं आता। वास्तव में ज्ञान भी रंग की भांति है। इसी कारण भगवान ने जगह-जगह उदाहरण देकर तत्वज्ञान कराया है।

जीव, अजीव का संग्राहक है अर्थात् अजीव को जीव ने पकड़ रक्खा है, यह आठवें प्रकार की लोकस्थिति है। भगवान् कहते हैं-

अजीव जीवसंगहिया।

जीव ने अजीवों का संग्रह कर रक्खा है। अजीव में जीव को पकड़ने की ताकत नहीं है। यह शक्ति जीव में ही है कि वह अजीव को इस रूप में लाया है। अजीव संग्रह-रूप है और जीव इन सब का संग्राहक है।

यह कितने आश्चर्य की बात है कि आत्मा संग्राहक है, मगर अपने अज्ञान के कारण वह अपने किये संग्रह का गुलाम बन रहा है! तुम संग्रह के अधीन हो रहे हो किन्तु ज्ञानी कहते हैं कि तुम रुपये के नहीं हो, जर्बदस्ती रुपये के बन रहे हो। तुम जर्बदस्ती उसके बनते जा रहे हो। मगर वह तुम्हारी इज्जत नहीं करता। आप रुपये को अपना मानते हैं, फिर उसे रखने के लिए तिजोरी की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए न कि वह भाग जायगा? आप को रुपये की ओर से निरन्तर भय लगा रहता है, फिर भी आप से लोभ और तृष्णा नहीं छूटते!

आप कह सकते हैं कि क्या हम लोग रुपया-पैसा रखना छोड़ दें? अपने पास की सम्पत्ति दूसरों को लुटा दें? इसका उत्तर यह है कि हम आपसे यही कहते हैं कि आप पैसे के मत बनो, किन्तु यह सोचो कि मैंने इसका संग्रह किया है, इसने मुझे संग्रहीत नहीं किया है। ऐसा समझने से बुद्धि अच्छी रहेगी। बुद्धि अच्छी रहेगी तो संगृहीत पैसे का विनियोग भी अच्छा होगा। उदाहरणार्थ-आपको एक रुपया मिला। अगर आप यह जानते हैं कि इस रुपये का संग्रह मैंने किया है और इससे कई लोगों का पोषण हो सकता है। तो आप उस रुपये का विनियोग लोगों का पालन करने में करेंगे। अगर आपने ऐसा किया तो रुपये का सद्-विनियोग कहलाया। लेकिन अगर आपने वह

रुपया ऐसे काम में खर्च न करके किसी वेश्या को दे दिया तो उसका विनियोग ठीक नहीं हुआ। अगर आप समझ जाएंगे कि रुपया संग्रह है और मैं उसका संग्राहक हूं तो आप उसका दुरुपयोग नहीं करेगे और उसके गुम जाने पर शोक भी नहीं करेंगे। आप समझेंगे कि पैसा कमाना बड़ी बात नहीं है, बड़ी बात उस का उपयोग करना है।

यहां एक प्रश्न हो सकता है कि अगर जीव, जड़–पुद्गलों का संग्रहकर्त्ता है, तो सिद्ध जीव पुद्गलों का संग्रह क्यों नहीं करते? अगर निरंजन, निराकार सिद्ध जीव पुद्गलों का संग्रह नहीं करते तो सिद्धांततः यह बात कैसे कही जा सकती है कि जड़ को जीव ने संग्रह कर रक्खा है? इस प्रश्न के उत्तर में शास्त्र कहता है :–

जीवा कम्मसंगहिया।

अजीव को पकड़ने की आदत आत्मा की असली नहीं है, वरन् जीव में एक विकारी आदत पैदा हो गई है। इसी विकारी आदत या वैभाविक अवस्था के कारण जीव जड़ का संग्रह करता है। आत्मा के इस विभाव को कोई–कोई त्रिगुणात्मिक प्रकृति कहते हैं और जैन धर्म उसे कर्त्ता का आठ कर्म कहता है। इन आठ कर्मो की विकारी आदत के वश होकर ही जीव अजीव को पकड़ता है। कर्म का अर्थ है–जो किया जाय, 'क्रियते इति कर्म।' कर्म भी जीव के किये हुए हैं। कर्म के होने से ही जीव अजीव का संग्रह करता है। कर्म न हो तो वह अजीव का संग्रह न करे। सिद्ध जीव इसी कारण अजीव का संग्रह नहीं करते।

यह आठ प्रकार की लोकस्थिति बतलाई गई। इसमें दो बातों पर विचार करने की आवश्यकता है। प्रश्न यह है कि इस विषय में छह बातें कहने से ही काम चल सकता था फिर आठ बातें कहने का क्या प्रयोजन है ? छह बातों से काम चल जाने पर भी आठ बातें कही हैं, इससे शास्त्र में दोष हुआ या नहीं ? शास्त्र में 'अजीवा जीव पइट्ठिया' और अजीवा जीव संगहिया' यह दो बातें कहीं हैं, परन्तु इन दोनों के अर्थ में तो कोई मौलिक अन्तर नहीं दिखाई देता। इसी प्रकार 'जीवा कम्म पइट्ठिया' और 'जीवा कम्मसंगहिया' इन दोनों में भी कोई ,खास अन्तर नजर नहीं आता।

इसका उत्तर यह है कि पहले वाले में आधार आधेय संबंध को बतलाया गया है और अगले में संग्राहय–संग्राहकभाव प्रदर्शित किया गया है। अतः दोनों वाक्य अलग–अलग अर्थ बतलाते हैं।

मनुष्य भूमि पर बैठा है, यहां भूमि आधार है और मनुष्य आधेय है। इसी प्रकार जो संग्रह करता है वह संग्राहक कहलाता है, और जिसका संग्रह किया जाता है, वह वस्तु संग्राह्य कहलाती है।

अगर तेल में मालपुआ छोड़ा जाय तो वहां आधार आधेयमान और संग्राह्य संग्राहक भाव–दोनों होंगे। तेल आधार और मालपुआ आधेय है और तेल संग्राह्य एवं मालपुआ उसका संग्राहक है।

सार यह है कि संसार की स्थिति किस प्रकार है? इस प्रकार का उत्तर शास्त्र में इस प्रकार दिया गया है कि जीव में और अजीव में–जो कि संसार रूप हैं आधार–आधेय भाव और संग्राह्य–संग्राहक भाव विद्यमान है। इसी से संसार की स्थिति है। मगर जब तक जीव कर्मयुक्त है, तभी तक वह ऐसा करता है, कर्म से मुक्त होने पर ऐसा नहीं करेगा। कर्मयुक्त होने के कारण जीव, अजीवों को भिन्न–भिन्न रूप प्रदान करता है। मनुष्य दूध पीता है। पेट दूध का आधार बना और दूध आधेय हुआ। परन्तु यदि पेट की अग्नि बुझ गई हो तो क्या होगा? अर्थात् संग्राह्य–संग्राहक भाव नहीं रहेगा। क्योंकि दूध हजम ही नहीं होगा। जठराग्नि दूध के खल भाग और रसभाग को अलग करती है, इसी से नाक, कान, आंख आदि के रूप में वह परिणत होता है। यह संग्राह्य–संग्राहक भाव की शक्ति है।

जीव –पुद्गल सम्बन्ध

प्रश्न–अत्थि णं भंते! जीवा य पोग्गला य अण्णमण्णबद्धा, अण्णमण्णपुट्ठा, अण्णमण्णओगाढ़ा, अण्णमण्णसिणेहपडिबद्धा, अण्णमण्णघडत्ताए चिट्ठंति?

उत्तर–हंता, अत्थि।

प्रश्न–से केणट्ठेणं भंते! जाव चिट्ठंति?

उत्तर–गोयमा! से जहा नामए हरदे सिया, पुण्णे, पुण्णप्पमाणे, बोलट्टमाणे, बोसट्टमाणे, सम भर घडत्ताए चिट्ठइ।

अहे णं केई पुरिसे तंसि हरदंसि एगं महं नावं सयासवं, सयछिद्दं ओगाहेज्जा। से णूणं गोयमा! सा णावा तेहिं आसवदारेहिं आपूरमाणी आपूरमाणी पुण्णा, पुण्णप्पमाणा, बोलट्टमाणा, बोसट्टमाण, समभर घडत्ताए चिट्ठइ?

हंता, चिट्ठइ।'

से तेणट्ठेणं गोयमा! अत्थि णं जीवा य जाव–चिट्ठंति।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–अस्ति भगवन्! जीवाश्च पुद्गलाश्च अन्योन्यबद्धाः, अन्योन्यस्पृष्ठाः, अन्योन्यावगाढ़ाः, अन्योन्य स्नेहप्रतिबद्धाः, अन्योन्य घटतया तिष्ठंति?

उत्तर–गौतम! हन्त, अस्ति।

प्रश्न–तत् केनार्थेन भगवन्! यावत् तिष्ठंति?

उत्तर–गौतम! यथानाम को ह्रदः स्यात् पूर्णप्रमाणः, व्यप लोटयन् , विकसन् , समभर घटतया तिष्ठति।

अथ कश्चित् पुरुषस्तस्मिन् ह्रदे एकां महतीं नावं शतास्रवां शतछिद्रां, अवगाहयेत् , तद् नूनं गौतम! सा नोः तैः आस्रवद्वारैः आपूर्यमाणी आपूर्यमाणी, पूर्णा, पूर्णप्रमाणा, व्यपलोट्यन्ती, विकसन्ती समभर घटतया तिष्ठति ?

हन्त, तिष्ठंति।

तत् तेनार्थेन गौतम? अस्ति जीवाश्च यावत्–तिष्ठन्ति।

मूलार्थ–

प्रश्न–भगवन्! जीव और पुद्गल परस्पर संबद्ध हैं? परस्पर खूब संबद्ध है? परस्पर में एक दूसरे में मिले हुए हैं? परस्पर स्नेह–चिकनाई से प्रतिबद्ध हैं? और परस्पर घट्टित होकर रहे हुए हैं।

उत्तर–हे गौतम–हां है।

प्रश्न–भगवन्! ऐसा कहने का क्या कारण है? कि यावत्–जीव और पुद्गल इस प्रकार रहे हुए हैं?

उत्तर–हे गौतम! जैसे कोई एक तालाब है वह पानी से भरा हुआ है, पानी से छलाछल भरा हुआ है, पानी से छलक रहा है, पानी से बढ़ रहा है और वह पानी भरे घड़े के समान है। उस तालाब में कोई पुरुष बड़ी, सौ छोटे छेदों वाली, नाव को डाल दे। हे गौतम! वह नाव छेदों से भरती–खूब भरती हुई, छल की हुई, पानी से बढ़ जायगी? और वह भरे घड़े के समान होगी?

'हां होगी।'

इसलिए हे गौतम! मैं कहता हूं यावत् जीव पुद्गल परस्पर घट्टित होकर रहे हुए हैं।

व्याख्यान

गौतम स्वामी पूछते हैं–प्रभो! जीव शिव–स्वरूप है, परमात्मा है और पुद्गल जड़ एवं मूर्त्त हैं। तो भी क्या जीव और पुद्गल परस्पर संवद्ध हैं? बहुत संबद्ध है? एक दूसरे से मिले हुए हैं? चिकनाई के कारण परस्पर प्रतिवद्ध हैं? क्या वे परस्पर मिले हुए हैं?

जैसे काजल की कोठरी में जाने पर काजल की रेख लगती ही है, उसी प्रकार जहां जीव हैं। वहां पुद्गल भी हैं और जहां पुद्गल हैं वहां जीव भी हैं। जीव और पुद्गलों की एकत्र स्थिति होने से दोनों का एकत्र अवगाह होता है। अवगाह होने से वे स्पृष्ट होते हैं और स्पृष्ट होने से बद्ध होते हैं।

प्रश्न होता है–अगर एकत्र अवगाह होने से जीव और पुद्गल परस्पर स्पृष्ट और बद्ध होते हैं तो क्या सिद्धों के क्षेत्र में पुद्गल नहीं होते? अगर होते हैं तो सिद्धों के साथ पुद्गलों का बंध क्यों नहीं होता? इसके उत्तर में शास्त्रकार कहते हैं कि–संसार के जीवों में विकार है, अतएव उनके साथ पुद्गलों का बंध होता है, सिद्ध जीवों में विकार न होने के कारण उनके साथ पुद्गलों का बंध नहीं होता।

चिकास कैसी है? यह स्पष्ट करने के लिए टीकाकार कहते हैं:-

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा।
गात्रं रागद्वेष क्लिन्नस्य, कर्मबन्धो भवत्येवम् ।।

अर्थात्-जैसे कोई पुरुष शरीर में तेल चुपड़ कर आंधी में बैठ जाय तो उसका शरीर रेत से भर जाता है, इसी प्रकार जो जीव राग-द्वेष से भरा है, उसे कर्मबंध होता है।

जैसे तेल लगे शरीर पर रज लगकर वह मैलरूप हो जाती है, इसी प्रकार जीव में राग-द्वेष रूपी चिकनाई है और कर्मरज सर्वत्र भरी हुई है ही; इसी से वह जीव के साथ चिपक जाती है। सिद्धों के राग-द्वेष की चिकनाई नहीं है, अतएव कर्मरज उन्हें नही लगती।

इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा और परमात्मा में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। अन्तर सिर्फ राग-द्वेष की स्निग्धता का है। यही स्निग्धता कर्मबंध का कारण है। जब विशिष्ट साधना से आत्मा की राग-द्वेष-स्निग्धता मिट जाती है, तब आत्मा ही परमात्मा बन जाता है।

राग-द्वेष के मिटाने का उपाय क्या है? उपाय कोई कठिन नहीं है। संसारी जीव किसी वस्तु को पाकर हर्ष से उन्मत्त हो जाता है, किसी को पाकर विषाद के गहरे सागर में गोते खाने लगता है, किसी बात से अपमान और किसी से सम्मान की कल्पना करता है। अगर, यह स्वभाव छूट जाय और समभाव में स्थित रहने का अभ्यास किया जाय तो राग-द्वेष का अन्त आ सकता है।

गौतम स्वामी ने यह प्रश्न इसलिए किया है कि कई दर्शनों वाले यह मानते हैं कि कर्म, जीव के साथ बंधे हुए नहीं है, ऊपर ऊपर से लगे हैं, एकमेक नहीं हो रहे हैं। उनका यह भी कहना है कि अगर जीव और कर्म एकमेक हो जाएं तो जीव का जीवत्व ही मिट जाए। इस मत पर प्रकाश डलवाने के निमित्त ही गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है कि-भगवन्! जीव और कर्म ऊपर-ऊपर से ही मिले हैं या अन्दर से भी मिले हैं?

इसके अतिरिक्त गौतम स्वामी के प्रश्न का एक उद्देश्य यह भी है कि जीव अमूर्त और चेतनामय हैं तथा कर्म मूर्त्त एवं जड़ है। इन दो विरोधी स्वभावों के होते हुए भी दोनों किस प्रकार एक-दूसरे से संबद्ध होते हैं?

भगवान् ने जो उत्तर दिया है, उसका आशय यह है कि जीव और कर्म ऊपर-ऊपर से नहीं मिले हैं, किन्तु दूध और पानी की तरह मिले हुए हैं अथवा जैसे दूध में घी सर्वत्र है, उसी प्रकार जीव में कर्म भी सर्वत्र लगे हुए

हैं। यह बात दूसरी है कि मर्मस्थान पर चोट पहुंचने के कारण जीव, शरीर का त्याग कर दें, मगर इसका अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि जीव सिर्फ मर्मस्थान में ही है। वास्तव में सम्पूर्ण शरीर में आत्मा रहता है।

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं—भगवन्! इस प्रकार प्ररूपण करने का क्या कारण है?

तर्क करने का सभी को अधिकार है। तर्क करने से वस्तुतत्व स्पष्ट हो जाता है। मगर तर्क में भी विवेक और श्रद्धा का सम्मिश्रण होना आवश्यक है। शास्त्र में स्थान-स्थान पर कहा है कि अमुक व्यक्ति ने प्रश्न किया, तर्क किया और फिर श्रद्धा की। जब तक तर्क न किया जाय, गाढ़ी श्रद्धा नहीं होती, मगर एकान्त श्रद्धाहीन का तर्क उसे किसी निश्चय पर नहीं पहुंचने देता।

गौतम स्वामी के तर्क के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं— हे गौतम! एक तालाब पानी से लबालब भरा है। उसमें पानी पर पानी भरा है। उस तालाब में किसी पुरुष ने नौका डाली। नौका चली। गौतम, यह बतलाओ कि अगर नौका में सैकड़ों छोटे बड़े छिद्र हों तो उसमें पानी भरेगा या नहीं?

गौतम बोले—भरेगा।

भगवान् ने कहा—वह नौका पानी से पूरी भर गई और डूबकर तालाब के तल भाग में बैठ गई। अब नौका कहां है और पानी कहां? यह भिन्नता देखने में आ सकती है?

'नहीं।'

क्योंकि वह नौका और पानी आपस में मिल गये हैं। जहां जल है वहां नौका है, जहां नौका है वहां जल है।

इसी प्रकार संसार रूपी ह्रद में पुद्‌गल रूपी पानी भरा है। यह पुद्‌गल रूपी पानी सम्पूर्ण लोक में सर्वत्र भरा हुआ है। संसार रूपी तालाब के पुद्‌गल रूपी जल में, जीव रूपी नौका है। नौका का धर्म पानी पर तैरना है, परन्तु जिस नौका में छेद है, वह उदाहरण में कही हुई नौका के समान पानी में डूब जाती है। इस जीव रूपी नौका में छिद्र हैं। उन छिद्रों के द्वारा पुद्‌गल रूपी पानी आये बिना कैसे रुक सकता है? जीव में मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ही आस्रव हैं। इन्हीं से कर्म-पुद्‌गल आते रहते हैं। जैसे मकान में दरवाजा, तालाब में नाला और नौका में छिद्र होते हैं, उसी प्रकार आस्रव जीव में पुद्‌गल आने के छिद्र हैं। उन्हें समुच्चय रूप से आस्रव कहते हैं।

सिद्ध जीवों को कर्म–बंध न होने का यही कारण है कि उन में कर्म आने के छिद्र नहीं हैं। सिद्धों के शरीर ही नहीं है। शरीर कर्म से होता है और सिद्धों में कर्म नहीं है, अतएव शरीर भी नहीं है।

प्रश्न होता है–संसारी जीवों में आस्रव रूपी छिद्र होने के कारण कर्मो का निरन्तर आगमन होता रहता है। ऐसी स्थिति मे किसी भी जीव को मुक्ति कैसे प्राप्त हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि–छिद्रों को अगर बंद कर दिया जाय तो कर्म–जल का आना रूक जाता है। नाव में छेद न होगा तो पानी चाहे जितना ऊंचा हो, नाव में नहीं घुसेगा। नाव पानी के ऊपर ही तैरती रहेगी! इसी प्रकार आस्रव रूपी छिद्र बंद कर देने से जीव में कर्मो का आगमन रुक जाता है। आस्रव–छिद्र रोकने का उपाय यह है कि हिंसा को अहिंसा से, झूठ को सत्य से, चोरी को अस्तेय से, मैथुन को ब्रह्मचर्य से, परिग्रह को आकिंचिन्य से, क्रोध को क्षमा से, मान को नम्रता से, माया को सरलता से, और लोभ को संतोष से रोको। इसी प्रकार कर्म–जल आने के समस्त मार्गों को रोक दो। अठारह पापों को रोक देने पर और जीव में पहले का जो कर्म रूपी जल घुसा हुआ है, उसे बाहर निकाल देने पर आत्मा निरंजन, निराकार, निर्लेप हो जायगा। अनुभव करके देखो तो इस कथन की सत्यता में तनिक भी संदेह का अवकाश नहीं रहेगा।

ज्ञानी कहते हैं, अगर इतना तुमसे नहीं हो सकता हो तो प्राथमिक दशा में एक बात का सहारा ले लो। वह यह हैः–

तो सुमरन विन या कलियुग में, अवर नहीं आधारो
मैं बारी जाऊं तो सुमरन पर, दिन दिन प्रेम वधारो।।पद्म।।

सब का निचोड़ यह है कि और कुछ भी न बन पड़े तो परमात्मा का स्मरण करते रहो। स्मरण ऐसी सरल रीति से भी हो सकता है कि न माला जपनी पड़े न मुंह ही हिलाना पड़े।

"श्वास उसास विलास भजन को, दढ़ विश्वास पकड़ रे !"

ऐसा होने पर संसार के अन्यान्य कामों से शरीर को फुर्सत न मिली तो भी काम बन जायगा। संसार के कामों के साथ भगवद् भजन भी चलता रहेगा। इस प्रकार से भजन करते रहोगे तो क्रोध, मोह आदि सब दब जाएंगे।

रागादि को जीतने का दूसरा प्राथमिक उपाय यह है कि द्वेष का बदला द्वेष से नहीं देना चाहिए। राजनैतिक में भी द्वेष का बदला प्रेम से देने

का परिणाम अच्छा हुआ है। इसके कई उदाहरण मौजूद हैं। अपराध का बदला हिंसा के रूप में देने का परिणाम यह होता है कि हिंसा करते–करते निरपराधी की हिंसा होने लगती है। शिकार खेलने वाले कहते हैं—अगर हम शिकार नहीं खेलेंगे तो हम में वीरता नहीं रहेगी। लेकिन ऐसी वीरता वीरता नहीं, क्रूरता है। इसलिए आस्रव की चाल छोड़ कर संवर की चाल चलो। अपराध का बदला प्रेम से दो ताकि स्व–पर का कल्याण हो।

स्नेहकाय

मूलपाठ–

प्रश्न–अत्थि णं भंते! सया समियं सुहुमे सिणेहकाये पवडइ!

उत्तर–हंता, अत्थि।

प्रश्न–से भंते! किं उड्ढं पवडइ, अहे पवडइ, तिरिए पवडइ?

उत्तर–गोयमा! उड्ढे वि पवडइ, अहे वि पवडइ, तिरिए वि पवडइ?

प्रश्न–जहा से बायरे आउयाए अन्नमण्णसमाउत्ते चिरं पि, दीहकालं चिट्ठइ तहा णं से वि?

उत्तर–णो इणट्ठे? से णं खिप्पामेव विद्धंसं आगच्छइ।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–अस्ति भगवन्! सदा समित सूक्ष्मः स्नेकाय प्रपतति।

उत्तर–हन्त, अस्ति।

प्रश्न–तद् भगवन्! किम् ऊर्ध्वं प्रपतति, अधः प्रपतति, तिर्यक् प्रपतति।

उत्तर–गौतम! ऊर्ध्वमपि प्रपतति, अधोऽपि प्रपतति, तिर्यगपि प्रपतति।

प्रश्न–यथा स बादरोऽप्कायः अन्योन्यसमायुक्तश्चिरम् अपि, दीर्धकालं तिष्ठति तथा सोऽपि?

उत्तर–नायमर्थः समर्थः तत् क्षिप्रमेव विध्वसमागच्छति।

तदेवं भगवन्! इति।

मूलार्थ–

प्रश्न– भगवन्! सूक्ष्म स्नेहकाय (एक प्रकार का जल) परिमित पड़ता है?

उत्तर–हे गौतम! हां पड़ता है।

प्रश्न–भगवन्! वह ऊपर पड़ता है, नीचे पड़ता है, या तिरछा पड़ता है!

उत्तर–हे गौतम! वह ऊपर भी पड़ता है, नीचे भी पड़ता है और तिरछा भी पड़ता है।

प्रश्न–भगवन! वह सूक्ष्म जलकाय स्थूल जलकाय की भांति परस्पर समायुक्त होकर, बहुत समय तक रहता है?

उत्तर–हे गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है। वह सूक्ष्म जलकाय शीघ्र ही नष्ट हो जाता है।

भगवन्! यह इसी प्रकार है, ऐसा कह कर गौतम स्वामी विचरते हैं।

व्याख्यान

श्री गौतम स्वामी ने प्रश्न किया – भगवन्! क्या यह सत्य है कि सूक्ष्म स्नेहकाय–अप्काय–निरन्तर पड़ता रहता है? इस के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम! हां, सदा पड़ता रहता है। यह प्रमाणयुक्त ही पड़ता है, बादर अप्काय की तरह अपरिमित नहीं पड़ता। जैसे बादर अप्काय कहीं पड़ता है, कहीं नहीं पड़ता, इसी प्रकार सूक्ष्म स्नेहकाय भी कहीं पड़ता है, कहीं नहीं पड़ता– ऐसा नहीं। सूक्ष्म स्नेहकाय सदा पड़ता रहता है इसके लिए ऋतु, काल, दिन, रात आदि की मर्यादा नहीं है। यह दिन में भी गिरता है और रात में भी गिरता है।

पूर्वाचार्यों का कथन कि सूक्ष्म स्नेहकाय दिन के पहले पहर में और रात्रि के पहले पहर में गिरता है। जाड़े का काल स्निग्धकाल है और ग्रीष्मकाल रूक्षकाल है। अतः सूक्ष्म स्नेहकाय (अप्काय) जाड़े और वर्षा के दिनों में पहर भर तथा गर्मी के दिनों में आधा पहर पड़ता है। इस सूक्ष्म स्नेहकाय से बचाने के लिए लेप लगे हुए पात्र आदि को बाहर नहीं रखना चाहिए। सामायिक में बैठे हुए लोग इसी कारण, खुली जगह में, रात्रि को उघाड़े सिर नहीं रहते। सूक्ष्म स्नेहकाय के संसर्ग से बचने के लिए ही साधुओं को रात्रि के समय ऊपर से खुली जगह में रहने का निषेध किया गया है। दिन को सूर्य के ताप से पुद्गल बीच में ही नष्ट हो जाते हैं, इसे रोक नहीं सकते हैं। साधु को आश्रय में रहना चाहिए। आश्रय चाहे वृक्ष का ही क्यों न हो?

यहां ऊंचे लोक का अभिप्राय वैताढ्यपर्वत आदि है, अधोलोक का अर्थ नीचे के ग्राम आदि और तिर्छे लोक का अर्थ तो तिर्छा लोक है ही।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! जिस प्रकार बादर अप्काय बूंद–बूंद संग्रह होकर तालाब आदि में भरता है, क्या उसी प्रकार सूक्ष्म स्नेहकाय भी संग्रह होता है! इस का उत्तर भगवान् ने दिया–हे गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है। अर्थात् ऐसी बात नहीं है। गौतम स्वामी पूछते हैं–क्यों भगवन्! ऐसा क्यों नहीं होता? भगवन् फर्माते हैं–गौतम, सूक्ष्म स्नेहकाय ज्यों ही पड़ता है कि उसी समय सूख जाता है। शीघ्र ही उसका विध्वंस हो जाता है।

गौतम स्वामी ने 'सेवं भंते! सेवं भते!' कहा। अर्थात् हे प्रभो! आपका कथन सत्य है तथ्य है।

प्रथम शतक छट्ठा उद्देशक पूर्ण

नरक के जीवों के प्रश्न

प्रथम शतक

सप्तम उद्देशक

विषय–प्रवेश

भगवती सूत्र के प्रथम शतक का छठा उद्देशक समाप्त हुआ। अब सातवां आरंभ होता है। छठे उद्देशक की समाप्ति और सातवें के प्रारंभ का पारस्परिक संबंध बतलाते हुए टीकाकार कहते हैं कि छठे उद्देशक के अन्त में सूक्ष्म अप्काय का शीघ्र नष्ट होना कहा है। नाश का उल्टा उत्पाद है। अतः सातवें उद्देशक में उत्पाद की बात कहते हैं अथवा छठे उद्देशक में लोकस्थिति का निरूपण किया था और इस सातवें उद्देशक में भी वही बात बतलाई जाती है अथवा शतक के प्रारम्भ में जो संग्रह गाथा कही थी, उसमें सातवें उद्देशक में नरक का वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई थी, अतः यहां नरक का वर्णन किया जाता है।

मूलपाठ–

प्रश्न–नेरइए णं भंते! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देशेणं–देसं उववज्जइ, देसेणं सव्वं उववज्जइ, सव्वेणं–देशं उववज्जइ सव्वेणं सव्वं उववज्जइ?

उत्तर–गोयमा! नो देशेणं देसं उववज्जइ, नो देसेणं सव्वं उववज्जइ, नो सव्वेणं देसं उववज्जइ, सव्वेणं सव्वं उववज्जइ; जहा नेरइए, एवं जाव–वेमाणिए।

प्रश्न–नेरइया णं भंते! नेरइएसु उववज्जमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ, देसेणं सव्वं आहारेइ, सव्वेण देसं आहारेइ, सव्वेणं सव्वं आहारेइ?

उत्तर—गोयमा! नो देसेणं देसं आहारेइ, नो देसेणं सव्वं आहारेइ, सव्वेणं वा देसं आहारेइ, सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ। एवं जाव वेमाणिए

प्रश्न—नेरइए णं भंते! नेरइएहिंतो उववट्टमाणे किं देसेणं देसं उववट्टइ?

उत्तर—जहा उववज्जमाणे तहेव उववट्टमाणे वि दंडगो भाणियव्वो।

प्रश्न—नेरइए णं भंते! नेरइएहिंतो उववट्टमाणे किं देसेणं देसं आहारेइ?

उत्तर—तहेव जाव—सव्वेणं वा देसं आहारेइ, सव्वेणं वा सव्वं आहारेइ, एवं जाव वेमाणिए!

संस्कृत—छाया

प्रश्न—नैरयिको भगवन्! नेरयिकेषु उपपद्यमानः किं देशेन देशम् उपपद्यते? देशेन सर्वम् उपपद्यते? सर्वेण देशम् उपपद्यते? सर्वेण सर्वम् उपपद्यते?

उत्तर—गौतम! नो देशेन देशमुपपद्यते, नो देशेन सर्वमुपपद्यते, नो सर्वेण देशमुपपद्यते, सर्वेण सर्वमुपपद्यते। यथा नैरयिकः एव यावद् वैमानिकः।

प्रश्न—नैरयिकः भगवन! नैरयिकेषु उपपद्यमानाः किं देशेन देशे माहारयन्ति, देशेन सर्वमाहारयन्ति, सर्वेन देशमाहारयन्ति, सर्वेन सर्वमाहारयन्ति?

उत्तर—गौतम! नो देशेन देशमाहारयन्ति, नो देशेन सर्वमाहारयन्ति, सर्वेण वा देशमाहारयन्ति सर्वेण वा सर्वमाहारयन्ति! एवं यावद् वैमानिकाः।

प्रश्न—नैरयिको भगवन्! नैरयिकभ्य उद्वर्त्तमानः किं देशेन देशमुद्वर्तते?

उत्तर—यथा उपपद्यमानस्तथैव उद्वर्तमानेऽपि दण्डको भणितव्यः।

प्रश्न—नैरयिको भगवन्! नैरयिकेभ्य उद्वर्त्तमानः किं देशेन देशमाहारयंति

उत्तर—तथैव यावत्—सर्वेण वा देशमाहारयंति, सर्वेण वा सर्वमाहारयंति। एवं यावत् वैमानिकः।

मूलार्थ—

प्रश्न—भगवन्! नारकियों में उत्पन्न होता हुआ नारकी जीव क्या एक भाग से, एक भाग को आश्रित कर के उत्पन्न होता है? एक भाग से सर्व भाग को आश्रित कर के उत्पन्न होता है? सर्व भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? अथवा सब भागों से सब भागों का आश्रय करके उत्पन्न होता है?

उत्तर—गौतम! नारकी जीव एक भाग से एक भाग को आश्रित कर के उत्पन्न नहीं होता, एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नहीं

होता और सर्व भाग से एक भाग को आश्रित करके भी उत्पन्न नहीं होता; किन्तु सर्व भागों से सर्व भागों का आश्रय करके उत्पन्न होता है। नारकी के समान वैमानिकों तक इसी प्रकार समझना चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! नारकियों में उत्पन्न होता हुआ नारकी जीव क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है? एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके आहार करता है? सर्व भागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है? अथवा सर्व भागों से सर्व भागों को आश्रित करके आहार करता है?

उत्तर–हे गौतम! वह एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार नहीं करता। एक भाग से सर्व भाग को आश्रित करके आहार नहीं करता। किन्तु सर्व भागों से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है या सर्व भागों से सर्व भागों को आश्रित करके आहार करता है। इसी प्रकार वैमानिकों तक जानना।

प्रश्न–भगवन् ! नारकियों में से उद्वर्तमान–निकलता हुआ नारकी क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके निकलता है? इत्यादि पूर्ववत् प्रश्न करना चाहिए।

उत्तर–गौतम! जैसे उत्पन्न होते हुए के विषय में कहा, वैसे ही उद्वर्तमान के विषय में दण्डक कहना चाहिए।

प्रश्न–भगवन्! नैरयिकों से उद्वर्तमान नैरयिक क्या एक भाग से एक भाग को आश्रित करके आहार करता है? इत्यादि प्रश्न करना चाहिए।

उत्तर–हे गौतम! पहले की ही तरह जानना। यावत् सर्व भागों से एक देश को आश्रित करके आहार करता है या सर्व भागों से सर्व भागों को आश्रित करके आहार करता है। इसी प्रकार यावत्–वैमानिकों तक जानना।

व्याख्यान

इस प्रश्नोत्तर में सबसे पहले यह प्रश्न उपस्थित होता है कि नरक के जीव का नरक में उत्पन्न होना कैसे कहा गया है? यह शास्त्रप्रसिद्ध बात हैं कि नारकी जीव मरकर नारकी नहीं होता। मनुष्य और तिर्यंच ही मरकर नरक में उत्पन्न हो सकते हैं। फिर इस प्रश्नोत्तर में यह कथन क्यों किया गया है?

इस प्रश्न का समाधान यह है कि चलमाणे चलिए सिद्धांत के अनुसार जो जीव नरक में उत्पन्न होने वाला है, उसे नरक का जीव ही कहते हैं । क्योंकि वह मनुष्य या तिर्यंच योनि का आयुष्य समाप्त कर चुका है और उसके नरकायु का उदय हो चुका है। नरकायु का उदय होते ही उस जीव को नारकी कहा जा सकता है। अगर ऐसा न माना जाय तो उसे किस गति का जीव कहा जायगा? मनुष्य या तिर्यच की आयु समाप्त हो गई है। अतः मनुष्य या तिर्यच तो कह नहीं सकते। और नरक में नहीं पहुंचने के कारण नारकी भी न कहा जाय तो फिर उसे किस गति में कहा जाय? वह नरक के मार्ग में है, नरकायु का उदय उसके हो चुका है। इसलिए नरक में उत्पन्न न होने पर भी उसे नरक का जीव ही कहना उचित है।

गौतम स्वामी के प्रश्न में बड़ा रहस्य है। संसार में अनेक ऐसी बातें हैं जिनसे अपने तत्त्व की गाड़ी बचाते हुए निकाल ले जाना बड़ी कठिनाई का काम है। गौतम स्वामी के प्रश्न में तत्त्व की गाड़ी का बचाव किया गया है। किसी को टक्कर भी न लगे और अपनी गाड़ी भी निकल जाए, ऐसा करना बड़ी सावधानी का काम है, यही सावधानी इस प्रश्न में रक्खी गई है। गौतम स्वामी ने अपने प्रश्न में अन्यान्य वादियों के वाद को बतलाते हुए भगवान् से प्रश्न किया है कि प्रभो! कोई कुछ मानता है, लेकिन आपका सिद्धांत क्या है, सो कहिए। भगवान् ने उत्तर में फर्माया–हे गौतम ! मैं चौथा विकल्प मानता हूं।

शास्त्रकारों ने संसार–प्रचलित असत् वादों से बचाकर सत्य सिद्धांत को प्रतिपादत किया है। उन्हें किसी को धक्का लगना भी अभीष्ट नहीं था और न सत्य सिद्धांत को दबाना ही अभीष्ट था। उन्होंने प्रत्येक बात सीधी–सादी युक्तियों और उपमाओं से सिद्ध करके दिखलाई है। उनकी सादी और बुद्धि–गम्य युक्तियां देखकर उन पर विश्वास करना चाहिए। कदाचित् कोई बात समझ में न आवे तो भी यह विचारना चाहिए कि मेरी समझ में न आने से ही कोई बात मिथ्या नहीं हो सकती। मेरी समझ इतनी परिपूर्ण नहीं है कि उसे सत्य–असत्य की कसौटी बनाया जा सके। वीतराग महापुरुषों को

राग–द्वेष नहीं फैलाना था, फिर वे असत्य बात क्यों कहते? जिनका राग–द्वेष नष्ट हो गया है और जो ज्ञानी हैं, उनकी बात पर विश्वास करना ही विवेकशीलता एवं बुद्धिमत्ता है।

आप कह सकते हैं, नारकी जीव नरक में चाहे सर्व से सर्व आश्रित करके उत्पन्न हो या देश से देश का आश्रय करके उत्पन्न हो, इससे हमें क्या प्रयोजन है? इस संबंध में ज्ञानियों का कथन यह है कि जिसकी बुद्धि संकीर्ण है, वे भले ही छोटी बातों से संतोष कर लें, परन्तु समदर्शी तो सभी पर विचार करते हैं। साधारण लोगों को स्वर्ग की बात अच्छी लगती है और नरक की बात अच्छी नहीं लगती, लेकिन ज्ञानी नारकी जीवों से लेकर वैमानिकों तक को समभाव की दृष्टि से देखते हैं। उन्हें किसी पर विषमभाव नहीं है।

एक भोजन थाली में होता है–जो रुचिकर और स्वादु प्रतीत होता है, और दूसरा भोजन पेट में होता है, जो पच रहा है। पेट में जो भोजन पच रहा है, उसकी स्थिति कैसी होती है? यह बात वमन (कै) देखकर आपने जानी होगी। यानी उसे देख कर घृणा व अरुचि पैदा होती है या नहीं? अगर आपसे पूछा जाय कि थाली के भोजन में क्या उपयोगिता है? और थाली का भोजन रुचिकर और पेट का भोजन घृणाजनक क्यों है? आप इस प्रश्न का क्या उत्तर देंगे? अगर थाली का भोजन भूख न मिटावे और पचे नहीं तो कौन उसे अच्छा कहेगा? इससे प्रकट है कि भोजन की अच्छाई अपनी पाचनशक्ति पर निर्भर है। अगर आप यह सोचने लगें कि पेट में गया हुआ भोजन खराब हो जाता है और इसलिए उसे पेट में डालने से क्या लाभ है? ऐसा सोचकर भोजन न करें तो शक्ति कहां से आयेगी ? अगर थाली का भोजन पेट में पहुंच कर भेली के जैसा बना रहे–बदले नहीं तो भयंकर उत्पात मच जाएगा।

कर्म के प्रभाव से ही जीव को नरक में जाना पड़ता है। अगर कर्म का बंध न हुआ होता तो जीव नरक में न जाता। सोना परतंत्र होने पर ही ठोका-पीटा जाता है। गढ़े हुए सोने को सभी पकड़ना चाहते हैं। कोई कहता है-यह कनफूल है, कोई कहता है-यह मेरा कड़ा है, आदि असल सोना गढ़ा न जाता तो वह अपने असली रूप में सोना ही बना रहता। आज अनेक घरों में गढ़े हुए सोने के लिए ही प्रायः झगड़ा होता है। मतलब यह है कि अगर आत्मा को कर्म रूप उपाधि नहीं लगती तो वह अपने असली स्वरूप में रहता। जब कर्म रूप उपाधि लगती है तब उसके अनेक आकार बन जाते हैं। इन अलग-अलग घाटों के कारण जीवों का चौबीस दंडकों के रूप में विभाग किया गया है।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं-भगवन्! नारकी जीव आहार करते हैं या नहीं, अगर करते हैं तो किस प्रकार करते हैं? भगवन् उत्तर देते हैं-गौतम! सर्वभाग से एक देशाश्रित आहार करते हैं और सर्वभाग से सर्वभागाश्रित आहार करते हैं। यही बात वैमानिकों तक समझना चाहिए।

गौतम स्वामी के यह पूछने पर कि नारकी आहार करते हैं या नहीं; भगवान् ने फरमाया है कि आहार के बिना शरीर नहीं टिक सकता। आहार अन्न है और वह प्राण के लिए आवश्यक है। जहां प्राण है वहां आहार है और जहां आहार है वहीं प्राण है। चाहे दिखने योग्य हो या सूक्ष्म हो, मुख से खाया गया हो या रोम से अथवा श्वास द्वारा ग्रहण किया गया हो; किन्तु आहार के बिना शरीर नहीं टिक सकता।

भगवान् ने फरमाया है-सर्व से देश-आश्रित और सर्व से सर्व-आश्रित आहार किया जाता है। यहां यह शंका की जा सकती है कि देश से सर्वाश्रित आहार करते तो ठीक था, क्योंकि मुख रूप एक देश से थाली में पड़ी हुई सब रोटियां खा ली जाती है; किन्तु सर्व से देश-आश्रित आहार कहा, सो यह कैसे संभव है? यह शंका निर्मूल समझनी चाहिए, क्योंकि सर्व से देश-आश्रित आहार का शास्त्रीय विधान ही समीचीन है। हम लोग जो कुछ भी आहार रूप में ग्रहण करते हैं, उसमें से कुछ तो हमारा आहार बनता है और कुछ मल-मूत्र आदि के रूप में बाहर निकल जाता है। जो निकल जाता है, वह वास्तव में आहार नहीं है। साधारणतया कहा जाता है कि भक्षण किये हुए पदार्थों में से दो भाग निकल जाते हैं और एक भाग उपयोगी होता है। आधुनिक विज्ञान से यह प्रतीत हुआ है कि मनुष्य वास्तविक आवश्यकता-भूख से कई गुना अधिक भोजन करता है। लोगों को ज्ञान नहीं है कि उनके शरीर को दर असल

कितने आहार की आवश्यकता है? अतएव जब तक पेट न फूल जाय, लोग अन्धाधुन्ध पेट भरे जाते हैं। लोगों की यह आदत ही पड़ गई है। अगर, कोई किसी दिन अपने दैनिक भोजन से कुछ न्यून खाता है तो उसे यह अंदेशा हो जाता है कि आज मैं भूखा हूं—मैंने पेटभर भोजन नहीं किया। आजकल के श्रीमान् लोग नाना प्रकार के स्वादिष्ट मसाले, आचार और चटनी केवल इसीलिए खाते हैं कि भूख न लगने पर भी पेट ठूंस—ठूंस कर भर लिया जाय। ऐसा करने से उन्हें चाहे जिह्वासुख मिलता हो या अपनी श्रीमंताई का अनुभव करके घमंड होता हो, मगर शरीर को बहुत हानि पहुंचती है। संसार में एक ओर गरीब लोग भूख से तड़फ—तडफ कर मर रहे हैं, दूसरी ओर बिना भूख से जबर्दस्ती पेट भरा जाता है और ज्यादा खाने के लिए नाना विधियां काम में लाई जाती हैं। इसी कारण संसार में अंधेर मच रहा है।

शास्त्र में कहा है कि खाये हुए आहार में से थोड़े आहार का शरीर के लिए उपयोग होता है, शेष खलभाग के रूप में बाहर निकल जाता है। शास्त्रों में आध्यात्मिकता के साथ ही साथ शरीर—विज्ञान भी कूट—कूट कर भरा है। एक अनुभवी ने बतलाया है कि दस तोला अन्न अगर खूब चबा—चबा कर खाया जाय तो मनुष्य बखूबी जीवित रह सकता है। मगर यहां तो हाल ही और है। जो जितना खा पाता है, वह उतना ही अधिक प्रसन्न होता है। फिर अगर कहीं पराये घर का भोजन हुआ, तब तो कहना ही क्या है? फिर तो यह कहावत चरितार्थ होती है:—

परान्नं प्राप्य दुर्बुद्धे, मा शरीरे दयां कुरु।
परान्नं दुर्लभं लोके, शरीराणि पुनः पुनः।।

अर्थात्—अरे मूढ़ ! पराया अन्न पाकर शरीर पर दया मत कर। शरीर तो बार बार मिलते ही रहते हैं, मगर पराया अन्न मिलना दुर्लभ है।

सर्व से देश का आहार करते हैं, इस कथन में बहुत रहस्य छिपा है। जैन सिद्धांत उसे आहार नहीं कहता जो पेट में ठूंस लिया जाता है। वरन् आहार वह सारभूत वस्तु है जो खल के अतिरिक्त होती है और जिससे शरीर

हैं, उन भागों की शक्ति बढ़ती जाती है। होमियोपैथिक औषधों से यह बात सहज समझी जा सकती है।

हमारे सूत्रों की फिलॉसफी थोकड़ों में ही बंद रह गई। थोकड़े रट करके भी हम अपने प्रमाद के कारण उसका व्यवहार नहीं कर सके। यह बारीक ज्ञान यथोचित रूप से प्रकाश में भी नहीं लाया गया है, जबकि बाइबिल जैसे ग्रंथों का नित्य नये रूप में प्रचार हो रहा है। जिस भगवती सूत्र का यह ज्ञान है, उसका भाष्य जर्मनी में बना उससे वहां के विद्वानों ने बहुत सी बातें जानीं और बहुतों को व्यवहार में लिया। इसके विरुद्ध हमारे यहां के लोग उपेक्षा भाव धारण किये रहते हैं। जो खोजता है, वह पाकर उन्नत बनता है, नहीं खोजने वाले के घर की चीज भी उसे लाभदायक नहीं होती। अस्तु।

ऊपर कहे हुए 'सव्वेणं वा देसं' पदों का आशय संग्रह के आहार से है। शरीर के अंगों में परस्पर संबंध है। कान सुनी हुई बातचीत फौरन समझ जाता है। वास्तव में, शरीर के भीतर बैठा हुआ आत्मा, इन्द्रिय रूपी खिड़कियों से सब काम करता है और उन्हीं के संग्रह से वह संग्राहक कहलाता है। आहार भी यही करता है। एक भी प्रदेश खाली रखकर आहार नहीं होता। इसीलिए कहा गया है कि सर्व से देश आश्रित आहार करता है।

शास्त्र में दूसरी बात यह कही गई है कि जीव सर्व से सर्वाश्रित आहार करता है। अब इस कथन पर विचार करना चाहिए। सर्वप्रथम यह शंका उपस्थित होती है कि खाने पर मल–मूत्र तो होता ही है, फिर सर्व–आहार क्यों कहा है? पर शंका ठीक नहीं है। गर्भ का बालक, नाल से आहार करता है जितने पुद्‌गलों का आहार करता है, वे सभी पुद्‌गल धातुएं बन जाती हैं। इस दृष्टि से 'सव्वेणं वा सव्वं' यह कथन ठीक बैठता है।

शास्त्रों में जहां सूक्ष्म, सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम विषयों का विशद विवेचन किया गया है,वहां स्थूल विषयों को भी नहीं छोड़ा गया है। उसमें आध्यात्मिक वर्णन के साथ नरक का वर्णन है। इसलिए शास्त्रों का वर्णन सर्वांगपूर्ण है। मगर हमारी बुद्धि बहुत संकीर्ण है। हम लोग नरक का वर्णन तो पढ़ते हैं, किन्तु मनुष्यों से घृणा करते हैं। इसी अज्ञान के कारण लोग प्रार्थना से दूर रहते हैं। प्रार्थना में मोह को त्यागने की बात कही गई है। जहां मोह है, वहां स्व–पर का भेदभाव है और जहां स्वपर का भेदभाव है वहां पक्षपात के कारण राग–द्वेष का होना अनिवार्य है। लेकिन जब तक यह भेदभाव निकल नहीं जाता, तब तक समस्त ज्ञान अज्ञान के तुल्य है। गीता ने कहा है–

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः।।

जो लोग समझदार अर्थात् पंडित हैं, वे विद्या एवं विनय से सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी, चाण्डाल और कुत्ते में समदृष्टि वाले होते हैं।

यह ठीक है कि सिर पैर नहीं हो सकता और पैर सिर नहीं हो सकता। मगर पैर नीचे हैं, इसलिए उनसे घृणा करना बुद्धिमानी नहीं है। कहावत –पानी में रहना और मगर से बैर! भंगी–महत्तर के बिना क्षण भर काम नहीं चलता और उसीसे घृणा की जाय, यह कैसी विपरीत बात है? स्वदेश के मनुष्यों एवं उपाधियों से तो घृणा की जाय और विदेशी मनुष्यों और उपाधियों से प्रेम किया जाय, यह कौनसा ज्ञान है? लोग जब अपने आपे से गिर गये तो संसार–व्यवहार में भी अगर गिर जाएं तो आश्चर्य की कौन–सी बात है ? दूसरे लोग तुम्हारा उपहास करते हैं। वे सोचते हैं – देखो, यह स्वदेशी मनुष्यों से घृणा करने वाले लोग भी मनुष्य कहलाते हैं! अगर तुम्हारी घृणा और हाय–हाय धर्म की प्राप्ति होने पर भी नहीं छूटी तो फिर वह कभी नहीं छूटने की! अब पुरानी एवं निराधार परम्पराओं के गीत मत गाओ, उनसे इस युग में काम नहीं चल सकता। मेरी बात तुम्हें जंचे या न जंचे, मगर सत्य और हितकर बात कहना मेरा कर्तव्य है। अन्तस्थल में उत्पन्न होने वाले अन्तर्वाद को तुम्हारे कानों तक पहुंचाना मेरा फर्ज है। पॉलिसी ही पॉलिसी में ऊपरी दिखावट करते–करते धर्म की प्रतिष्ठा नष्ट हो गई। जब तक धर्मी कहलाने वालों में सद्भावना का उदय नहीं होता, तब तक धर्म की प्रतिष्ठा नहीं जम सकती।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! जब जीव की स्थिति नरक में पूरी हो जाती है तो वह एक भाग से एक भाग, एक भाग से सर्व भाग, सर्वभाग से एक भाग या सर्वभाग से सर्वभाग के आश्रित निकलता है? भगवान् ने फरमाया– उत्पत्ति के संबंध में जो बात कही गई, वही निकलने के संबंध में भी समझ लेना चाहिए।

तब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! नरक से निकलता हुआ नारकी देश से देश का आहार करता है या किस प्रकार? भगवान् ने उत्तर दिया–इस विषय में भी पहले की ही तरह समझना चाहिए। अर्थात् देश से देश का नहीं, देश से सर्व का नहीं, सर्व से देश का अथवा सर्व से सर्व का आहार करता है।

उत्पात और आहारविषयक
प्रश्नोतर

मूलपाठ–

प्रश्न–नेरइए णं भंते! नेरइएसु उववण्णेकिं देसेणं देसं उववण्णे?

उत्तर–ऐसो वि तहवे, जाव सव्वेणं सव्वं उववण्णे। जहा उववज्जमाणे, उववट्टमाणे य चत्तारि दंडगा, तहा उववण्णेणं, उववट्टेणं वि चत्तारि दंडगा भाणियव्वा। सव्वेणं सव्वं उववण्णे। सव्वेणं वा सव्व आहारेइ; सव्वेणं वा देसं आहारेइ। एएणं अभिलावेणं उववण्णे वि, उव्वट्टेण वि नेयव्वं।

प्रश्न–नेरइए णं भंते! नेरइएसु उववज्जमाणे किं अद्धेणं–अद्धं उववज्जइ, अद्धेणं सव्वं उववज्ज्इ, सव्वेणं अद्धं उववज्जइ, सव्वेणं सव्वं उववज्जइ?

उत्तर–जहा पढमिल्लेणं अट्ठ दंडगा तहा अद्धेण वि अट्ठ दंडगा भाणियव्वा। नवरं जहिं देसेणं देसं उववज्ज्इ, तहिं अद्धेणं अद्धं उववज्ज्इ, इति भाणियव्वं। एयं णाणत्तं, एते सव्वे वि सोलस दंडगा भाणियव्वा।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–नैरयिको भगवन्! नैरयिकेषु उपपन्नः किं देशेन देशमुपपन्नः?

उत्तर–एषोऽपि तथैव। यावत् सर्वेण सर्वमुपपन्नः। यथा उपपद्यमाने, उद्वर्तमाने च चत्वारी दण्डकाः तथा उपपन्नेन, उद्वर्त्तनापि चत्वारो दण्डका भणितव्याः, सर्वेण सर्वमुपपन्नः। सर्वेण वा देशमाहारयति, सर्वेण वा सवमाहारयति। एतेन अभिलापेन उपपन्नेऽपि ज्ञातव्यम्।

प्रश्न– नैरयिको भगवन्! नैरयिकेषु उपपद्यमानः किम् अर्धेन अर्धमुपपद्यते, अर्धेण सर्वमुपपद्यते, सर्वेणमर्धमुपपद्यते सर्वेण सर्वमुपपद्यते?

उत्तर–यथा प्राथमिकेनाष्ट दण्डकास्तथा अर्धेनापि अष्ट दंडका भणितव्याः। नवरं–यत्र देशेन देशमुपपद्यते, तत्र अर्धेन अर्धमुपपद्यते इति भणितव्यम्। एवं नानतवं एते सर्वेऽपि षोडश दंडका भणितव्याः।

मूलार्थ–

प्रश्न–भगवन्! नारकियों में उत्पन्न नारकी क्या एक देश से एक देश आश्रित करके उत्पन्न हैं? (इत्यादि प्रश्न करना चाहिए।)

उत्तर–गौतम! यह दंडक भी उसी प्रकार जानना। यावत्–सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है। उत्पद्यमान और उद्वर्तमान के विषय में चार दंडक कहे, वैसे ही उत्पन्न और उद्‌वृत्त विषय में भी चार दंडक कहना। 'सर्वभाग से एक भाग आश्रित करके उत्पन्न' 'सर्वभाग से एक भाग को आश्रित करके आहार' और 'सर्वभाग से सर्वभाग को आश्रित करके आहार' इन शब्दों द्वारा उपपन्न और उद्‌वृत्त के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

प्रश्न–भगवन! नैरयिकों में उत्पन्न होता हुआ नारकी क्या अर्ध भाग से, अर्ध भाग आश्रित करके उत्पन्न होता है? अर्धभाग से सर्वभाग आश्रित करके उत्पन्न होता है? सर्वभाग से अर्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है? अथवा सर्व भाग से सर्वभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है?

उत्तर–गौतम! जैसे पहले वालों के साथ आठ दंडक कहे हैं, उसी प्रकार अर्ध के साथ भी आठ दंडक कहने चाहिए। विशेषता इतनी है कि–जहां 'एक भाग से एक भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है' ऐसा पाठ आए वहां 'अर्धभाग से अर्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है 'ऐसा पाठ बोलना चाहिए। बस यही भिन्नता है। यह सब मिलकर सोलह दंडक होते हैं।

व्याख्यान

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्! नारकी किस प्रकार उत्पन्न होते हैं? भगवान् ने उत्तर दिया–उनके लिए पहले जैसा ही क्रम समझना चाहिए।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने नारकियों के निकलने का प्रश्न किया, जिसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया – एक की ही तरह अनेक के विषय में भी समझना चाहिए।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं – प्रभो! नरक में उत्पन्न होने वाला क्या अर्धभाग से अर्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है, अर्धभाग से सर्व भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है, सर्वभाग से अर्धभाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है या सर्वभाग से सर्व भाग को आश्रित करके उत्पन्न होता है?

भगवान् ने उत्तर दिया– गौतम! पहले कहे हुए आठ दंडकों के समान ही यहां भी समझना चाहिए। फर्क केवल इतना है कि उसमें जहां 'देश से देश उत्पन्न होता है' ऐसा कहा है उसके स्थान पर वहां आधे से आधा उत्पन्न होता है ऐसा बोलना चाहिए। आधे से सर्व नहीं, आधे से आधा नहीं। सर्व भाग से आधा भाग हो सकता है और सब से सर्व भाग भी हो सकता है' इस प्रकार पूर्वोक्त आठ और यह आठ दंडक मिलकर सब सोलह दंडक होते हैं।

पहले एक देश (अवयव) संबंधी प्रश्न किया जा चुका था फिर यहां आधे के विषयमें क्यों प्रश्न किया गया? इसका उत्तर यह है कि देश और आधे में बहुत अन्तर है। मूंग में सैकड़ों देश (अवयव) है। उसका छोटे से छोटा टुकड़ा भी देश ही कहलाएगा, किन्तु बीचों बीच से दो हिस्से होने पर ही आधा भाग कहलाता है। इस प्रकार जीव के दो टुकड़े हों और एक टुकड़ा उत्पन्न हो और दूसरा न हो, यह नहीं हो सकता। यही बतलाने के लिए यह प्रश्नोत्तर किया गया है कि आत्मा के देश या आधा हिस्सा नहीं हो सकता। आत्मा अछेद्य है। गीता में भी कहा है–

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः!!

अर्थात्–इस आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकता, आग जला नहीं सकती, पानी भिगो नहीं सकता और हवा सुखा नहीं सकती।

इस प्रकार आत्मा के टुकड़े नहीं होते। वह मारने से मर नहीं सकता, काटने से कट नहीं सकती और सुखाने पर भी सूख नहीं सकती। नरक में जायगा तो पूरा जायगा, स्वर्ग में जायगा तो पूरा ही जायगा और मोक्ष में गया तो भी पूरा ही जायगा।

शास्त्र में नरक की तीव्र से तीव्र वेदना का जो वर्णन किया है, उसमें भी रहस्य छिपा है। उसके वर्णन से यह ज्ञात होता है कि नरक की जिस भीषण अग्नि में जीव सुलगता है, उसमें पड़कर भी जीव का नाश नहीं होता।

नरक में तीखे शस्त्र से तुम्हें काटा गया, फिर भी तुम्हारी सत्ता–अस्तित्व आज भी बनी हुई है। तुम अमर रहे और अमर ही रहोगे। जब नरक की वेदना से भी तुम्हारी कोई हानि नहीं हुई तो संसार की छोटी–छोटी हानियां तुम्हारा क्या बिगाड़ सकती हैं?

आजकल लोग यह बात भूल–से गये हैं कि आत्मा अजर–अमर, अविनाशी है। इसी कारण लोग मृत्यु से बेहद डरते हैं। वास्तव में, "मैं" बोलने वाला कभी मरता नहीं है। तब मरना क्या झूठी कल्पना है? अगर मृत्यु झूठी कल्पना नहीं है तो फिर कौन मरता है? मृत्यु क्या चीज है? यह सब गूढ़ प्रश्न है। आत्मा का सिर्फ रूपान्तर होता है। वह शरीर छोड़कर दूसरा शरीर धारण करता है। वास्तव में आत्मा का विनाश नहीं होता।

केवल आत्मा ही क्यों, संसार में जितनी वस्तुएं हैं, उनमें से कोई भी ऐसी नहीं है, जो अमर न रहे। जो आज है, वह सदैव थी और सदैव रहेगी। कभी वह मिट नहीं सकती। धूल का एक कण भी कभी सर्वथा अभाव रूप नहीं हो सकता।

गीता में कहा है–

नासतो विद्यते भावः, नाभावो विद्यते सतः।

अर्थात्–जो चीज है, वह कभी 'नहीं' में नहीं बदल सकती और जो नहीं है, वह कभी हो नहीं सकती।

उदाहरण के लिए पानी की एक बूंद को ही समझिए। स्थूल दृष्टि से यह समझा जाता है कि जल का एक बिन्दु सूख कर सदा के लिए असत्–नास्ति रूप बन जाता है मगर यह समझ सही नहीं है। वह अपने मूल तत्व में जाकर मिल जाता है। पदार्थों का सदैव परिवर्तन होता रहता है। कभी घडे से मिट्टी बनती है, कभी मिट्टी से घड़ा बनता है। इस प्रकार जब एक रज–कण भी नहीं मिटता तो अनादि काल से कूद–फांद करने वाला यह आत्मा कैसे नष्ट हो सकता है? अगर आत्मा है तो वह सदैव के लिए है।

घर का आदमी जब मर जाता है तो लोग शोक से व्याकुल होकर रोते हैं, मानो वह कहीं रहा ही नहीं है। किन्तु आत्मा वास्तव में पलटा खा कर दूसरी जगह चला जाता है। व्यवहार में भले ही उसे 'मरा' कह दो, मगर तात्त्विक दृष्टि से वह मरता नहीं है।

के आंसू आ जाते हैं। अभ्यास हो जाने पर वह रोती—पीटती नहीं है। पुत्र की तरह आत्मा के अधिक दूर पड़ जाने पर लोग कहते हैं—'अमुक व्यक्ति मर गया।' वास्तव में वह पहले जिस ढंग में था, उस ढंग में वह अब वापिस नहीं मिल सकता, इसीलिए लोग रोते—चिल्लाते हैं। मगर ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि रोना—चिल्लना और छाती पीटना वृथा है। आत्मा मरा नहीं है। उसने एक रूप छोड़ कर दूसरा रूप ग्रहण कर लिया है।

एक बात ध्यान देकर खूब विचारने की है। अगर आत्मा में काया बदलने का स्वभाव न होता तो तुम्हारा पुत्र तुम्हारे यहां कैसे उत्पन्न होता? उसका जन्म होने पर तुम जब खुशी मना रहे थे, तब कोई रो भी रहा होगा? इस प्रकार की अदल—बदल सदा से होती आई है। प्रकृति का यही नियम है।

एक बात और है। अगर आत्मा सचमुच मर ही गया तो अब रोने से क्या लाभ? रोने से क्या वह लौट आएगा? नहीं तो उस एक के पीछे अपना भी बिगाड़ क्यों करते हो? आर्तध्यान करके क्यों कर्मबंध करते हो ? उदाहरणार्थ—मान लीजिए, एक वृक्ष में दो डालियां हैं। पाला (हिम) पड़ने के कारण उनमें से एक डाली जल गई। एक हरी रही। इसके अनन्तर ही बसन्त ऋतु आई। तब हरी डाली में फूल—पत्ते आएंगे या सूखी डाली में ? 'हरी में!'

उस समय हरी डाली को पुष्प—पत्रों से सुशोभित होना चाहिए या अपनी साथिन के रंज मे सूख जाना चाहिए?

'हरी होना चाहिए!'

जिस प्रकार एक डाली के सूख जाने पर दूसरी डाली नहीं सूखती, उसी प्रकार, ज्ञानीजन कहते हैं—एक की मृत्यु हो जाने पर तुम क्यों अपना वृथा बिगाड़ करते हो? क्या तुम डाली से भी गये—गुजरे हो?

आप कह सकते हैं कि डाली अज्ञानी है, इसलिए वह नहीं रोती, क्योंकि विशेष ज्ञान के बिना दुःख—शोक नही होता। तो क्या इसका यह अर्थ समझा जाय कि रोना ज्ञान का फल है? जो बुद्धि रोने का आविष्कार करती है,उसे रोना मिटाने के कार्य में क्यों नहीं लगाते? क्या समझदारी का यह नतीजा है कि रो—रो कर आत्मा का भव—भवान्तरो नाश किया जाए? आग लगाने वाला मूर्ख होता है, जो उसे शान्त करता है वह बुद्धिमान कहलाता है। जो रोना बढावे वह अज्ञान है और जिससे रोना कम हो वही ज्ञान है।

ऐसा ज्ञान शास्त्र से प्राप्त होता है। और आत्मा की नित्यता का प्रतिपादन करने के लिए ही शास्त्र में नारकी आदि जीवों की तथा उनकी वेदनाओं की विवेचना की गई है।

विग्रहगति और देवच्च्यवन

मूलपाठ–

प्रश्न–जीवे णं भंते! किं विग्गह गइ समा वण्णए, अविग्गह गइ समावण्णए?

उत्तर–गोयमा! सिय विग्गह गइ समावण्णगे, सिय अविग्गह गइ समावण्णगे, एवं जाव वेमाणिए।

प्रश्न–जीवा णं भंते! किं विग्गह गइ समावण्णगा, अविग्गह गइ समावण्णगा?

उत्तर–गोयमा! विग्गह गइ समावण्णगा वि, अविग्गह गइ समावण्णगा वि!

प्रश्न– नेरइया णं भंते! किं विग्गह गइ समावण्णगा, अविग्गह गइ समावण्णगा?

उत्तर–गोयमा! सव्वे वि ताव होज्जा अविग्गह गइ समावन्नगा। अहवा अविग्गह गइ समावन्नागा, य विग्गह गइ समावण्णगेय। अहवा अविग्गह गइ समावन्नगा य, विग्गह गइ समावण्णगा य। एवं जीव–एगिंदियज्जो तियभंगो।

प्रश्न–देवे णं भंते! महिड्ढिए, महज्जुइए महब्बले, महायसो, महेसक्खे, महाणुभावे, अवि उक्कंतियं चयमाणे किंचिकालं हिरि वत्तियं, दुगंछ वत्तियं, परिसह वत्तियं आहारं नो आहारेइ। अहे णं आहारेइ, आहारज्जिमाणे, आहारिये, परिणामिज्ज माणे परिणामिए, पहिणे य आउए भवइ। जत्थ उववज्जइ तं आउयं पडिसंवेदेइ तं जहा तिरिक्ख जोणियाउयं वा, मणुस्साउयं वा?

उत्तर–हंता, गोयमा! देवे णं महिड्ढिए जाव मणुस्साउयं वा।

संस्कृत–छाया

प्रश्न– जीवो भगवन्! किं विग्रहगति समापन्नकः, अविग्रहगति समापन्नकः?

उत्तर–गौतम! स्याद् विग्रहगतिसमापन्नकः स्याद् अविग्रह गतिसमापन्नकः एवं यावद् वैमानिकः।

प्रश्न– जीवा भगवन्! किं विग्रहगति समापन्नकाः, अविग्रहगति–सम्पन्नकाः?

उत्तर–गौतम! विग्रहगतिसमापन्नकाः अपि, अविग्रहगतिसमापन्नकाः अपि।

प्रश्न–नैरयिका भगवन्! किं विग्रहगति समापन्नकाः, अविग्रहगति समापन्नकाः?

उत्तर–गौतम! सर्वेऽपि तावद् भवेयुरविग्रहगतिसमापन्नकाः,। अथवा अविग्रहगतिसमापन्नकाश्च, विग्रहगतिसमापन्नकाश्च। अथवा अविग्रहगति समापन्नकाश्च, विग्रहगतिसमापन्नकाश्च। एवं जीव–एकेन्द्रिय वर्जस्त्रिभंग।

प्रश्न–देवो भगवन्! महर्धिकः महाद्युतिकः, महाबलः, महायशः महेशाख्यः, महानुभावः, अव्युत्क्रान्तिकं (अव्यवक्रान्तिकम्) च्यवमानः किश्चित् कालं हीप्रत्ययं, जुगुप्सा प्रत्ययं, परिषह प्रत्ययं आहारं नो आहारयति। अथ आहारयति, आह्रियमाणं आहृतम्, परिणम्यमानं परिणम् , प्रहीर्णं चायुस्कं भवति। यत्र उपपद्यते तदाऽऽयुष्कं प्रतिसंवेदयाते। तत् तिर्यग् योन्यायुष्कं वा, मनुष्यायुष्कं च?

उत्तर–हन्त, गौतम! देवो महार्धिको यावत्–मनुष्यायुष्क वा।

मूलार्थ–

प्रश्न–भगवन्! क्या जीव विग्रहगति को प्राप्त है या अविग्रहगति को प्राप्त है?

उत्तर–गौतम! कभी विग्रह गति को प्राप्त है और कभी अविग्रहगति को प्राप्त है। इसी प्रकार वैमानिक तक जानना।

प्रश्न–भगवन्! बहुत जीव विग्रहगति को प्राप्त हैं या अविग्रहगति को प्राप्त हैं?

उत्तर–गौतम! बहुत जीव विग्रहगति को भी प्राप्त है और अविग्रह गति को भी प्राप्त है।

प्रश्न–भगवन्! नारकी जीव विग्रहगति को प्राप्त हैं या अविग्रहगति को प्राप्त है?

उत्तर—गौतम! सभी अविग्रहगति को प्राप्त हैं। अथवा बहुत से अविग्रहगति को प्राप्त हैं और कोई—कोई विग्रहगति को प्राप्त हैं। अथवा बहुत से अविग्रह गति को प्राप्त है और बहुत से विग्रह गति को प्राप्त है। इसी प्रकार सब जगह तीन—तीन भंग समझना। सिर्फ जीव (सामान्य) और एकेन्द्रिय में तीन भंग नहीं कहना।

प्रश्न—भगवन्! महान् ऋद्धि वाला, महान् द्युतिवाला, महान् बलवाला, महाकीर्तिवाला महासामर्थ्यवाला मरण—काल में च्यवने वाला महेश नामक देव लज्जा के कारण, घृणा के कारण, परीषह के कारण कुछ समय तक आहार नहीं करता। फिर आहार करता है और किया हुआ आहार परिणत भी होता है, और अन्त में उस देव की आयु सर्वथा नष्ट हो जाती है, इसलिए वह देव जहां उत्पन्न होता है वहां की आयु भोगता है। तो हे भगवन्! वह आयु तिर्यंच का समझा जाय या मनुष्य का समझा जाय?

उत्तर—गौतम! उस महाऋद्धि वाले देव का यावत् मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का आयुष्य ही समझना चाहिए।

व्याख्यान

आना—जाना, गमनागमन से होता है, अतः अब गौतम स्वामी गमन—आगमन के विषय में प्रश्न करते हैं। गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! जीव विग्रहगति वाला होता है या अविग्रहगति वाला होता है? भगवान् उत्तर देते हैं—जीव विग्रहगति वाला भी होता है और अविग्रहगति वाला भी होता है। अर्थात् जीव में दोनों प्रकार की अवस्थाएं हो सकती हैं।

विग्रह का अर्थ है—मोड़ खाना—मुड़ना। जीव जब एक शरीर छोड़ कर दूसरा नया शरीर धारण करने के लिए गति करता है, तो उसकी गति दो प्रकार की हो सकती है। कोई—एक जीव एक, दो या तीन बार मुड़कर उत्पत्ति—स्थान पर पहुंचता है और कोई जीव बिना मुड़े, सीधा अपने उत्पत्तिस्थान

शास्त्रकारों ने जीव की विग्रह और अविग्रह अर्थात् टेढ़ी और सीधी–इस तरह दो प्रकार की गति बतलाई है। यद्यपि इस वर्णन में अनेक बड़े–बड़े रहस्य छिपे हैं, किन्तु बहुत सूक्ष्म बातें न बतलाकर कुछ स्थूल बातें ही आपको बतलाता हूं। यह तो सभी जानते हैं कि चित्त की गतियां टेढ़ी और सीधी–दो प्रकार की हैं। अपने मन की किस समय, कौनसी गति होती है, यह समझ सकना भी अपने लिए कठिन कार्य है तो दूसरे के मन की बात तो समझी ही कैसे जा सकती है?

कई लोग चित्त की चंचलता को सर्वथा ही रोक देने की चेष्टा करते हैं और उसी में कल्याण समझते हैं, किन्तु ऐसा होना दुःसाध्य है। ज्यों–ज्यों आप चित्त को रोकने का प्रयत्न करेंगे, वह अधिकाधिक चंचल होता जायगा। अतएव उसे सर्वथा रोकने का विचार छोड़कर उसकी चाल चौकसी करना और उसे टेढ़ा–मेढ़ा जाने से रोकना ही अधिक व्यवहार्य है। किसी अच्छे प्रकार के चिन्तन में फंसाये रहने से ही मन टेढ़ी चाल से बचता है। खाली रहने पर वह बड़ उत्पात मचाता है। इस संबंध में एक उदाहरण लीजिए:–

एक मनुष्य किसी सिद्ध पुरुष की सेवा करता था। सिद्ध ने उसकी मनोकामना पूछी। सेवक ने कहा–महाराज! मैं खेती कर–कर के मरता–पचता हूं, फिर भी पेट नहीं भर पाता। इससे विपरीत जब मैं नगर में जाकर नागरिक लोगों को देखता हूं तो वे लोग अल्प परिश्रम करके भी खूब मजा–मौज लूटते हैं। मैं साल भर में जितना कमाता हूं, उतना वे एक ही दिन में उड़ा देते हैं। उन्हे देखकर मैं भी उन्हीं सरीखा धनी बनना चाहता हूं। इसी इच्छा से आपकी सेवा कर रहा हूं।

सिद्ध बाले–ठीक, मैं तुझे एक मंत्र बतलाता हूं। उसका जाप करने से एक भूत तेरे कब्जे में हो जायगा। वह तेरा सब काम किया करेगा और तेरी समस्त इच्छाएं पूरी करता रहेगा।

किसान ने मंत्र लिया और उसकी साधना की। साधना से भूत आया। बोला–अब मै तुम्हारे आधीन हूं। किन्तु एक भी क्षण में बेकार नहीं रहूंगा। अगर बेकार रहा तो तुम्हें खा जाऊंगा। यह मेरा स्वभाव है।

किसान ने यह बात स्वीकार कर ली। फिर उसने भूत को काम बतलाना शुरू किया। खेत जोतना, बोना, मकान बनाना, योगोपयोग की सामग्री प्रस्तुत करना, आदि सभी कार्य उसने बात की बात में पूरे कर दिये। यह सब काम पूरे करके भूत ने कहा–अब क्या करना है? काम बताओ, नहीं तो तुम्हें खाता हूं।

उत्तर—गौतम! सभी अविग्रहगति को प्राप्त हैं। अथवा बहुत से अविग्रहगति को प्राप्त हैं और कोई—कोई विग्रहगति को प्राप्त हैं। अथवा बहुत से अविग्रह गति को प्राप्त है और बहुत से विग्रह गति को प्राप्त है। इसी प्रकार सब जगह तीन—तीन भंग समझना। सिर्फ जीव (सामान्य) और एकेन्द्रिय में तीन भंग नहीं कहना।

प्रश्न—भगवन्! महान् ऋद्धि वाला, महान् द्युतिवाला, महान् बलवाला, महाकीर्तिवाला महासामर्थ्यवाला मरण—काल में च्यवने वाला महेश नामक देव लज्जा के कारण, घृणा के कारण, परीषह के कारण कुछ समय तक आहार नहीं करता। फिर आहार करता है और किया हुआ आहार परिणत भी होता है, और अन्त में उस देव की आयु सर्वथा नष्ट हो जाती है, इसलिए वह देव जहां उत्पन्न होता है वहां की आयु भोगता है। तो हे भगवन्! वह आयु तिर्यंच का समझा जाय या मनुष्य का समझा जाय?

उत्तर—गौतम! उस महाऋद्धि वाले देव का यावत् मृत्यु के पश्चात् मनुष्य का आयुष्य ही समझना चाहिए।

व्याख्यान

आना—जाना, गमनागमन से होता है, अतः अब गौतम स्वामी गमन—आगमन के विषय में प्रश्न करते हैं। गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन् ! जीव विग्रहगति वाला होता है या अविग्रहगति वाला होता है? भगवान् उत्तर देते हैं—जीव विग्रहगति वाला भी होता है और अविग्रहगति वाला भी होता है। अर्थात् जीव में दोनों प्रकार की अवस्थाएं हो सकती हैं।

विग्रह का अर्थ है—मोड़ खाना—मुड़ना। जीव जब एक शरीर छोड़ कर दूसरा नया शरीर धारण करने के लिए गति करता है, तो उसकी गति दो प्रकार की हो सकती है। कोई—एक जीव एक, दो या तीन बार मुड़कर उत्पत्ति—स्थान पर पहुंचता है और कोई जीव बिना मुड़े, सीधा अपने उत्पत्तिस्थान पर पहुंच जाता है। जब उत्पत्तिस्थान पर जाने के लिए मोड़ खाना पड़ता है तब वह गति विग्रहगति कहलाती है। जब बिना मुड़े सीधा ही चला जाता है, तब उस गति को अविग्रहगति कहते हैं। जीव जब ठहरा हो, गति न कर रहा हो तब भी उसे अविग्रह वाला समझना चाहिए और जब सीधा गति कर रहा हो तब भी अविग्रहगति वाला समझना चाहिए। अविग्रहगति वाले में यहां दोनों अर्थ विवक्षित हैं, ऐसा टीकाकार कहते हैं। यद्यपि प्राचीन टीकाकार ने अविग्रहगति का अर्थ सिर्फ सीधी (बिना मोड़ वाली) गति ही लिया है, मगर ऐसा लेने से और अविग्रहगति का अर्थ ठहरना न करने से नारकी जीवों में अविग्रहगति वालों की जो बहुलता बतलाई है, वह संगत नहीं बैठ सकेगी।

शास्त्रकारों ने जीव की विग्रह और अविग्रह अर्थात् टेढ़ी और सीधी—इस तरह दो प्रकार की गति बतलाई है। यद्यपि इस वर्णन में अनेक बड़े—बड़े रहस्य छिपे हैं, किन्तु बहुत सूक्ष्म बातें न बतलाकर कुछ स्थूल बातें ही आपको बतलाता हूं। यह तो सभी जानते हैं कि चित्त की गतियां टेढ़ी और सीधी—दो प्रकार की हैं। अपने मन की किस समय, कौनसी गति होती है, यह समझ सकना भी अपने लिए कठिन कार्य है तो दूसरे के मन की बात तो समझी ही कैसे जा सकती है?

कई लोग चित्त की चंचलता को सर्वथा ही रोक देने की चेष्टा करते हैं और उसी में कल्याण समझते हैं, किन्तु ऐसा होना दुःसाध्य है। ज्यों—ज्यों आप चित्त को रोकने का प्रयत्न करेंगे, वह अधिकाधिक चंचल होता जायगा। अतएव उसे सर्वथा रोकने का विचार छोड़कर उसकी चाल चौकसी करना और उसे टेढ़ा—मेढ़ा जाने से रोकना ही अधिक व्यवहार्य है। किसी अच्छे प्रकार के चिन्तन में फंसाये रहने से ही मन टेढ़ी चाल से बचता है। खाली रहने पर वह बड़ उत्पात मचाता है। इस संबंध में एक उदाहरण लीजिएः—

एक मनुष्य किसी सिद्ध पुरुष की सेवा करता था। सिद्ध ने उसकी मनोकामना पूछी। सेवक ने कहा—महाराज! मैं खेती कर—कर के मरता—पचता हूं, फिर भी पेट नहीं भर पाता। इससे विपरीत जब मैं नगर में जाकर नागरिक लोगों को देखता हूं तो वे लोग अल्प परिश्रम करके भी खूब मजा—मौज लूटते हैं। मैं साल भर में जितना कमाता हूं, उतना वे एक ही दिन में उड़ा देते हैं। उन्हे देखकर मैं भी उन्हीं सरीखा धनी बनना चाहता हूं। इसी इच्छा से आपकी सेवा कर रहा हूं।

सिद्ध बाले—ठीक, मैं तुझे एक मंत्र बतलाता हूं। उसका जाप करने से एक भूत तेरे कब्जे में हो जायगा। वह तेरा सब काम किया करेगा और तेरी समस्त इच्छाएं पूरी करता रहेगा।

किसान ने मंत्र लिया और उसकी साधना की। साधना से भूत आया। बोला—अब मैं तुम्हारे आधीन हूं। किन्तु एक भी क्षण में बेकार नहीं रहूंगा। अगर बेकार रहा तो तुम्हें खा जाऊंगा। यह मेरा स्वभाव है।

किसान ने यह बात स्वीकार कर ली। फिर उसने भूत को काम बतलाना शुरू किया। खेत जोतना, बोना, मकान बनाना, योगोपयोग की सामग्री प्रस्तुत करना, आदि सभी कार्य उसने बात की बात में पूरे कर दिये। यह सब काम पूरे करके भूत ने कहा—अब क्या करना है? काम बताओ, नहीं तो तुम्हें खाता हूं।

किसान ने घबराकर कहा—भाई, थक गये होओगे! अब कुछ देर विश्राम कर लो! फिर काम बतला दूंगा।

भूत—अगर कोई कम न बतलाया तो मैं अपने नियम के अनुसार अभी तुम्हें खा जाऊंगा।

किसान सकपकाया। सोचने लगा—इसकी अपेक्षा तो मैं पहले ही अच्छा था। उस समय यह बला तो नहीं थी। अब इससे किस प्रकार पिंड छुड़ाया जाय ! क्यों न उन्हीं सिद्ध पुरुष की सेवा में जाऊं और उन्हीं से अपनी रक्षा की भिक्षा मांगूं।

उसने भूत से कहा—तू मेरे पीछे—पीछे चल, अभी यहीं काम बतलाता हूं। इस प्रकार दोनों सिद्ध पुरुष के पास पहुंच कर सिद्ध पुरुष से किसान ने कहा—महाराज! आप अपना भूत संभालिए! बाज आये इससे! कहां तक इसे काम बताऊं? अगर कभी न बतला पाया तो मुझे खा जायगा? ऐसे भूत की मुझे आवश्यकता नहीं। न जाने कब मुझे खा जाय?

सिद्ध ने किसान को सान्त्वना देते हुए कहा—भाई, डरो मत। इसे एक खंभा बनाने का काम बतलाओ। किसान ने सिद्ध के कथनानुसार भूत को खंभा बनाने का काम बता दिया। भूत ने पल भर में खंभा तैयार कर दिया। तब सिद्ध ने कहा—अब इसे कह दो कि जब मैं जो काम बताऊं, तब वह काम करना। शेष समय में इस खंभे पर चढ़ते—उतरते रहना। भूत चढ़ने—उतरने लगा।

इस चढ़ने उतरने से भूत हैरान हो गया। उसने कहा—माफ करो भाई, मैं तुम्हारे बुलाने पर आ जाया करूंगा। शेष समय में, कार्य न होगा तो तुम्हें नहीं खाऊंगा।

किसान भी यही चाहता था। उसने प्रसन्नतापूर्वक भूत की बात मान ली। भूत अपना पिंड छुड़ाकर भागा और किसान ने अपना पिंड छूटा जान संतोष की सांस ली और अपने घर आ गया।

यह उदाहरण सिर्फ मनोरंजन के लिए नहीं है। इसमें अनेक तत्व भरे हैं। जैसे किसान ने भूत पैदा किया, उसी प्रकार आत्मा ने मन पैदा किया है। भूत काम में लगे रहने पर शांत रहता है और खाली होने पर खाने दौड़ता है। इसी प्रकार मन भी निरन्तर क्रियाशील रहना चाहता है। खाली रहना उसे पसंद नहीं, उसे कोई न कोई चटपटी बात सदैव चाहिए। जब यह निकम्मा रहता है तो हमें खाने दौड़ता है और इतना खाता है कि पागल बनाकर छोड़ता है। यह भूत कोई साधारण नहीं है। सभी के पीछे पड़ा हुआ है। जब इसके

लिए कोई काम न रहे तो इसे खंभा बता देना चाहिए, जिस पर वह चढ़ता–उतरता रहे। वह खंभा कौन–सा है? भगवत् भजन का।

तुम सुमरन विन इण कलियुग में, अवर न को आधारो।
मैं वारी जाऊं तो सुमरन पर, दिन दिन प्रीत बधारो।।
पदम प्रभु पावन नाम तिहारो ।।

इस प्रार्थना पर ध्यान दो। अगर तुम अपने आत्मा को चक्कर में डालोगे तो कभी अन्त नहीं आएगा। अतएव इसे काम बताकर संतोष करो। जब इसे कोई काम नहीं होता है तो यह बुरे रास्ते जाकर चक्कर में फंस जाता है। लोग अपनी इच्छाओं की पूर्ति न होने के कारण नास्तिक बन जाते हैं। विवेकानन्दजी ने लिखा है--यूरोप के बहुत से लोग केवल मानसिक दुःखों से छुटकारा पाने के लिए मदिरा पीना आरम्भ कर देते हैं। मगर यह उल्टा इलाज है। यदि वे मन को ऊपर बतलाये हुए ईश्वरभक्ति रूपी खंभे पर चढावें–उतारें तो मानसिक दुःख समीप ही नहीं आ सकता। मगर सिद्धी का शरण लिए बिना उन्हें यह युक्ति बतलावे कौन? मन जब इस काम में लग जायगा तो फुर्सत नहीं पाएगा और न हमें खायेगा। भगवद्–भजन से अनेक लाभ होते हैं। सब से प्रथम लाभ तो यह है कि भगवान् का भजन करने से भक्त को दिव्य प्रसन्नता का अनुभव होता है। जो भजन करना जानता है, वह कभी रोता नहीं। बड़े से बड़ा कष्ट आ पड़ने पर भी वह समान रूप से प्रसन्न रहता है। मगर लोगों की गति–मति विपरीत हो रही है। प्रसन्नता का इतना सुन्दर साधन रहते हुए भी वे मदिरापान द्वारा प्रसन्नता का अनुभव करने का प्रयत्न करते हैं।

भजन करने से मन रूपी भूत हमारे वश में हो जाता है। मन सारी शक्तियों का खजाना है। मन ही स्वर्ग, मोक्ष, बंध, नरक आदि का कारण है। तुकाराम ने कहा है–तुम मन को प्रसन्न करो तो वह तुम्हारे लिए सब कुछ कर सकता है। लेकिन उसे ऐसा प्रसन्न करो कि फिर कभी अप्रसन्न न हो। छोटी–मोटी चीजें देकर उसे कुछ देर के लिए बहला लेना ही उसे प्रसन्न करना नहीं है। ऐसी प्रसन्नता क्षणिक है और उसके पश्चात फिर अप्रसन्नता का उदय हो जाता है। यह प्रसन्नता नहीं है बल्कि उसे पागल बना देना है मन को ऐसी चीज दो जिससे वह स्थायी प्रसन्नता प्राप्त कर सके। उचित रूप से प्रसन्न होगा तो वह तुम्हें सब कुछ दे सकेगा। स्थायी प्रसन्नता प्राप्त करने के लिए भगवद्–भजन ही सर्वोतम साधन है। ईश्वर के नाम–स्मरण से भ्रान्ति दूर होगी। नाम भले ही कोई भी हो, मगर हृदय को छूने वाला चाहिए। अनन्त

के अनन्त नाम हैं। उनमें से ओंकार में किसी का मतभेद नहीं है। अतः भेदभाव छोड़कर सभी लोग समान भाव से 'ऊँ का जाप कर सकते हैं। भक्ति से मन स्थिर होगा तो जन्म–मरण बंद हो जायगा।

मन की एकाग्रता का प्रभाव ही आजकल 'मेस्मेरेज्म' विद्या के नाम से प्रसिद्ध है। मन की शक्ति से लोग जहाजों तक उलट देने में सफल हो गये हैं। आजकल इस विद्या के प्रभाव से बच्चों को बेहाश करके अधर उठा दिया जाता है। यह सब मानसिक शक्ति ही का प्रभाव है। जो मानसिक शक्ति इतनी प्रबल है, उसे व्यर्थ मत गवांओ। वृथा बुरी–भली बातें सोचने से क्या लाभ है? होगा वही जो होना है। अगर थोड़े दिन भी एकाग्रभाव से ऊँ का ध्यान करोगे तो तुम्हारे हृदय में एक विचित्र शक्ति उत्पन्न हो जायगी। अपनी जिह्वा और अपने नेत्रों को यदि समुचित रूप से अपने अधीन रखने की आदत डालो तो तुम्हारा चित्त शीघ्र ही वश में हो जायगा। यह भी ध्यान रखना चाहिए कि मौन रखने से मन की शक्ति बढ़ती है। मैंने मौन के गुणों का स्वयं अनुभव किया है। मौन सर्वश्रेष्ठ है, मगर जगत के व्यवहार बोले बगैर नहीं चलते इसलिए अल्पभाषी होकर अपनी चित्तवृत्ति पर ध्यान रक्खो। देखते रहो, वह क्या करता है? और कहां जाता है?

चित्त की अविग्रहगति रहनी चाहिए। अर्थात् उसकी गति टेढ़ी नहीं होनी चाहिए। मन चले या वैठा रहे मगर सीधा रहे। भूत की तरह हमें खाने वाला न बने। सदा ईश्वर–भक्ति में तल्लीन रहे, बुरे विचारों में न पड़े, यही चित्त की अविग्रह गति है।

मन से अच्छे कार्य कर लेने चाहिएं। जो कार्य हमें दूसरों से छिपाने पड़ें, उन्हें बुरा काम समझना चाहिए। जो कार्य अच्छे समझकर करोगे, उनमें चाहे आरंभ भी हो, मगर वह प्रायः अल्पारंभ ही होगा। जितने कार्य छिपाये जाते हैं, वे सब महारंभ पूर्ण समझने चाहिएं। विवाह के रामय लोग अपने संबंधियों को आमंत्रित करते हैं और धूमधाम करते हैं, किन्तु जब व्यभिचार के लिए जाते हैं तब लुक–छिपकर चोरों की तरह जाना पड़ता है। बस, यही अल्पारंभ और महारंभ का भेद है। यद्यपि आरंभ दोनों में है, मगर एक में कम और दूसरे में अधिक है। इसीलिए कहता हूं–चुपके–चुपके किये जाने वाले कार्य छोड़ दो तो बहुत–से पाप अपने आप दूर हो जाएंगे। उस समय मन की विग्रहगति मिटकर सीधी–अविग्रहगति हो जायगी।

गर्भ शास्त्र

मूलपाठ–

प्रश्न–जीवे णं भंते! गब्मं वक्कममाणे किं सइंदिए वक्कमइ, अणिंदिए वक्कमइ?

उत्तर–गोयमा! सिय सइंदिय वक्कमइ, सिय अणिंदिए वक्कमइ।

प्रश्न–से केणट्ठेणं? भंते एवं वुच्चई सिय सइंदिए वक्कमइ सिय अणिन्दि वक्क मइ?

उत्तर–गोयमा! दव्विंदियाइं पडुच्च अणिंदिए वक्कमइ, भाविंदियाइं पडुच्च सइंदिए वक्कमइ। से तेणट्ठेणं0 गोयमा एव वुच्चइ सिय सइदिय वक्कमइ सिय अणिंदिए वक्कमइ।

प्रश्न–जीवे णं भंते! गब्मं वक्कममाणे किं ससरीरी वक्कमइ, असरीरी वक्मइ?

उत्तर–गोयमा! सिय ससरीरी वक्कमइ, सिय असरीरी वक्कमइ।

प्रश्न–से केणट्ठेणं?

उत्तर–गोयमा! ओरालिय–वेउव्विय–आहारयाइं पडुच्च असरीरी वक्कमइ, तेया कम्मइं पडुच्च ससरीरी वक्कमई, से तेणट्ठेणं गोयमा0!

प्रश्न–जीवे णं भंते! गब्मं वक्कममाणे तप्पढमयाए किं आहारं आहारेइ?

उत्तर–गोयमा माउओयं, पिउसुक्कं तं तदुभय संसिट्ठं कलुसं, किव्विसं तप्पढमयाए आहारं आहारेइ।

प्रश्न–जीवे णं भंते! गब्मगए समाणे किं आहारं आहारेइ?

उत्तर–गोयमा! जं से माया नाणाविहाओ रस विगईओ आहारं आहारेइ, तेदेक देसेणं ओयं आहारेइ।

प्रश्न–जीवस्स णं भंते! गब्भगयस समाणस्स अत्थि उच्चारेइ वा, पासवणेइ वा, खेलेइ वा, सिंघाणेइ वा, वंतेइ वा, पित्तेइ वा?

उत्तर–णो इणट्ठे समट्ठे।

प्रश्न–से केणट्ठेणं?

उत्तर–गोयमो! जीवे णं गब्भगए समाणे जं आहारेइ तं चिणाइ, तं सोइंदियत्ताए जाव–फासिंदियत्ताए, अट्ठि अट्ठि–मिंज–केस–मंसु–रोम–नहत्ताए, से तेणट्ठेणं0।

प्रश्न–जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे पभू मुहेणं कावलियं आहारं आहारित्तए?

उत्तर–गोयमा! णो इणटे समटे।

प्रश्न–से केणट्ठेणं?

उत्तर–गोयमा! जीवे णं गब्भगए समाणे सव्वओ आहारेइ, सव्वओ परिणामेइ, सव्वओ उस्ससइ, सव्वओ निस्ससइ, अभिक्खणं आहारेइ, अभिक्खणं परिणामेइ, अभिक्खणं उस्ससइ, अभिक्खणं निस्ससइ, आहच्च, आहारेइ, आहच्च परिणामेइ, आहच्च उस्ससइ, आहच्च निस्ससइ, माउजीव रस–हरणी, पुत्तजीव रसहरणी माउजीव पडिबद्धा, पुत्तजीव फुडा तम्हा आहारेइ तम्हा परिणामेइ, अवरा वि य णं पुत्तजीव पडि बद्धा माउजीव फुडा तम्हा चिणाइ, तम्हा उवचिणाइ, से तेणट्ठेणं जाव नो पभू मुहेणं कावलियं आहारं आहरित्तए।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–जीवो भगवन! गर्भं व्युत्क्रामन् किं सेन्द्रियो व्युत्क्रामति अनिन्द्रियो व्युत्क्रामति।

उत्तर–गौतम! स्यात् सेन्द्रियो व्युत्क्रामते, स्याद् अनिन्द्रियो व्युत्क्रामति।

प्रश्न–तत्केननार्थेन?

उत्तर–गौतम! द्रव्येन्द्रियाणि प्रतीत्य अनिन्द्रियो व्युत्क्रामति, भावेन्द्रियाणि प्रतीत्य सेन्द्रियो व्युत्क्रामति! तत्तेनार्थेन?

प्रश्न–जीवो भगवन्! गर्भं व्युत्क्रामन् किं सशरीरी व्युत्क्रामति, अशरीरी व्युत्क्रामति?

उत्तर–गौतम! स्यात सशरीरी व्युत्क्रामति, स्याद् अशरीरी व्युत्क्रामति।

प्रश्न–तत् केनार्थेन?

उत्तर–गौतम! औदारिक–वैक्रिय आहारकाणि प्रतीत्य अशरीरी व्युत्कामति। तैजसक्रार्मणे प्रतीत्य सशरीरी व्युत्कामति। तत् तेनार्थेन गौतम!

प्रश्न–जीवो भगवन्! गर्भं व्युत्क्रामन् तत्प्रथमतया कम् आहारम् आहारयति।

उत्तर–गौतम! मातृ–ओजः, पितृशुक्र तत् तदुभय संश्लिष्टं कलुषम् , किल्विषं तत् प्रथमतया आहारं आहारयति।

प्रश्न–जीवो भगवन्! गर्भगतः सन् कम् आहारयति?

उत्तर–गौतम! यत् तद्–माता नानाविधा रसविकृ– तीराहारम् आहारयति, तदेकदेशेन ओज आहारयति।

प्रश्न–जीवस्य भगवन्! गर्भगतस्य सतः अस्ति उच्चार इति वा, प्रस्रवणमिति वा, खेल इति वा, शिङ्घानकमिति वा, वान्तमिति वा, पित्तमिति वा?

उत्तर–नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न–तत्केनार्थेन?

उत्तर–गौतम! जीवो गर्भगतः सन् यदाहारयति तत् चिनोति, तत् श्रोत्रेन्द्रियतया यावत् स्पर्शेन्द्रियतया, अस्थि–अस्थिमज्जा केश–श्मश्रु रोम–नखतया, तत् तेनार्थेन।

प्रश्न–जीवो भगवन्! गर्भगतः सन् प्रभुर्मुखेन कावलिकम् आहारम् आहर्त्तुम्?

उत्तर–गौतम! नायमर्थः समर्थः।

प्रश्न–तत् केनार्थेन?

उत्तर–गौतम! जीवो गर्भगतः सन् सर्वतः आहारयति, सर्वतः परिणामयति, सर्वतः उच्छ्वसति सर्वतः निःश्वसति, अभिक्षणम् आहारयति, अभिक्षणम् परिणमयति, अभिक्षणम् उच्छ्वसति अभिक्षणम् निःश्वसति। आहात्य आहारयति, आहत्य परिणमयति, आहत्य उच्छ्वसति, आहत्य निःश्वसति, मातृजीव–रसहरणी, पुत्रजीव रसहरणी, मातृजीवप्रतिबद्धा पुत्रजीवस्पृष्टा, तस्माद् आहारयति, तस्मात् परिणमयति, अपराऽपि च पुत्रजीव प्रतिबद्धा मातृजीव स्पृष्टा तस्मात् चिनोति, तस्माद् उपचिनोति, तत् तेनार्थेन यावत्–नो प्रभुर्मुखेन कावलिकम् आहारम् आहर्त्तम्।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! गर्भ में उत्पन्न होता हुआ जीव क्या इन्द्रिय वाला उत्पन्न होता है या बिना इन्द्रिय का उत्पन्न होता है?

उत्तर–हे गौतम! इन्द्रिय वाला भी उत्पन्न होता है और बिना इन्द्रिय का भी उत्पन्न होता है।

प्रश्न–भगवन्। सो किस कारण से?

उत्तर–हे गौतम! द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा बिना इन्द्रियों का उत्पन्न होता है और भावेन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रियों सहित उत्पन्न होता है। इसलिए गौतम ! ऐसा कहा है।

प्रश्न–भगवन्! गर्भ में उपजता जीव शरीर सहित उत्पन्न होता है या शरीर–रहित उत्पन्न होता है?

उत्तर–हे गौतम! शरीर–सहित भी उत्पन्न होता है और शरीर–रहित भी उत्पन्न होता है।

प्रश्न–भगवन् सो कैसे?

उत्तर– हे गौतम! औदारिक, वैक्रिय और आहारक शरीरां की अपेक्षा शरीर–रहित उत्पन्न होता है तथा तेजस, कार्मण शरीरों की अपेक्षा शरीर–सहित उत्पन्न होता है। इस कारण गौतम! ऐसा कहा है।

प्रश्न–भगवन्! जीव गर्भ में उत्पन्न होते ही क्या आहार करता है?

उत्तर–हे गौतम! आपस में एक दूसरे में मिला हुआ माता का आर्त्तव और पिता का वीर्य, जो कलुष और किल्विुष, है, जीव गर्भ में उत्पन्न होते ही उसका आहार करता है।

प्रश्न–भगवन्! गर्भ में गया हुआ जीव क्या खाता है?

उत्तर–हे गौतम! गर्भ में गया जीव, माता द्वारा खाये हुए अनेक प्रकार के रस विकारों के एक भाग के साथ माता का आर्तव खाता है।

प्रश्न–भगवन्! गर्भ में गया जीव के मल होता है? मूत्र होता है? कफ होता है? नाक का मैल होता है? वमन होता है? पित्त होता है?

उत्तर–गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है–यह सब नहीं होता है।

प्रश्न–भगवन्! सो कैसे?

उत्तर–गौतम! गर्भ में जाने पर जीव जो आहार खाता हे जिस आहार का चय करता है, उस आहार को श्रोत्र के रूप में यावत् स्पर्शेन्द्रिय के रूप में, हड्डी के रूप में, मज्जा के रूप में, बाल के रूप में, दाढी के रूप में, रोमों के रूप में और नखों के रूप में परिणत करता है। इसलिए हे गौतम! गर्भ में गये जीव के मल आदि नहीं होते।

प्रश्न–भगवन्! गर्भ में गया जीव मुख द्वारा कव आहार–ग्रास रूप आहार करने में समर्थ है?

उत्तर–गौतम! यह अर्थ समर्थ नहीं है–ऐसा नहीं हो सकता।

प्रश्न–भगवन्, सो क्यों?

उत्तर–गौतम! गर्भ में गया जीव सर्व आत्मा से (सारे शरीर से) आहार करता है, सारे शरीर से परिणमाता है, सर्व–आत्मा से उच्छ्वास लेता है, सर्व–आत्मा से निश्वास लेता है, बार–बार आहार करता है बार–बार परिणमाता है, बार–बार उच्छ्वास लेता है, बार–बार निश्वास लेता है। कदाचित् आहार करता है, कदाचित् परिणमाता है, कदाचित् उच्छ्वास लेता है; कदाचित् निश्वास लेता है। तथा पुत्र जीव को रस पहुंचाने में कारणभूत और माता के रस लेने में कारणभूत जो मातृ जीव–रसहरणी नाम की नाड़ी है, वह माता के जीव के साथ संबद्ध है और पुत्र के जीवके साथ जुड़ी हुई है। उस नाड़ी द्वारा पुत्र का जीव आहार लेता है और आहार को परिणमाता है। तथा एक और नाड़ी है जो पुत्र के जीव के साथ संबद्ध है और माता के जीव से जुड़ी हुई है। उससे पुत्र का जीव आहार का चय करता है और उपचय करता है। हे गौतम! इस कारण गर्भ–गत जीव मुख द्वारा कवल रूप आहार लेने में समर्थ नहीं है।

व्याख्यान

पहले विग्रहगति का विचार किया गया था। विग्रहगति एक दो, तीन या कभी–कभी चार समय में समाप्त हो जाती है। इस अल्पकाल में ही जीव पहले का शरीर छोड़कर नये उत्पत्ति स्थान पर पहुंचते समय अर्थात् गर्भ में प्रवेश करते समय और गर्भ में रहते समय जीव की क्या स्थिति होती है, इस विषय में गौतम स्वामी ने भगवान् से प्रश्न किये हैं। अब उन्हीं पर विचार किया जाता है।

गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! गर्भ में उत्पन्न होते समय जीव के इन्द्रियां होती है या नहीं होती?

इन्द्रिय का अर्थ कान, नाक, आंख, जीभ और त्वचा है। इन्हीं के विषय में यहां प्रश्न किया गया है। व्यवहार में ऐसा मालूम होता है कि जीव जब गर्भ में जाता है, तो उसके इन्द्रियां नहीं होतीं, वरन् पहले–पहले मांस का पिंड बनता है, फिर इन्द्रियां बनती हैं। गौतम स्वामी पूछते हैं कि व्यवहार में जैसा माना जाता है, वह ठीक है या इसमें और कोई भेद है?

गौतम के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हे गौतम! किसी अपेक्षा से जीव इन्द्रिय–सहित गर्भ में आता है, और किसी अपेक्षा से इन्द्रिय रहित गर्भ में आता है। अर्थात् द्रव्येन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रिय रहित आता है और भाव–इन्द्रियों की अपेक्षा इन्द्रिय–सहित आता है। गर्भ में आते समय जीव के द्रव्येन्द्रियां नहीं होतीं, भावेन्द्रियां होती हैं।

अब यह भी देख लेना चाहिए कि द्रव्येन्द्रिय और भावेंद्रिय किसे कहते हैं ? तत्वार्थ सूत्र के अ.2 सू–17 'निर्वृत्युपकरणे द्रव्येन्द्रियं' निर्वृति और उपकरण, यह द्रव्येन्द्रिय के दो भेद हैं। जो भाव को ग्रहण करे उसे द्रव्येन्द्रिय कहते हैं। द्रव्येन्द्रिय पौद्‌गलिक रचना विशेष है। द्रव्येन्द्रिय में एक उपकरण है, एक निर्वृति है। कान की अमुक आकृति निर्वृति कहलाती है। उसका सहायक उपकरण कहलाता है। किसी के कान एक प्रकार के और किसी के दूसरे प्रकार के होते हैं। छोटे और बड़े दोनों प्रकार के कानों से सुनाई देता है किन्तु कान की बनावट में प्राकृतिक अंतर होता है। लम्बे और मांस से भरे कानों की शक्ति और प्रकार होती है तथा छोटे तथा मांसहीन कानों का कुछ और ही प्रकार का सामर्थ्य होता है। बहरे आदमी के यह ऊपरी कान बने रहते हैं मगर सुनने की शक्ति उसमें नहीं होती। उपकरण कान वह है, जिनके बिना सुनना असंभव है। वह उपकरण और निर्वृति–दोनों ही द्रव्येन्द्रिय हैं। जीव गर्भ में द्रव्येन्द्रिय की अपेक्षा इन्द्रिय रहित ही जाता है, परन्तु भावेन्द्रिय लेकर आता है।

भावेन्द्रिय के भी दो भेद हैं 'लब्ध्युपयोगौ भावेन्द्रियं' त.सू. 18 लब्धि और उपयोग। लब्धि का अर्थ है–शक्ति जिसके द्वारा आत्मा, शब्द का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होता है, उसे लब्धि–इन्द्रिय कहते हैं। मगर लब्धि होने पर भी अगर उपयोग न हो तो काम नहीं चल सकता। उपयोग के अभाव में सुनना न सुनना बराबर है। योग्यता अर्थात् लब्धि तो हो, मगर उपयोग न हो तो लब्धि बेकार है। लब्धि के होते हुए भी उपयोग लगाने से ही काम चलता है। लब्धि का अर्थ ग्रहण करने का सामर्थ्य और उपयोग का अर्थ ग्रहण का व्यापार है। इन दोनों भावेन्द्रियों के साथ जीव गर्भ में आता है।

जीव गर्भ में भावेन्द्रिय–सहित आता है, इस बात का विश्वास कराने के लिए उसका कारण भी बतलाते हैं। अगर द्रव्येन्द्रिय और भावेन्द्रिय–दोनों को ही गर्भ में उत्पन्न माना जाय तो फिर आत्मा भी पहले का न रहेगा। अगर आत्मा पहले का और परलोक से गर्भ में आया हुआ माना जाय तो फिर यह भी मानना होगा कि वह परलोक से कुछ लेकर आता है। अगर साथ में कुछ न लाया तब तो जन्म लेने वाले सभी बालक एक ही तरह के होने चाहिएं, मगर वस्तुस्थिति इससे भिन्न प्रतीत होती है। एक ही माता के गर्भ से उत्पन्न होने वाले बेटों में कोई अंधा और कोई सूझता होता है, कोई बहिरा और कोई सुनने वाला होता है। आत्मा गर्भ में आते समय यदि कुछ भी साथ में न लाया होता

शरीर मां के पेट में बनता है, इस अपेक्षा से शरीर–रहित आता है। आत्मा, संसार–अवस्था में कभी अशरीर नहीं होता। अशरीर आत्मा तो केवल सिद्ध भगवान् है। आहारक तो पेट में भी नहीं बनता है।

कोई आत्मा अभी शरीर–रहित है किन्तु आगे शरीर धारण कर लेगा, ऐसा कदापि नहीं हो सकता। ऐसा मानने पर मुक्ति का अभाव हो जायगा। मुक्ति का अर्थ ही सूक्ष्म शरीर का त्याग करना है। जिसका सूक्ष्म शरीर नष्ट हो गया है, वह कभी स्थूल शरीर ग्रहण नहीं कर सकता। स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर से ही उत्पन्न होता है। सूक्ष्म कार्मण शरीर से स्थूल औदारिकादि शरीर बनते हैं। भाव–शक्ति होने पर ही द्रव्य काम आता है। भाव–शक्ति के अभाव में द्रव्य काम नहीं करता। इसी प्रकार सूक्ष्म शरीर रूप शक्ति से ही स्थूल शरीर बनता है।

सामान्य रूप से शरीर के पांच भेद हैं– "औदारिक वैक्रियाहारक तैजस कार्मणानि शरीराणि" (1) औदारिक (2) वैक्रिय (3) आहारक (4) तैजस और (5) कार्मण।

उदार का अर्थ स्थूल भी है, प्रधान भी है और जल्दी नाश होने वाला भी है। मनुष्य'शरीर (औदारिक) प्रधान इसलिए माना जाता है कि तीर्थंकर अथवा अन्य मोक्ष जाने वाले सभी औदारिक शरीर में प्रकट होकर ही मोक्ष जाते हैं। मोक्ष धर्म की साधना इसी शरीर से हो सकती है, दूसरे शरीर से नहीं। यह औदारिक शरीर सात धातुओं से बना हुआ और स्थूल–देखने में आने योग्य है।

दूसरा शरीर वैक्रिय है। दिव्य धातुओं से बना शरीर वैक्रिय कहलाता है। मनुष्य का शरीर मिट्टी का बना है और वैक्रिय शरीर दिव्य धातु से बना है। वैक्रिय शरीर विविध क्रियाओं से युक्त होता है। औदारिक शरीर वाला मुख से ही खा सकता है, परन्तु वैक्रिय शरीर वाला सब तरह से खा सकता है। औदारिक शरीर वाला, दरवाजे से ही घर के बाहर निकल सकता है, वैक्रिय शरीर वाला दीवार में से छिद्र के बिना ही निकल सकता है। वैक्रिय शरीर वाला सिर से भी चल सकता है। इस प्रकार वैक्रिय शरीर वाला विविध क्रियाओं से युक्त होता है। यह सब होने पर भी वैक्रिय शरीर की महत्ता ज्यादा नहीं है। वह अमर्यादित भ्रष्ट शरीर है। मुंह से खाते–खाते कान से भी खाने लगे, क्या पता? वैक्रिय और औदारिक शरीरों में ऐसा ही अन्तर है, जैसे राजा और नट में होता है। राजा मर्यादित है, नट अविश्वस्त है। औदारिक शरीर वाला कर्मनाश करके दिव्य ज्ञान पा सकता है परन्तु वैक्रिय

शरीर वाला नहीं पा सकता। वैक्रिय शरीर धारी ने त्रिलोकीनाथ का पद नहीं पाया, औदारिक शरीर ने ही यह पद पाया है।

आहारक शरीर विशिष्ट मुनियों को ही प्राप्त होता है किन्तु वह स्थायी नहीं रहता। चौदह पूर्वों के ज्ञाता मुनि को जब तत्त्वों के विषय में कोई जिज्ञासा होती है और केवली भगवान् पास में नहीं होते, तब मुनि अपनी लब्धि से एक प्रकाशमान पुद्गलपुंज बनाते हैं, वह आहारक शरीर कहलाता है।

तैजस और कार्मण शरीर अनादिकालीन हैं और सभी संसारी जीवों को होते हैं। खाये हुए आहार को पचाने और शरीर में ओज उत्पन्न करने का गुण तैजस शरीर में ही है। कर्मों का खजाना कार्मण शरीर कहलाता है। यही शरीर जन्म–जन्मान्तर का कारण है। इसी के द्वारा शुभाशुभ फल की प्राप्ति होती है। तैजस और कार्मण शरीर के साथ ही जीव गर्भ में आता है।

इसके पश्चात् गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया है, उसका आशय यह है कि भगवन्! माता–पिता के दिये हुए अंगों से बने शरीर का संबंध अखण्ड रहता है या कभी टूटता है? उसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हे गौतम! जब तक यह भवधारणीय शरीर है, अर्थात् वर्तमान जन्म में शरीर जब तक रहता है तब तक माता–पिता का ही यह शरीर समझना चाहिए।

आत्मा को समझ लेना चाहिए कि जब तक यह जीवन है–शरीर है, तब तक यह माता–पिता का ही है। अगर तुझमें अभिमान नहीं है तो ऐसा ही मानता रहे। आज तू पढ़–लिखकर भी दूसरे आडम्बर में पड़ रहा है और नजदीक सत्य को भुला रहा है।

विज्ञानवेत्ता कहते हैं–बारह वर्ष में शरीर पलट जाता है। अर्थात् शरीर के सब परमाणु बदल जाते हैं। यह कथन किसी अपेक्षा से ठीक हो, तो भी शास्त्र का यह कथन सत्य ही है कि जब तक भवधारणीय शरीर है तब तक माता–पिता संबंधी ही शरीर है।

शास्त्रकार ने यह बात इसलिए स्पष्ट कर दी है कि कोई मनुष्य हृष्ट–पुष्ट हो कर या बारह वर्ष के पश्चात् ऐसा न मान ले कि अब माता–पिता संबंधी शरीर नहीं रहा।

कोई कह सकता है कि माता–पिता का दिया हुआ शरीर दुबला था। अब हम तगड़े हैं। इसलिए यह शरीर अब माता–पिता का कहां रहा? ऐसा कहने वाले का विचार भ्रमपूर्ण है। जीव ने गर्भ में माता–पिता की धातुओं का जो आहार किया था, यह शरीर उसी आहार की करामात है। इस शरीर के

अन्दर वही आहार जीवन है। उसी पर यह सारा ढांचा खड़ा है। वह न हो तो जीवन भी न होगा। माता–पिता की धातुओं से जो आहार लिया है, वह आहार शरीर में जब तक रहता है, शरीर भी तभी तक रहता है और तभी तक जीवन भी है। वह आहार धीरे–धीरे समाप्त होने लगता है। जब वह समाप्त होने लगता है, तब इधर से आयु भी समाप्त होने लगती है। परिणाम यह होता है कि यह शरीर भी नहीं रहता।

यहां नास्तिक कह सकते हैं कि आखिर हमारी ही बात रही। हम कहते हैं–यह शरीर भूतों से बना हुआ है और भूतों के बिखर जाने पर नष्ट हो जाता है। यही बात जैन शास्त्र भी कहते हैं। जैन शास्त्र में भी यही वतलाया गया है कि शरीर रज और वीर्य से बना हुआ है, जब रज–वीर्य समाप्त हो जाता है, तब शरीर भी मर जाता है। जैन शास्त्र जिसे रज–वीर्य कहता है और हम उसे पंचभूत कहते हैं। अन्तर सिर्फ नाम का है। तत्त्व तो दोनों जगह समान हैं। हम कहते हैं–न कोई परलोक से आता है, न कोई परलोक जाता है। अगर परलोक से कोई आता होता तो वह स्वतंत्र होता, लेकिन जैन शास्त्रों के कथन से भी वह स्वतंत्र तो रहा नहीं, किन्तु रज और वीर्य के अधीन रहा। इस प्रकार जैन शास्त्र भी प्रकारान्तर से हमारी ही बात का समर्थन करते हैं।

इसके उत्तर में यह पूछा जा सकता है कि जो माता–पिता की धातुओं का आहार लेता है, वह आहार लेने वाला कौन है? उस आहार लेने वाले को क्यों भूले जा रहे हो? झाड़ पृथ्वी और पानी का संयोग लेता है तो क्या पृथ्वी और पानी का संयोग ही झाड़ है ? अगर झाड़ ही नहीं होगा तो पृथ्वी और पानी के संयोग को ग्रहण कौन करेगा? इसी प्रकार जब स्वतंत्र आत्मा है तभी तो वह माता–पिता की धातुओं से आहार लेता है। अगर आत्मा न होता तो आहार कौन लेता? उसने शरीर वांधा है, इसी से भूतों की भी सहायता ली है और जब शरीर की सहायता का त्याग करता है तो भूतों की सहायता का भी त्याग कर देता है। मगर यह सव कुछ करने वाला है आत्मा ही। आत्मा के अभाव में इतना सव कौन करता?

अव प्रश्न उपस्थित होता है कि माता–पिता के शरीर से लिया हुआ आहार जव तक रहता है, तव तक जीवन भी रहता है, तो फिर लोग अकाल मृत्यु से क्यों मरते हैं? जितने दिनों के लिए आहार शरीर में है, उतने दिनों तक जीवन रहना ही चाहिए वीच में मृत्यु कैसे हो सकती है ? माता–पिता की धातुओं का लिया हुआ आहार वीच में क्यों समाप्त हो जाता है ?

इस प्रकार की आशंका के कारण बहुतों ने यह मान लिया है कि जीना–मरना किसी के हाथ में नहीं है। जितनी आयु है, उतने ही दिन जीव जीयेगा। इसलिये किसी जीव को मौत से बचाने से क्या लाभ है? चाहे कोई रोगी रहे या निरोग रहे, संयत आहार–विहार करे या असंयत आहार–विहार करे, जीयेगा उतना ही, जितना आयुष्य है।

ऐसा समझने वाले लोगों की विवेक–विज्ञान की क्षमता रूप बुद्धि की सावधानी नष्ट हो गई है। अगर किसी भी जीव की मृत्यु अकाल में नहीं हो सकती तो तलवार से टुकड़े–टुकड़े कर देने पर भी किसी की मृत्यु नहीं होनी चाहिए। फिर तो यह भी न मानना होगा कि किसी के आघात से कोई जीव मर जाता है। यदि बचाने से कोई जीव बच नहीं सकता तो मारने से मरना भी नहीं चाहिए। ऐसी अवस्था में हिंसा हो ही नहीं सकती। कल्पना कीजिए, एक आदमी ने तलवार द्वारा दूसरे को मार डाला। जब मारने वाले पर अभियोग चला तो अपनी सफाई में वह कहता है–'मरने वाले की आयु जितनी थी, वह उतना जीवित रहा। आयु समाप्त होने पर वह मर गया।' तो क्या सरकार उसे छोड़ देगी? कदाचित् कहने लगे कि राज्य का कानून अपूर्ण है, इसलिए वह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता, तो शास्त्रीय नीति तो पूर्ण है। उसमें हिंसा को पाप क्यों कहा है? और समस्त संसार के शास्त्र इस विषय में एकमत क्यों हैं? अगर अकाल में किसी की मृत्यु नहीं होती तो फिर शरीर–विषयक सावधानी रखने की और दवा लेने की क्या आवश्यकता है ? फिर तो धर्मशास्त्र के साथ चिकित्सा शास्त्र भी निराधार ठहरता है।

शास्त्र कहता है कि आयुष्य दीपक के तेल के समान है। दीपक में रात भर के लिए जो तेल भरा हुआ है, उसमें अगर एक बत्ती डाल कर जलाओगे तो रात भर प्रकाश देगा, लेकिन अगर उसमें चार बत्तियां डाल दो तो भी क्या वह रात भर प्रकाश देगा? 'नहीं !'

इसी प्रकार आयुकर्म के पुद्गल खूटते (समाप्त होते) हैं, परन्तु यदि सावधानी से काम लो तो आयु और माता–पिता संबंधी आहार पूरे समय तक काम देंगे, अन्यथा बीच में ही खूट जाएंगे।

यह बात मैं अपनी तरफ से नही कहता। शास्त्र में कहा है–

अज्झवसाण निमित्ते आहारे वेयणा–पराघाए।
फासे आणापाणू, सत्तविहं छिज्जए आऊ ।।

अर्थात्–आयु का क्षय सात प्रकार से होता है–

(1) भयंकर वस्तु का विचार आने से (2) शस्त्र आदि निमित्त से (3) विषैले पदार्थों के आहार से या आहार के दीर्घकालीन निरोध से (4) शरीरिक वेदना से (5) गड़हे में गिरने आदि से (6) सर्प आदि के दंश–से और (7) श्वासोच्छ्वास की रुकावट से।

ठाणांगसूत्र के टीकाकार स्वयं एक प्रश्न उठाते हैं कि आयु का कम हो जाना या अधिक समय तक चलना, यह तो अनियमितता और अनहोनी बात होगी! इसका समाधान भी स्वयं वे ही करते हैं कि कोई अनहोनी बात नहीं है। आयु दो प्रकार से खूटता है–एक तो कायदे से, दूसरे बेकायदे। उदाहरणार्थ–सौ हाथ लम्बी रस्सी को अगर एक सिरे से जलाया जाय तो वह बहुत देर में जलेगी, अगर उसे समेट कर जलाया जाय तो वह बहुत जल्दी जल जायगी। यही बात आयुकर्म की भी है।

आयु जल्दी और देर में किस प्रकार समाप्त होती है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध किया जा सकता है। भारतीयों और अमेरिकनों के औसत आयु में भेद क्यों है? सुना है कि अमेरिका–निवासियों की औसत आयु साठ–सतर वर्ष के लगभग है, और भारतीयों की चौबीस वर्ष के लगभग ही। इस प्रकार भारतीय अल्प अवस्था में ही क्यों मर जाते हैं? इस का कारण यही है कि भारतीयों का रहन–सहन अनियमित और भोजन पान जीवन–वर्धक नहीं है, जब कि अमेरिकनों का ऐसा है। आप अपना जीवन किस प्रकार बिता रहे हैं, यह आप नहीं जानते।

अभिप्राय यह है कि आयु रस्सी, तेल या कपड़े के समान है। उसका उपयोग सावधानी से करोगे तो अधिक दिन टिकेगी, नहीं तो बीच में ही नष्ट हो जायगी। सावधानी से उपयोग करते हुए भी किसी अन्य कारण से अगर बीच ही में मृत्यु आ जावे तो उससे भय मत करो। मरने से डरना बुद्धिमानी नहीं है और मरने से न डर कर सावधानी न रखना भी बुद्धिमानी नहीं है। असल में जीवन–मरण के विषय में मध्यस्थ भाव रखने से ही शान्ति मिलती है।

प्रारम्भ की चीज का संस्कार अन्त तक रहता है, यह किसे नहीं मालूम है? आम की गुठली से झाड़ पैदा होता है, जिस में मोटा ताजा और बड़ी–बड़ी डालियां होती हैं। लेकिन उस बड़े झाड़ में भी अंकुर और बीज का धर्म रहता ही है। वह तभी जाता है, जब झाड़ समूल नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार माता–पिता की धातुओं का जो आहार गर्भ में लिया गया है, वह उम्र भर रहता है। उस आहार का संस्कार छूटा और प्राण गया।

आप के मां–बाप मनुष्य थे, इसी से आप मनुष्य हुए हैं। यदि वे जानवर होते तो आप भी जानवर होते। यानि आपको मनुष्यत्व देने वाले आपके मां–बाप हैं। उन्होंने आपको मनुष्य बनाया है और उनकी दी हुई मनुष्यता–जीवन के अन्त तक कायम रहेगी। आप बीच में पशु मत बनो पशुओं का–सा व्यवहार मत करो।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! जीव जब माता के गर्भ में होता है, तब उसे मल, मूत्र, कफ, नाक का मैल (सेड़ा), वमन (कै) और पित्त होता है या नहीं होता? इस का उत्तर भगवान् देते हैं–हे गौतम! ऐसी बात नहीं है। अर्थात् गर्भस्थ जीव के मल–मूत्र आदि नहीं होते। गौतम स्वामी इसका कारण पूछते हैं–भगवन् इसका क्या कारण है? हम लोग जो आहार करते हैं, उससे मल–मूत्र आदि भी बनते हैं, तो गर्भ में रहे हुए जीव के आहार से भी मल–मूत्र बनने चाहिए। मगर आप उनका निषेध करते हैं, तो इसका क्या कारण है?

भगवान् उत्तर देते हैं–गौतम! गर्भस्थ जीव जो आहार खाता है, वह सब उसकी इन्द्रियां आदि बनने के काम आता है। सारे आहार से उसके शरीर के विभिन्न भाग बनते हैं। इसलिए मल–मूत्र नहीं बनते।

गर्भस्थ जीव माता के रस का आहार करता है। रसभाग वही कहलाता है, जिससे खल भाग अलग हो गया हो। माता जो आहार करती है, वह दो रूपों में विभक्त होता है–खल भाग में और रस भाग में। गर्भ का जीव रस भाग का ही आहार करता है, अतः उसके मल मूत्र आदि हो ही नहीं सकते।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्, हम लोग जैसे कवलआहार करते हैं अर्थात् ग्रास के रूप में मुख द्वारा भोजन करते हैं, क्या उसी प्रकार गर्भस्थ जीव भी कवलाहार करता है? भगवान् उत्तर देते हैं–गौतम, यह बात नहीं है। गर्भ में रहा हुआ जीव मुख द्वारा आहार–कवलाहार नहीं कर सकता। तब गौतम स्वामी पूछते हैं–प्रभो! इसका कारण क्या है ? भगवान् उत्तर देते हैं–हे गौतम! गर्भ का जीव सारे शरीर से आहार लेता है, इसलिए वह कवलाहार नहीं कर सकता। वह जीव सम्पूर्ण शरीर से आहार करता है, सम्पूर्ण शरीर से उसे परिणमाता है, सम्पूर्ण शरीर से उच्छ्वास लेता है, सम्पूर्ण शरीर से निःश्वास लेता है और कदाचित् लेता है, कदाचित् नहीं भी लेता।

गर्भ का जीव सारे शरीर से किस प्रकार आहार लेता है, उसका स्पष्टीकरण यह किया गया है कि एक मातृ जीव रसहरणी नाली होती है।

(1) भयंकर वस्तु का विचार आने से (2) शस्त्र आदि निमित्त से (3) विषैले पदार्थों के आहार से या आहार के दीर्घकालीन निरोध से (4) शरीरिक वेदना से (5) गड़हे में गिरने आदि से (6) सर्प आदि के दंश–से और (7) श्वासोच्छ्वास की रुकावट से।

ठाणांगसूत्र के टीकाकार स्वयं एक प्रश्न उठाते हैं कि आयु का कम हो जाना या अधिक समय तक चलना, यह तो अनियमितता और अनहोनी बात होगी! इसका समाधान भी स्वयं वे ही करते हैं कि कोई अनहोनी बात नहीं है। आयु दो प्रकार से खूटता है–एक तो कायदे से, दूसरे बेकायदे। उदाहरणार्थ–सौ हाथ लम्बी रस्सी को अगर एक सिरे से जलाया जाय तो वह बहुत देर में जलेगी, अगर उसे समेट कर जलाया जाय तो वह बहुत जल्दी जल जायगी। यही बात आयुकर्म की भी है।

आयु जल्दी और देर में किस प्रकार समाप्त होती है, यह प्रत्यक्ष प्रमाण से भी सिद्ध किया जा सकता है। भारतीयों और अमेरिकनों के औसत आयु में भेद क्यों है? सुना है कि अमेरिका–निवासियों की औसत आयु साठ–सतर वर्ष के लगभग है, और भारतीयों की चौबीस वर्ष के लगभग ही। इस प्रकार भारतीय अल्प अवस्था में ही क्यों मर जाते हैं? इस का कारण यही है कि भारतीयों का रहन–सहन अनियमित और भोजन पान जीवन–वर्धक नहीं है, जब कि अमेरिकनों का ऐसा है। आप अपना जीवन किस प्रकार बिता रहे हैं, यह आप नहीं जानते।

अभिप्राय यह है कि आयु रस्सी, तेल या कपड़े के समान है। उसका उपयोग सावधानी से करोगे तो अधिक दिन टिकेगी, नहीं तो बीच में ही नष्ट हो जायगी। सावधानी से उपयोग करते हुए भी किसी अन्य कारण से अगर बीच ही में मृत्यु आ जावे तो उससे भय मत करो। मरने से डरना बुद्धिमानी नहीं हैं और मरने से न डर कर सावधानी न रखना भी बुद्धिमानी नहीं है। असल में जीवन–मरण के विषय में मध्यस्थ भाव रखने से ही शान्ति मिलती है।

प्रारम्भ की चीज का संस्कार अन्त तक रहता है, यह किसे नहीं मालूम है? आम की गुठली से झाड़ पैदा होता है, जिस में मोटा ताजा और बड़ी–बड़ी डालियां होती हैं। लेकिन उस बड़े झाड़ में भी अंकुर और बीज का धर्म रहता ही है। वह तभी जाता है, जब झाड़ समूल नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार माता–पिता की धातुओं का जो आहार गर्भ में लिया गया है, वह उम्र भर रहता है। उस आहार का संस्कार छूटा और प्राण गया।

आप के मां–बाप मनुष्य थे, इसी से आप मनुष्य हुए हैं। यदि वे जानवर होते तो आप भी जानवर होते। यानि आपको मनुष्यत्व देने वाले आपके मां–बाप हैं। उन्होंने आपको मनुष्य बनाया है और उनकी दी हुई मनुष्यता–जीवन के अन्त तक कायम रहेगी। आप बीच में पशु मत बनो पशुओं का–सा व्यवहार मत करो।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! जीव जब माता के गर्भ में होता है, तब उसे मल, मूत्र, कफ, नाक का मैल (सेड़ा), वमन (कै) और पित्त होता है या नहीं होता? इस का उत्तर भगवान् देते हैं–हे गौतम! ऐसी बात नहीं है। अर्थात् गर्भस्थ जीव के मल–मूत्र आदि नहीं होते। गौतम स्वामी इसका कारण पूछते हैं–भगवन् इसका क्या कारण है? हम लोग जो आहार करते हैं, उससे मल–मूत्र आदि भी बनते हैं, तो गर्भ में रहे हुए जीव के आहार से भी मल–मूत्र बनने चाहिए। मगर आप उनका निषेध करते हैं, तो इसका क्या कारण है?

भगवान् उत्तर देते हैं–गौतम! गर्भस्थ जीव जो आहार खाता है, वह सब उसकी इन्द्रियां आदि बनने के काम आता है। सारे आहार से उसके शरीर के विभिन्न भाग बनते हैं। इसलिए मल–मूत्र नहीं बनते।

गर्भस्थ जीव माता के रस का आहार करता है। रसभाग वही कहलाता है, जिससे खल भाग अलग हो गया हो। माता जो आहार करती है, वह दो रूपों में विभक्त होता है–खल भाग में और रस भाग में। गर्भ का जीव रस भाग का ही आहार करता है, अतः उसके मल मूत्र आदि हो ही नहीं सकते।

इसके अनन्तर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्, हम लोग जैसे कवलआहार करते हैं अर्थात् ग्रास के रूप में मुख द्वारा भोजन करते हैं, क्या उसी प्रकार गर्भस्थ जीव भी कवलाहार करता है? भगवान् उत्तर देते हैं–गौतम, यह बात नहीं है। गर्भ में रहा हुआ जीव मुख द्वारा आहार–कवलाहार नहीं कर सकता। तब गौतम स्वामी पूछते हैं–प्रभो! इसका कारण क्या है ? भगवान् उत्तर देते हैं–हे गौतम! गर्भ का जीव सारे शरीर से आहार लेता है, इसलिए वह कवलाहार नहीं कर सकता। वह जीव सम्पूर्ण शरीर से आहार करता है, सम्पूर्ण शरीर से उसे परिणमाता है, सम्पूर्ण शरीर से उच्छ्वास लेता है, सम्पूर्ण शरीर से निःश्वास लेता है और कदाचित् लेता है, कदाचित् नहीं भी लेता।

गर्भ का जीव सारे शरीर से किस प्रकार आहार लेता है, उसका स्पष्टीकरण यह किया गया है कि एक मातृ जीव रसहरणी नाली होती है।

रसहरणी का अर्थ है, नाभि का नाल। इस नाल द्वारा माता के जीव का रस ग्रहण किया जाता है। इस नाल का संबंध माता के शरीर के साथ होता है। इससे पुत्र को रस प्राप्त होता है। इसके सिवाय एक नाड़ी (नाल) और भी है जो पुत्र के जीव के साथ संबंध है और माता के जीव के साथ अटकी हुई है। इस नाल द्वारा पुत्र का जीव आहार का चय और उपचय करता है। इसी कारण उसके कवलाहार नहीं होता।

मूलपाठ–

प्रश्न– कइ णं भंते! माइअंगा पण्णत्ता?

उत्तर–गोयमा! तओ माइअंगा पण्णता। तंजहा–मंसे, सोणिए, मत्थुलुंगे।

प्रश्न– कइ णं भंते! पिइअंगा पण्णता?

उत्तर–गोयमा! तओ पिइअंगा पण्णता। तंजहा–अट्ठिं अट्ठिमिंजा, केस–मंसु–रोम–नहे।

प्रश्न–अम्मा पिइए णं भंते! सरीरए केवइयं कालं संचिट्ठइ?

उत्तर–गोयमा! जवाइयं से कालं भव धारणिज्जे सरीरए अव्वावण्णे भवइ एवतियं कालं संचिट्ठइ। अहे णं समए–समए वोयसिज्जमाणे, वोयसिज्जमाणे चरमकाल समयंसि वोच्छिण्णे भवइ।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–कति भगवन्! मात्रंगानि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर–गौतम! त्रीणि मात्रंगानि प्रज्ञप्तानि। तद्यथा–मांसम् शोणितम् मस्तुलुंगम्।

प्रश्न–कति भगवन्! पित्रंगानि प्रज्ञप्तानि?

उत्तर–गौतम! त्रीणि पित्रंगानि प्रज्ञप्तानि, तद्यथा–अस्थि, अस्थिमज्जा, केश–श्मश्रु–रोम नखः।

प्रश्न–अम्बापैतृकं भगवन्! शरीरं कियन्तं कालं संतिष्ठते?

उत्तर–गौतम! यावन्तं कालं तस्य भवधारणीयं शरीरम् अव्यापन्नं भवति एतावन्तं कालं संतिष्ठते। अथ समये समये व्यवकृष्टामाणं–व्यवष्टामाणं चरमकालसमये व्युच्छिन्नं भवति।

मूलार्थ–

प्रश्न–भगवन्! माता के अंग कितने कहे हैं?

उत्तर–हे गौतम! माता के तीन अंग कहे हैं। वे इस प्रकार मांस, रक्त और मस्तक का भेजा।

प्रश्न–भगवन्! पिता के कितने अंग कहे हैं?

उत्तर–हे गौतम! पिता के तीन अंग कहे हैं। वे इस प्रकार–हड्डी, मज्जा और केश–दाढी–रोम तथा नख।

प्रश्न–भगवन्! माता और पिता के अंग संतान के शरीर में कितने काल तक रहते हैं?

उत्तर–गौतम! संतान का भवधारणीय शरीर जितने समय तक रहता है उतने समय तक वे अंग रहते हैं। और जब भवधारणीय शरीर समय–समयहीन–प्रतिक्षण क्षीण होता जाता है और अन्त में जब नष्ट होता है, तब माता–पिता के अंग भी नष्ट हो जाते हैं।

व्याख्यान

गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं, भगवन्! सन्तान के शरीर में माता के कितने अंग हैं?

उत्तर–हे गौतम! सन्तान के शरीर में तीन अंग माता के हैं–यथा मांस, रक्त और मस्तक का भेजा। ये तीन माता के शोणित से बने हुए हैं।

प्रश्न–गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं, भगवन्! जिस प्रकार माता के तीन अंग हैं, उसी प्रकार पिता के कितने अंग हैं?

भगवान् उत्तर फरमाते हैं–हे गौतम! पिता के भी तीन अंग हैं–हाड, हाड की मिंझी और केश रोम–नख आदि–

शेष अंग सब माता एवं पिता दोनों के पुद्गलों से बने हुए हैं। इसलिये–शास्त्रकार कहते हैं कि माता पिता के उपकार से कभी उऋण नहीं हो सकता। यह शरीर उन्हीं माता पिता की देन है। अतः मनुष्य को माता–पिता का उपकार मानते हुए उनकी सेवा भक्ति करके उनका शुभाशीर्वाद प्राप्त करना ही हितावह होता है। जो मनुष्य माता–पिता की सेवा न करते हुए उन्हें दुःख कष्ट देते हैं और उनके हृदय को चोट पहुंचाते हैं वे अपनी उन्नति नहीं कर सकते! किन्तु जो सन्तान माता–पिता की सेवा भक्ति करते हैं, उनके चित्त को शान्ति पहुंचाते हैं, वे फलते–फूलते व अपना विकास करके संसार में यश प्राप्त करते हैं। वे धर्म भी सुगमता से प्राप्त कर उसके आराधक बन सकते हैं । क्योंकि मनुष्य की जड़ माता–पिता का हृदय है, वह जब तक हरा भरा बना रहता है तब तक मनुष्य फलता–फूलता है, किन्तु जब माता पिता का हृदय दग्ध कर दिया जाता है तो मनुष्य भी सूख जाएगा। मनुष्य के शरीर में माता–पिता के अंगों का संबंध जिन्दगी तक रहता है इस विषय में गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं कि–

भगवन्! माता–पिता के अंग सन्तान के शरीर में कितने काल तक बने रहते हैं?

उत्तर–गौतम! सन्तान का शरीर जब तक कायम रहता है, वहां तक माता–पिता के वे अंग कायम रहते हैं। समय–समय–वे पुद्गल छीजते हुए माता–पिता का यह ओज समाप्त हो जाता है तभी मनुष्य भी कायम नहीं रहता, मर जाता है। अतः सन्तान को माता–पिता के प्रति सदा वफादार रहना चाहिए।

मूलपाठ–

प्रश्न–जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे नेरइएसु उववज्जेज्जा?

उत्तर–गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

प्रश्न– से केणट्ठेणं?

उत्तर–गोयमा! से णं सण्णी पंचिदिए सव्वाहिं पज्जत्तीहिं पज्जत्तए वीरिय लद्धीए, वेउव्विय लद्धीए पराणीएणं आगयं सोच्चा निसम्म पएसे निच्छुभइ, निच्छुभित्ता वेउव्विय समुग्घाएणं समोहणइ, समोहणित्ता चाउरंगिणिं सेण्णं विउव्वइ, चाउरंगिणिं सेण्णं विउव्वित्ता चाउरंगिणीए सेणाए पराणीएणं सद्धिं संगामं संगामेइ। से णं जीवे अत्थकामए, रज्जकामए, भोगकामए कामकामए, अत्थकंखिए, रज्जकंखिए, भोगकंखिए, कामकंखिए, अत्थ पिवासए, रज्ज पिवासए, भोग पिवासए, काम पिवासए तच्चित्ते, तम्मणे तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाये, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पिय करणे, तब्भावणा भाविए, एंयसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज नेरइएसु उववज्जइ। से तेणटेणं गोयमा ! जाव अत्थेगईए उववज्जेजा, अत्थेगईए नो उववज्जेज्जा।

प्रश्न–जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे देवलोगेसु उववज्जेज्जा।

उत्तर–गोयमा! अत्थेगइए उववज्जेज्जा, अत्थेगइए नो उववज्जेज्जा।

प्रश्न–से केणट्ठेणं?

उत्तर–गोयमा! से णं सण्णी पंचिंदिए सव्वाहिं पज्जतीहिं पज्जत्तए तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा, अंतिए एगमवि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा, निसम्म तओ भवइ संवेग जाय सड्ढे, तिव्व धम्माणुराग रत्ते, से णं जीवे धम्म कामए, पुण्णकामए, सग्ग कामए, मोक्ख कामए, धम्म कंखिए, पुण्णकंखिए, सग्ग कंखिए,

मोक्ख कंखिए, धम्म पिवासए, पुण्णपिवासए, सग्ग पिवासए, मोक्ख पिवासए, तच्चित्ते, तम्मणे, तल्लेसे, तदज्झवसिए, तत्तिव्वज्झवसाणे, तदट्ठोवउत्ते, तदप्पिय करणे, तब्भावणा भाविए एंयसि णं अंतरंसि कालं करेज्ज देवलोगेसु उववज्जइ। से तेणट्ठेणं गोयमा!

संस्कृत–छाया

प्रश्न–जीवो भगवन! गर्भगतः सन् नैरयिकेषु उपपद्येत?

उत्तर–गौतम! अस्त्येकैक उपपद्येत, अस्त्यैकको नोपपद्येत।

प्रश्न–तत् केनार्थेन?

उत्तर–गौतम! स संज्ञी पंच्चेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तिको वीर्यलब्ध्या, वैक्रियलब्ध्या पराऽनीकम्! आगतं श्रुत्वा, निशम्य प्रदेशान् निक्षिपति, निक्षिप्य वैक्रियसमुद्घातं समवहन्ति, समवहन्य चतुरंगिणीं सेनां विकुर्वति, चतुरंगिणीं सेनां विकुर्व्य चतुरंगिण्या सेनया पराऽनीकं सार्धं संग्रामं संग्रामयते। सजीवोऽर्थकामुकः, राज्यकामुकः, भोगकामुकः, कामकामुकः, अर्थकांक्षी, राज्यकांक्षी, भोगकांक्षी, कामकांक्षी, अर्थपिपासकः, राज्यपिपासकः, भोगपिपासकः, कामपिपासकः, तच्चित्तः, तन्मनाः, तल्लेश्यः,तदध्यवसितः, तत्तीव्राध्यवसानः, तदर्थोपयुक्तः, तदर्पितकरणः, तद्भावनाभावितः, एतस्मिन् अन्तरे कालं कुर्यात्, नैरयिकेषु उपपद्यते। तत् तेनार्थेन गौतम! यावत्–अस्त्येकेकः उपपद्यते, अस्त्येक को नोपपद्यते।

प्रश्न–जीवो भगवन्! गर्भगतः सन् देवलोकेषु उपपद्यते?

उत्तर–गौतम अस्त्येकेक उपपद्यते, अस्त्येक को नोपपद्यते।

प्रश्न–तत् केनार्थेन?

उत्तर–गौतम! स संज्ञी पंचेन्द्रियः सर्वाभिः पर्याप्तिभिः पर्याप्तकः तथा–रूपस्य श्रमणस्य वा माहनस्य वा अन्तिके एकमपि आर्य धार्मिकं सुवचनं श्रुत्वा निशम्य, ततो भवति संवेग जातश्रद्धः तीव्रधर्मानुरागानुरक्तः, स जीवो धर्मकामुकः, पुण्यकामुकः, स्वर्गकामुकः, मोक्षकामुकः धर्मकांक्षी, पुण्यकांक्षी, स्वर्गकांक्षी, मोक्षकांक्षी, धर्मपिपासकः पुण्यपिपासकः, स्वर्ग–मोक्षपिपासकः, तच्चित्तः, तन्मनाः, तल्लेश्याः, तदध्यवसितः तत्तीव्राध्यवसानः, तदर्थोपयुक्तः, तदर्वितकरणः, तद्भावनाभावितः, एतस्मिन् अन्तरे कालं कुर्यात् देवलोकेषु उपपद्यते। तत् तेनार्थेन गौतम!

मूलार्थ–

प्रश्न–भगवन्! गर्भ में गया हुआ जीव फिर नारकियों में उत्पन्न होता है?

उत्तर–हे गौतम! कोई उत्पन्न होता है, कोई नहीं उत्पन्न होता।

प्रश्न–भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर–हे गौतम! वही संज्ञी पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तियों से पर्याप्त जीव वीर्यलब्धि द्वारा, वैक्रियलब्धि द्वारा, शत्रु की सेना आई सुन कर, अवधारण करके, आत्मप्रदेशों को गर्भ से बाहर के भाग में फैंकता है, फैंक कर वैक्रिय समुद्घात से समवहत हो, चतुरंगी सेना की विक्रिया करता है, चतुरंगी सेना की विक्रिया करके उस सेना से शत्रु की सेना के साथ युद्ध करता है। और वह अर्थ का कामी, राज्य का कामी, भोग का कामी, काम का कामी, अर्थ में लंपट, राज्य में लंपट, भोग में लंपट तथा काम में लंपट, अर्थ का प्यासा, राज्य का प्यासा भोग का प्यासा और काम का प्यासा, जीव, उन्हीं में चित्त वाला, उन्हीं में मन वाला, उन्हीं में आत्मपरिणाम वाला, उन्हीं में अध्यवसित, उन्हीं में प्रयत्न वाला, उन्हीं में सावधानता वाला, उन्हीं के लिए क्रियाओं का भोग देने वाला और उन्हीं के संस्कार वाला, उसी समय मृत्यु को प्राप्त हो तो नरक में उत्पन्न होता है। इसलिए हे गौतम! यावत्–कोई जीव नरक में जाता है और कोई नहीं जाता।

प्रश्न–भगवन्! गर्भ में रहा जीव देवलोक में जाता है?

उत्तर–हे गौतम! कोई जीव जाता है, कोई नहीं जाता है।

प्रश्न–भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर–हे गौतम ! संज्ञी पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तियों से पूर्ण तथा रूप श्रमण या माहन के पास एक भी धार्मिक और आर्य वचन सुनकर, अवधारण करके, तुरन्त ही संवेग से धर्म में श्रद्धालु बनकर, धर्म के तीव्र अनुराग में रक्त होकर, वह धर्म का कामी, पुण्य का कामी, स्वर्ग का कामी, मोक्ष का कामी, धर्म में आसक्त, पुण्य में आसक्त, स्वर्ग में आसक्त, मोक्ष में आसक्त, ध र्म का प्यासा, पुण्य का प्यासा, स्वर्ग और मोक्ष का प्यासा, उसी में चित्त वाला, उसी में मन वाला, उसी में आत्मपरिणाम वाला, उसीमें अध्यवरित, उसी में तीव्र प्रयत्न वाला, उसी में सावधानता वाला, उसी के लिए क्रियाओं का भोग देने वाला और उसी संस्कार वाला, जीव ऐसे समय में मृत्यु को प्राप्त हो तो देवलोक जाता है। इसलिए हे गौतम! कोई जीव देवलोक में जाता है, कोई नहीं जाता।

व्याख्यान

गर्भस्थ बालक का शरीर माता–पिता के शरीर से ही बनता है, यह बात नास्तिक अपने पक्ष के समर्थन में घटाने की चेष्टा करते हैं। इसलिए

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं–भगवन्! गर्भ में रहा हुआ जीव मर कर क्या नरक में जाता है?

अपने देखने में और नास्तिकों की समझ में तो गर्भ का बालक मां–बाप के विकार के सिवा और कुछ नहीं है। ज्ञानी भी यही कहते हैं कि गर्भ का बालक मां–बाप का विकार रूप ही है, परन्तु यह बात सिर्फ शरीर के संबंध में ही समझनी चाहिए। गर्भस्थ बालक का आत्मा तो स्वतंत्र ही है, वह पूर्वभव से आया है और उत्तर भव करेगा।

गौतम स्वामी ने जो प्रश्न किया है, उसका आशय यह है कि गर्भ का जीवन अज्ञान–अवस्था में पड़ा हुआ है और गर्भ के कारागार में बंद है। बिना पाप किये कोई जीव नरक में नहीं जाता। फिर नरक का जीव नरक में कैसे जा सकता है, क्योंकि वह पाप नहीं करता।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं–हे गौतम ! सब जीव समान नहीं हैं। कोई जीव गर्भ में ही मर कर नरक में जाता है और कोई जीव नरक में नहीं जाता। रही अज्ञान अवस्था की बात, सो राजकीय कानून में भी यह प्रश्न उठता है मगर राजकीय कानून अपूर्ण है। उसे प्रमाण भूत मानकर तत्त्व का निर्णय नहीं किया जा सकता। वास्तव में अज्ञान और सज्ञान अवस्थाएं उम्र पर निर्भर नहीं हैं। कई लोग जवानी में भी बालक से ज्यादा अज्ञान मुक्त होते हैं और कई जीव बाल्यावस्था में ही ज्ञानियों को भी मात कर देते हैं।

छोटी उम्र वाले को अज्ञान और बड़ी उम्र वाले को सज्ञान मानना संसार का कायदा है, परन्तु प्रकृति का कायदा अलग है। अतिमुक्त मुनि, जब छह वर्ष के बालक थे, तब भी उन्होंने अपनी माता से जो–जो बातें कहीं, उनका उत्तर वह नहीं दे सकी।

पुराण में देखो तो पुराण के अनुसार ध्रुव छह वर्ष के ही थे, और नारद की अवस्था कितनी थी सो कुछ पता नहीं फिर भी ध्रुव ने नारद की बातों का जो उत्तर दिया, उसे सुन कर नारद दंग रह गये। ध्रुव बहुत छोटे थे, छह वर्ष के ही थे, नाबालिग थे। इस अवस्था में उन्हें अज्ञान कहा जाय या सज्ञान कहा जाय? एक जगह लिखा है कि जब छह वर्ष के थे, तभी शुद्ध संस्कृत भाषा बोलते थे। ऐसी हालत में कुदरत के कायदे को क्या कहा जाय? किस अवस्था वाले को सज्ञान कहें और किस अवस्था वाले को अज्ञान कहें? इसलिए ज्ञानी पुरुष कहते हैं कि नरक में सज्ञान जीव ही जाता है, मगर सज्ञान–अज्ञान की कसौटी उम्र से नहीं बनाई जा सकती।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने कहा– हे गौतम! गर्भ में रहा हुआ कोई जीव नरक में जाता है और कोई नहीं जाता।

गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं–भगवन्! ऐसा क्यों है? तब भगवान फरमाते हैं–हे गौतम! यह बात साधारण जीव के लिए मत समझो किन्तु ओजस्वी, क्षत्रिय वंशी, राजवीर्य के लिए ऐसा कहा गया है। ऐसे जीव के बिना यह तेज नहीं आ सकता। गर्भ में किसी राजा का संज्ञी पचेन्द्रिय और पर्याप्त जीव हो, तो वह गर्भ में ही मरकर नरक में जा सकता है। जिसे वीर्य की अर्थात् पराक्रम की लब्धि प्राप्त हुई हो तो वह गर्भ में भी पराक्रम कर सकता है। राजा के उस जीव को यदि वीर्य की लब्धि और वैक्रिय लब्धि प्राप्त हो तो वह गर्भ से ही नरक में जा सकता है।

शास्त्र कहता है–वीर्य की लब्धि प्राप्त हो और वैक्रिय लब्धि प्राप्त न हो, या वैक्रिय लब्धि प्राप्त हो मगर वीर्य लब्धि प्राप्त न हो तो काम नहीं चल सकता। इन दोनों के होने पर ही काम चल सकता है।

गर्भ का जीव माता के सुख से सुखी और माता के दुःख से दुखी रहता है। माता के हर्ष और शोक का प्रभाव, गर्भ के बालक पर अवश्य पड़ता है। इसी कारण गर्भ की रक्षा करने वाली माता तीव्र हर्ष–शोक आदि नहीं करती। गर्भ चिकित्सा में लिखा है कि गर्भवती माता अगर भयभीत होती है तो उस भय का संस्कार गर्भ पर भी पड़ता है।

मान लीजिए, रजवीर्य का, वैक्रिय लब्धि और वीर्य लब्धि से युक्त बालक गर्भ में है और उसका पिता मर गया है। इतने में माता पर एक मुसीवत आ पड़ी। कोई दूसरा राजा अपनी सेना लेकर चढ आया। पिता मर गया है, आप गर्भ में है और माता चिन्ता में पड़ी है कि मेरा राज्य जा रहा है। इस गर्भस्थ बालक के पिता के प्रताप से तो सब लोग कांपते थे,पर उनके न रहने से मेरे राज्य के चले जाने का मौका आ गया! माता की चिन्ता का प्रभाव गर्भ के बालक पर भी पड़ता है और माता के मनोगत विचारों के अनुसार गर्भस्थ बालक के भी विचार होते हैं। वह बालक भी विचारने लगता है–'अहो यह शत्रु राजा मेरे पिता का राज्य लेने आया है।' यह सोच कर उसका अहंकार उग्र बनता है। फिर वैक्रिय लब्धि द्वारा वह आत्मप्रदेशों को गर्भ से बाहर निकाल वैक्रिय समुद्घात करता है। वैक्रिय समुद्घात करके वह गर्भ का बालक हाथी, घोड़े, रथ और प्यादे की चतुरंगिनी सेना तैयार करता है और आई हुई शत्रु की सेना से लड़ाई करता है। वह गर्भ का बालक, यह सभी कुछ धन–कामना से, राज्य–कामना से, भोग–कामना से, और काम–कामना से

करता है। उसे इनकी कांक्षा और पिपासा है। उसका अनुगत चित्त भी ऐसा ही बना है। उसका मन भी ऐसा ही और वृत्ति भी ऐसी ही है। उसका अध्यवसाय भी ऐसा ही बना हुआ है और उसी अर्थ में अर्पित हो गया है। अतएव उसकी भावना यही रहती है कि सामने वालों को मार डालूं और राज्य बचा लूं।

इस प्रकार वह गर्भ का जीव लड़ता–लड़ता जब अपनी वैक्रिय लब्धि को समेटने जाता है, तब छोटी शक्ति होने से उससे समेटा नहीं जाता और इस समेटने में वह मर भी जाता है। इस अवस्था में मरने से वह नरक में चला जाता है।

भगवान् की कही हुई यह बात प्रत्यक्षगम्य नहीं है । हम इन्द्रिय से यह बात नहीं देख सकते । इसलिए इस बात पर विश्वास कराने के लिए इतिहास का एक प्रमाण दिया जाता है ।

यहां यह कहा जा सकता है कि लड़ाई क्या नरक का कारण है ? इसका उत्तर यह है कि शस्त्र की लड़ाई है तो अनादि से, मगर हिंसा, असत्य की लड़ाई अलग है और अहिंसा, सत्य की लड़ाई अलग है। शास्त्र यह नहीं कहता कि शास्त्रों की प्रत्येक लड़ाई नरक का कारण है। शास्त्र की लड़ाई में भी अपराधी–निरपराधी का भेद है। लड़ाई कौरवों ने भी की थी और पाण्डवों ने भी की थी। सेना और शस्त्र आदि दोनों तरफ थे, परन्तु शास्त्र कहता है–पाण्डवों का पक्ष सत्य और सात्विकता का था और कौरवों का पक्ष असत्य एवं राजस था। मतलब यह है कि शस्त्र की प्रत्येक लड़ाई से नरक ही होता है, यह बात नहीं कही जा सकती।

इस बात पर यह शंका उठाई जा सकती है कि अगर शस्त्र की प्रत्येक लड़ाई नरक का कारण नहीं तो फिर जब बैरी चढ कर आया था और उससे वह गर्भ का बालक लड़ा तो उसे नरक क्यों जाना पड़ा? शास्त्र इस का उत्तर यह देता है कि किसी का पक्ष भले ही सत्य हो, लेकिन अत्यन्त तीव्र लालसा के कारण वह सत्य पक्ष भी असत्य बन जाता है। नरक का कारण अत्यन्त आसक्ति है। अत्यन्त आसक्ति न होने पर, सिर्फ शस्त्र की लड़ाई के कारण नरक में जाना ही पड़े, ऐसा कोई नियम नहीं है।

चेड़ा और कोणिक – दोनों ने शस्त्र संग्राम किया था। कोणिक ने भी मनुष्यों को मारा था और चेड़ा ने भी। फिर भी चेड़ा बारहवें देवलोक में और कोणिक नरक में गया। इस गति भेद का क्या कारण है? इस भेद का कारण यही है कि चेड़ा लड़ाई की हिंसा को हिंसा ही जानता–मानता था,

परन्तु साथ ही यह भी सोचता था कि संसार–कर्त्तव्य निभाना पड़ रहा है। जो इस हिंसा से मुक्त हो जाता है वही धन्य है। इस प्रकार की शुभ भावना से वह स्वर्ग में गया। आशय यह है कि तीव्र क्रोधादि ही नरक के कारण है। अनन्तानुवन्धी क्रोध के बिना नरक गति नहीं होती। इसलिए नरक का असली कारण क्रोध आदि है। आरंभ क्रोध का सहायक है। आरंभ से क्रोध बढ़ता है। परिग्रह लोभ रूप है ही।

अब यह भी प्रश्न होता उठता है कि गर्भ के बालक में इतना सब कुछ करने की शक्ति हो सकती है, यह बात मानने में नहीं आती। इसका समाधान यह है कि जिन्होंने यह बात लिखी है, उन ज्ञानियों में क्रोधादिक तो था ही नहीं, जिससे प्रेरित होकर वह असत्य या अतिशयोक्तिपूर्ण लिखते। अतएव महात्मा पुरुषों की बात में संदेह करने का कोई कारण नहीं है। शास्त्र की बात भक्ति से माननी चाहिए। छोटे बालक में भी विचार–गंभीरता होती है, यह बात इतिहास से भी मालूम हो जाती है।

इतिहास की बात है कि जयशिखर का लड़का वनराज चावड़ा पाटन का राजा था। वनराज बड़ा पराक्रमी था। उसके पराक्रम को देखकर सारा राजपूताना दंग था। उसका पराक्रम देख कर मारवाड़ के लोगों ने विचार किया कि अपने देश में भी वनराज सरीखा वीर उत्पन्न हो तो देश को बड़ा लाभ होगा। इस प्रयोजन की पूर्ति के लिए मारवाड़ी लोगों ने अपने यहां के भाटों से कहा–किसी भी प्रकार वनराज को अपने यहां ले आओ। यहां किसी कन्या से विवाह कर देंगे और उनकी संतान होगी वह वनराज सरीखी वीर होगी। भाट जयशिखर के समीप पहुंचे। उन्होंने मुक्त कंठ से जय शिखर की विरदावली का बखान किया। जयशिखर ने प्रसन्न होकर भाटों से इच्छानुसार मांगने के लिए कहा। भाटों ने जयशिखर से वचन लिया कि वह जो मांगेंगे, वही उन्हें मिलेगा। जयशिखर ने वचन दे दिया। तब भाटों ने कहा कृपा करके मारवाड़ पधारें। थोड़े दिनों के लिए अपना राज–पाट कर्मचारियों के सुपुर्द कर दें।

जयशिखर बड़े असमंजस में पड़ा। तुम लोगों ने यह क्या मांगा है! भाटों ने कहा–आपने मांगने की छुट्टी दी थी सो हमें जो अच्छा लगा सो मांग लिया। अब आप कृपा करके मारवाड़ पधारिये।

आखिर जयशिखर अपना राज्य सरदारों को सौंपकर भाटों के साथ मारवाड़ की ओर रवाना हुआ। रास्ते में जयशिखर ने पूछा–मैं चल तो रहा ही हूं, परन्तु यह तो बताओ कि तुम लोग किस उद्देश्य से मुझे लिए जा रहे हो?

भाटों ने उत्तर दिया—मारवाड़ में बनराज सरीखा वीर पुरुष उत्पन्न करना है। इसी उद्देश्य से आपको लिये जा रहे हैं। तब जयशिखर ने हंस कर कहा—वनराज अकेले मुझ से नहीं पैदा हुआ है। वनराज की मां सरीखी मां ही वनराज को जन सकती है। भाटों ने कहा—मारवाड़ में कन्याओं की कमी नहीं है।

जयशिखर ने कहा—कन्याएं तो होंगी, पर प्रत्येक से वनराज पैदा नहीं हो सकता। वनराज की मां जैसी स्त्री ही वनराज को जन्म दे सकती है। मैं ने तुम्हें मुंह मांगा वरदान दिया है, इसलिए मैं तुम्हारे साथ चल ही रहा हूं। परन्तु पहले देख लो कि वनराज की मां सरीखी कोई कन्या मारवाड़ में है या नहीं?

भाट बोले—आखिर वनराज की मां कैसी थी?

जयशिखर ने कहा—वनराज की माता का परिचय देने के लिए एक घटना बतलाता हूं उसी से तुम्हें उसके व्यक्तित्व का पता चल जायगा। जिस समय वनराज 6 महीने का था, उस समय एक बार मैं रानी के महल में गया। उस समय वनराज लेटा हुआ था। वनराज की मां से मैंने छेड़—छाड़ की। तब उसने कहा—आप को लज्जा नहीं मालूम होती कि सामने पर—पुरुष लेटा हुआ हैं। और आप मुझ से छेड़ छाड़ कर रहे हैं। मैंने हंस कर कहा—यह 6 महीने का शिशु ही क्या पुरुष है? तब उस ने उत्तर दिया—इसे 6 महीने का जान क्या आप पुरुष ही नहीं समझते?

मैं नहीं माना। मैंने फिर रानी से छेड़—छाड़ की। तब वनराज ने अपना मुंह फेर लिया। रानी ने यह देख कर कहा—देखो, तुम जिसे निरा शिशु समझते थे, उसने मुंह फेर लिया! मेरी प्रतिज्ञा थी कि मैं पर पुरुष के सामने अपनी इज्जत नहीं जाने दूंगी। लेकिन आपने पर पुरुष के सामने इज्जत लेकर मुझे प्रतिज्ञा भ्रष्ट कर दिया।

आखिर इसी बात पर वनराज की माता जहर पीकर सो गई। उसने फिर कभी मुंह नहीं बतलाया। तुम्हारे यहां कोई ऐसी माता है?

भाटों को यह सुनकर आश्चर्य हुआ। उन्होंने हताश होकर कहा—महाराज, हमारे यहां ऐसा कन्यारत्न मिलना कठिन है। अब आप प्रसन्नतापूर्वक लौट सकते हैं। निष्कारण कष्ट करने से क्या फायदा?

क्या बलवीर की यह बात साधारण आदमी की समझ में आ सकती है? वीर पुरुषों की यह बात वीर ही समझ सकते हैं। 6 मास के बालक की यह बात इतिहास की है और सिद्धान्त में गर्भ के बालक की बात लिखी है।

गर्भ का बालक लड़ाई करता है और क्रूर अध्यवसाय के कारण मर कर नरक में जाता है। जब आप इतिहास की बात पर विश्वास करते हैं तब सिद्धान्त की बात पर क्यों विश्वास नहीं करते?

नास्तिक लोगों का कथन है कि माता–पिता के रज–वीर्य से ही बालक उत्पन्न होता है और जब रज–वीर्य के संस्कार नष्ट होते हैं तब शरीर भी नष्ट हो जाता है। इतना ही नहीं, उनके मत के अनुसार शरीर के साथ शरीरवान् (चैतन्य आत्मा) भी नष्ट हो जाता है। लेकिन आगम से विदित होता है कि गर्भ का बालक स्वर्ग या नरक भी प्राप्त कर सकता है, तो उस बालक को केवल माता–पिता का रज–वीर्य ही कैसे माना जा सकता है? उस गर्भस्थ बालक में आत्मा की अद्भुत शक्ति है। आत्मा के तेज को और उसकी शक्ति को समझना सरल बात नहीं है। उसे न समझने के कारण ही नास्तिकता आती है और भौतिक पदार्थ पर ही सारा विश्वास केन्द्रित हो जाता है। यह वास्तव में समझ की कमजोरी है।

एक ही आत्मा नरक में भी जा सकता है और स्वर्ग में भी जाने की शक्ति रखता है। दोनों प्रकार की शक्ति मूल में एक ही है, उसका उपयोग भिन्न–भिन्न तरह से होता है। किसी शस्त्र से आत्मरक्षा भी हो सकती है और आत्महत्या भी हो सकती है।

यही दर्शाने के लिए गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! गर्भ में रहता हुआ जीव देवलोक में भी चला जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हां, गौतम ! चला जाता है। अर्थात् कोई जाता है, कोई नहीं जाता। तब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! ऐसा क्यों? भगवन् उत्तर देते हैं–हे गौतम! जैसा कारण होता है, वैसा कार्य होता है। जीव में स्वर्ग–नरक दोनों प्राप्त करने की शक्ति है। वह जैसी सामग्री जुटाता है, वैसी ही गति पाता है।

विशिष्ट सत्वशाली जीव ही गर्भ से स्वर्ग या नरक जा सकता है। सतोगुणी प्रकृति वाला जीव स्वर्ग जाता है और तमोगुणी प्रकृति वाला नरक जाता है। हे गौतम ! वह किसी महान् राजा का वीर्य संज्ञी पंचेन्द्रिय और सब पर्याप्तियों से पर्याप्त, जब माता के गर्भ में होता है, उस समय उसकी माता तथा रूप श्रमण माहन से धर्म का व्याख्यान सुनती है। उसी प्रकार गर्भ का बालक भी सुनता है, जैसे सेना लेकर चढाई होने की बात सुन सकता है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि श्रमण और माहन के साथ 'तथारूप' विशेषण क्यों लगाया गया है? 'तथारूप' विशेषण यह बात बतलाता है कि जैसा पुरुष है– जिसकी जिस रूप में प्रसिद्धि है, उसमें गुण भी उसी

प्रकार के हैं। उदाहरणार्थ माणिक इमीटेशन–नकली भी होता है और असली भी। इमीटेशन माणिक का स्वांग तो असली माणिक है। उसमें असली माणिक की विशेषता नहीं है। इसी प्रकार श्रमण–महान का स्वांग (वेष) धारण करने वाले बहुत हैं, परन्तु तथारूप के असली गुणयुक्त श्रमण–माहन सब नहीं होते। ऐसे किसी ऐरे–गैरे से अभिप्राय नहीं है। यहां श्रमण–माहन के शास्त्रोक्त गुणों से युक्त श्रमण–माहन का अर्थ लेना चाहिए। इसीलिए 'तथारूप' विशेषण' लगाया है। जिसका शत्रु–मित्र पर समभाव है, जो सतत तप में लीन रहता है, वह श्रमण कहलाता है। किसी से घृणा करने या किसी को संताप देने के लिए तप करना सुतप नहीं है; किन्तु समभाव के साथ, आत्मशुद्धि के लिए किया जाने वाला तप ही सुतप है। ऐसा सुतपस्वी ही श्रमण कहलाता है।

आप कह सकते हैं कि जिसे शत्रु–मित्र पर समभाव हो गया, उसे तप करने की क्या आवश्यकता है? इसका उत्तर यह है कि समभावी को भी तप करना पड़ता है। समभाव वाले को भी निराहार रहना पड़ता है। थोड़ी देर के लिए कल्पना कीजिए कि रोटी एक है और खाने वाले दो हैं–मां और बेटा। अगर मां खाती है तो बेटा भूखा रहता है और बेटा खाता है तो मां भूखी रहती है। ऐसी परिस्थिति में समभाव वाली मां आप भूखी रहकर बच्चे को खिला देगी, क्योंकि बच्चे के और अपने प्रति उसमें समभाव है। जो माता ऐसी नहीं है, बच्चे के प्रति कपट भाव रखती है, वह माता के गौरवपूर्ण पद की अधिकारिणी नहीं हो सकती। ऐसी माता की बात निराली है।

जैसे बच्चे के प्रति समभाव रखने वाली माता आप भूखी रहती है, उसी प्रकार समभाव रखने वाले महात्मा संसार को दुखी देखकर, अनशन करके भी संसार के दुख दूर करने का उपाय करते हैं। खुद की गर्ज के लिए अनशन करना एक बात है और अछूतों के लिए गांधीजी के समान अनशन करना दूसरी बात है।

जिस में समभाव होगा वह सोचेगा कि भारत में छह–सात करोड़ मनुष्यों को दो बार पेट भर भोजन नहीं मिलता और हम तीसों दिन, दोनों बार भोजन करते हैं। अगर दोनों समय भोजन करने वाले बीस–पच्चीस करोड़ मनुष्य एक माह में छह दिन भूखे रह जावें तो भूखे रहने वालों को भोजन भी मिल जाएगा और हमारे समभाव की रक्षा भी हो जायगी।

अन्न बचाने के अभिप्राय से अनशन करना दूसरी बात है। और त्याग (दान) के लिए अनशन करना अलग बात है। शास्त्रकारों ने दान, शील, तप और भाव का क्रम बताया है। यानि जितना तप करो उतना ही दान करो, यह

बतलाया है। तुम तप करके दूसरे भूखे मरने वालों को दान दो तो उनका भला होगा और तुम घाटे में भी नहीं रहोगे! जिसके हृदय में समभाव होगा, जिसके अन्तःकरण में पर के प्रति करुणा का भाव उत्पन्न होगा, वह तप किये बिना नहीं रहेगा।

माहण या मा–हन, ब्राह्मण को कहते हैं। ब्राह्मण में ब्रह्मचर्य के साथ 'मत मार' यह अर्थ भी गर्भित है। अर्थात् जो स्थूल–प्राणातिपात से स्वयं निवृत्त होकर, दूसरों को अहिंसा का–न मारने का–उपदेश देता है और ब्रह्मचर्य का पालन करता है वह 'मा–हन' कहलाता है। 'मत–मार' इस प्रकार के शब्द किस के मुख से निकलेंगे? जब वह स्वयं मारता होगा, तब वह दूसरों को नहीं मारने का उपदेश कैसे दे सकता है? वह तो मारने का ही उपदेश देगा। 'माहन' का अर्थ तो ऐसा ब्राह्मण है जो ब्रह्मचर्य पालन के साथ ही 'मतमार' का उपदेश देता है। लेकिन जो पुरुष यह कहता है कि–मैं मंत्र पढता हूं, तू छुरी चला' तो उसे ब्राह्मण किस प्रकार कहा जा सकता है?

तात्पर्य यह है कि श्रमण और माहन नकली भी होते हैं। इसलिए 'तथारूप' विशेषण लगाकर उसका निराकरण कर दिया है।

यहां एक प्रश्न यह खड़ा किया जा सकता है कि धर्म की बात किसी साधारण श्रमण–माहन से सुनी जाय या तथारूप श्रमण–माहन से सुनी जाय उसमें क्या अन्तर है? इसका उत्तर यह है कि शब्द ब्रह्म माना जाता है। शब्द में बहुत शक्ति है। तथारूप वाले शास्त्र को प्रेम से सुनाएंगे और अतथारूप वाले विना प्रेम के सुनाएंगे। प्रेम से सुनाये और विना प्रेम से सुनाये में बहुत अन्तर पड़ता है। एक हाथी–दांत, हाथी के मुंह में लगा हुआ होता है, बड़े–बड़े दरवाजे तोड़ देता है और दूसरा हाथी–दांत स्त्रियों की चूड़ी का है। हाथी–दांत तो वही है, परन्तु चूड़ी वना हुआ हाथी–दांत दरवाजे नहीं तोड़ सकता, पुरुषों के कलेजे को भले ही तोड़ दे, यानी सुन्दरता भले ही बढा सके। इसी प्रकार तथारूप वाले श्रमण के शब्द, हाथी के मुंह में लगे हुए दांत के समान शक्तिशाली है और अतथारूप वाले शब्दों को अलंकारी भले ही बना दें, शब्दचातुर्य द्वारा आटा भले ही कमा लें, लेकिन उनके शब्दों में वह वास्तविक शक्ति नहीं आ सकती। इसीलिए शास्त्र में तथारूप विशेषण देकर यह बात स्पष्टतया सूचित कर दी है।

भगवान् कहते हैं–हे गौतम! ऐसे तथारूप वाले श्रमण–माहन के मुख से गर्भवती माता व्याख्यान सुनती है और सुन कर गर्भ का जीव धर्म की ऊंची भावना भाता है और उस समय अगर काल कर जाता है तो वह स्वर्ग में जाता है।

इस प्रश्नोत्तर से यह निष्कर्ष निकलता है कि गर्भ के बालक को स्वर्ग भेजना या नरक भेजना बहुत कुछ माता के अधीन है। माता अपने बालक को जहां चाहे वहीं भेजने के योग्य बना सकती है। जिस माता के गर्भ का जीव स्वर्ग जाता है, वह माता ढोंग की पूजा करने वाली नहीं होती। आज गर्भवती माताएं अधिकांश ढोंग की पूजा करती हैं, इसलिए गर्भस्थ बालक पर भी वैसे ही संस्कार पड़ते हैं।

तथारूप श्रमण–माहन के वचन आर्य हैं। उनके वचनों में जरा भी विषमता नहीं है। जिस वचन में जरा भी विषमता न हो, वही आर्य वचन कहलाता है। श्रमण–माहन के मुख से निकले अनेक आर्य वचनों का तो कहना ही क्या है? अगर एक वचन भी गर्भ का बालक सुनकर धारण कर लेता है, तो भी वह स्वर्ग चला जाता है।

श्रावक को ब्राह्मण या माहन क्यों कहा है? इसका कारण यह है कि ब्राह्मणत्व का आधार कर्म है। कर्म से ही ब्राह्मण कहलाता है। उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है:–

कम्मुणा बम्हणो होई, कम्मुणा होई खत्तिओ।
कम्मुणा वेसिओ होई, कम्मुणा हवइ सुद्दाओ।।

अर्थात्–अमुक प्रकार के कर्म से ही ब्राह्मण होता है, अमुक प्रकार के कर्म से क्षत्रिय कहलाता है, अमुक प्रकार के कर्म से वैश्य कहलाता है और अमुक कर्मो के कारण शूद्र कहलाता है।

मनुस्मृति में भी यही बात कही गई है।

श्रावक स्थूल प्राणातिपात नहीं करता है। और 'जीव को मत मारो' वह सिद्धान्त प्रत्येक स्थान पर प्रकट करता है। यानि जो स्वयं हिंसा से निवत्त होकर दूसरों को भी निवृत्त होने का उपदेश देता है, वह माहन–श्रावक या ब्राह्मण कहलाता है। इस प्रकार माहन का अर्थ ब्राह्मण है, परन्तु वही ब्राह्मण है जो ब्रह्मचर्य का पालन करता हो। स्वस्त्री–संतोषी और परस्त्री–त्यागी भी देशब्रह्मचारी कहलाता है। 'एक नारी सदा ब्रह्मचारी' यह कहावत लोक में प्रसिद्ध ही है। ऐसे श्रमण–माहन के एक भी आर्य, धर्म–वचन को धारण करने वाला गर्भ का बालक स्वर्ग जा सकता है।

वचन और प्रवचन में अन्तर है। 'प्रकृष्टं वचनं प्रवचनम्' अर्थात उत्कृष्ट बोलना प्रवचन कहलाता है। अथवा 'प्रकृष्टस्य वचनं प्रवचनम्' अर्थात् उत्कृष्ट पुरुष का वचन प्रवचन कहलाता है। इसके विपरीत साधारण बोल–चाल को वचन कहते हैं। न्यायाधीश (जज) घर में भी बोलता है और

न्यायालय में भी बोलता है। परन्तु उसके दोनों जगह के वचनों में अन्तर रहता है। उत्कृष्ट वचन उसीके कहे जा सकते हैं जो निष्पक्ष हो– मध्यस्थ हो। इसलिए प्रवचन का अर्थ आप्तवचन है। जिसके राग–द्वेष नष्ट हो गये हैं और जिसमें पूर्ण ज्ञान है, वही प्रवचन कर सकता है। जिसका जीवन–व्यवहार प्रवचन के रंग में रंगा हुआ है, जो प्रवचन के अनुसार ही व्यवहार करता है, उसीसे सुना हुआ प्रवचन विशेष प्रभावजनक होता है। इसी कारण भगवान ने 'तहारूवाणं समणाणं माहणाणं' कह कर यह बात स्पष्ट कर दी है।

पापकर्मों से दूर रहने वाला आर्य कहलाता है। और आर्यों के आचार–विचार संबंधी वचन को प्रवचन कहते हैं।

जिसके वचन में निर्दोषता हो और जो वचन सुनने वाले को पाप से हटाए, उस पुरुष के ऐसे वचन को मानना उचित है। इसके विरुद्ध ज्ञान के अभिमान से उद्दण्ड और शुद्ध जीवन व्यवहार से रीते बड़े से बड़े पंडित की पापवर्धक बात भी सुनना उचित नहीं।

अब यह भी देखना उचित है कि पाप किसे कहना चाहिए? शास्त्रकारों ने पाप के अठारह भेद कर दिये हैं। इन अठारह पापों को भली–भांति समझ लेने से बहुत कुछ पापों से बचाव हो सकता है। इन अठारह पापों के अवान्तर भेद रूप पापों से बचना कदाचित् संभव न हो तो भी मूल अठारह पापों से बचने वाला भी आप्तवचन कहने का अधिकारी हो सकता है।

अठारह पापों में पांच आस्रव मुख्य हैं। फिर, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, कलह, अभ्याख्यान, पैशुन्य, परपरिवाद, रति–अरति, मायामृषा और अठारहवां मिथ्यादर्शन शल्य है। मिथ्यात्व का अर्थ है–वस्तु को उल्टी मानना। अर्थात् धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, जीव को अजीव, अजीव को जीव, साधु को असाधु और असाधु को साधु आदि मानना। इन अठारह पापों से बचा रहने वाला पुरुष आर्य कहलाता है और इन पापों से बचने के लिए उपदेश के जो वचन हैं, वह आर्य प्रवचन हैं। एक भी आर्य वचन गर्भ के बालक को संवेग और श्रद्धा में बलवान बना देता है।

सच्चा आर्य पुरुष पाप से घृणा करता है, किन्तु पापी से घृणा नहीं करता। पापी से घृणा करना पाप को बढ़ाना है। अक्सर लोग पाप से घृणा नहीं करते, किन्तु पापी से घृणा करते हैं। कोई गोघाती अगर आपके सामने आ जाय तो आप उसे झिड़क कर कहेंगे–चल, हट, पापी दुष्ट!' लेकिन ऐसा कहना पाप है या नहीं? मित्रों! अगर कोई ऐसा पापी आपके सामने आ जाय तो आपको सोचना चाहिए–इसका भी आत्मा मेरे ही समान है, परन्तु यह पाप

में पड़ा हुआ है। हे प्रभो! इसकी आत्मा मेरे ही समान या मुझ से भी अधिक उज्ज्वल बन जाय।'

हिंसा से हिंसा नहीं मिट सकती। जो हिंसा से हिंसा मिटाने का विचार करते हैं, वे विचारक नहीं हैं। इससे तो हिंसा की परम्परा और दीर्घ बन सकती है, हिंसा का उच्छेद नहीं हो सकता। मान लीजिए, एक आदमी हिंसा कर रहा है। आप उसे हिंसा करते देख मारने दौड़ते हैं या मारते हैं तो आपकी यह क्रिया क्या है? आप स्वयं हिंसा में प्रवृत्त होकर उस पहले हिंसक की कोटि में पहुंच जाते हैं। क्या आप दूसरों की हिंसा को बुरा समझते हुए भी अपनी हिंसा को बुरा न समझेंगे? अगर आप अपनी हिंसा को हेय नहीं समझते तो दूसरों द्वारा होने वाली हिंसा को हेय समझने का आपको क्या अधिकार है? अगर हिंसक जीव के प्रति आपके अन्तःकरण में सच्ची करुणा विद्यमान है तो प्रेम से उसे हिंसा से दूर करो। आपकी करुणा जैसी हिंस्य जीव पर है, वैसी ही हिंसक जीव पर होनी चाहिए। आपको मरने वाला जीव प्यारा लगता है तो मारने वाला भी प्यारा लगना चाहिए। उस पर भी आपको दया करनी चाहिए। ऐसा करने से आप अपना कल्याण तो करेंगे ही, साथ ही अद्‌भुत मंत्र से सहज ही हिंसक को हिंसा से बचा सकेंगे। अतएव पापी से कभी घृणा मत करो, केवल पाप से घृणा करो। अलबत्ता, पापी के पापों की सराहना भी न करना और उसके पापों को अपने आत्मा में प्रविष्ट न होने देना। सोचना कि यह अज्ञान के कारण पाप कर रहा है। वह अज्ञान मुझमें भी न आ जावे। मेरे अज्ञान का अन्त तभी होगा, जब मैं पापी के बदले पाप से घृणा करूंगा।

कभी-कभी ऐसा अवसर आ पड़ता है कि पापी से असहकार करना अनिवार्य हो जाता है। और उस समय ऐसा करना भी अच्छा होता है। मगर असहकार में भी घृणा या द्वेष को स्थान नहीं है। असहकार पाप की भागीदारी से बचने के लिए किया जाता है। डाक्टर यदि रोगी को लेकर पड़ा रहे तो रोगी को भी फायदा न होगा और स्वयं डाक्टर भी रोगी हो जायगा। इसलिए डाक्टर दूसरे को भी यही कहेगा कि रोगी के रोग के चेप से बचने के लिए तुम दवा पास रक्खो और रोगी से चिपटो मत। यानी डाक्टर रोगी का रोग भी मिटाना चाहता है और अपने में तथा दूसरे में रोग भी नहीं फैलने देता।

शास्त्र में भी ऐसी बात समझाई है, लेकिन समझफेर से लोग कुछ का कुछ अर्थ करते है। उदाहरण के लिए-शास्त्रों में कहा है कि हिंसक, गोघाती एवं शराबी की संगति मत करो। इसका अर्थ हम लोग यह समझ

बैठते हैं कि उनसे घृणा करो। लेकिन ऐसा अर्थ समझना भ्रम है। हमें सोचना चाहिए कि शास्त्रकारों ने संगति न करने का उपदेश क्यों दिया है ? शास्त्रकारों का कथन है कि आत्मा तो पापी की भी हमारे ही समान है, लेकिन अगर हमारे भीतर कमजोरी हुई तो उसका पाप हम में घुस जायगा। अतएव पाप से बचे रहने के लिए पापी की संगति मत करो। हां, अगर तुम अपने में पाप न आने देकर उस पापी का पाप मिटा सकते हो, जैसे डाक्टर रोगी का रोग अपने में न आने देकर मिटा देता है, तब तो पापी की संगति करके उसका पाप मिटाना अच्छा ही है। मगर इतनी दृढता तुम्हारे भीतर नहीं है तो पापी से असहकार करना अच्छा है।

शास्त्र में एक धर्मात्मा पिता की कथा आई है, जिसने अपने पुत्र के विरुद्ध चोरी की गवाही दी थी। तात्पर्य यह है कि पापी को उत्तेजन देना ठीक नहीं है और ऐसा करने के लिए कभी असहकार करना उचित हो जाता है परन्तु किसी भी दशा में पापी से घृणा करना उचित नहीं हो सकता।

कदाचित् मेरा कोई चेला धर्म न पाले तो उससे असहकार करने के सिवा और क्या उपाय है? ऐसा करने का अर्थ कोई फूट डालना समझे तो भले ही समझे, मगर यह फूट डालना नहीं है, यह तो धर्मपालन है। फूट उस अवस्था में समझी जा सकती है जब वह चेला अपने दोष का प्रायश्चित्त करके धर्मपालन स्वीकार करे और फिर भी हम उसे अपने साथ सम्मिलित न करें।

गौतम स्वामी के प्रश्न का जो उत्तर भगवान ने दिया है, उसके विषय में एक आशंका यह की जा सकती है कि गर्भ का बालक माता के कान से कैसे सुन सकता है? इसका समाधान यह है—एक आदमी, एक कमरे में बैठ कर कुछ बोलता है। कमरे की दो दीवारों में से एक में छेद है और दूसरी में नहीं है। तो जिस दीवार में छेद नहीं है, उसके दूसरी ओर बैठा हुआ आदमी शब्द नहीं सुन सकेगा, परन्तु जिस दीवार में छेद है, उसके दूसरी ओर बैठने वाला शब्द सुन लेगा। इसी प्रकार माता के कान में होकर नाड़ियों द्वारा गर्भ में भी शब्द पहुंचता है। इसके सिवा संकट के समय इन्द्रियों का वेग स्थिर और प्रबल होता है, इस कारण भी गर्भ का बालक बात सुन लेता है। उदाहरण के लिए कीड़ी की अपेक्षा आपके नाक के द्वारा विषय—ग्रहण करने की शक्ति अधिक है, फिर भी वस्तु की जितनी गंध कीड़ी को आती है, उतनी आपको नहीं आती। किसी जगह पड़ी हुई शक्कर की गंध चिऊंटी को तो आ जाती है, मगर आप को क्यों नहीं आती? चिऊंटी के आंख नहीं है और वह बिल में घुसी हुई है, फिर उसे यह खबर कैसे लग गई कि इस जगह शक्कर पड़ी

है? वास्तव में गंध उस बिल में गई, जहां चिऊंटी थी। शक्कर के गिरते ही शक्कर की गंध सब जगह फैल जाती है। उस गंध के सहारे कीड़ी बिल से बाहर निकल कर चली और जिधर से अधिक गंध आने लगी, उसी और चल पड़ी। चलते–चलते वह शक्कर के पास पहुच गई। इस प्रकार गंध के द्वारा कीड़ी ने इतना पता लगा लिया, परन्तु आप भी क्या इतना पता लगा सकते हैं? नहीं!

क्यों? इसका कारण यह है कि चिऊंटी में यद्यपि मन नहीं है, तथापि अध्यवसाय है और वह एकाग्र है। इसी कारण उसे जल्दी गंध का पता लग जाता है। आप का अध्यवसाय बंटा रहता है। आपके मन में बड़े–बड़े विचार उत्पन्न होते रहते हैं। इसलिए आपको पता नहीं लगता।

पिछली रात में जाग जाने पर आपको जो शब्द सुनाई देते हैं वे दिन में क्यों नहीं सुनाई देते? इसका कारण भी यही है कि पिछली रात में व्याघात नहीं होते और अध्यवसाय एकाग्र रहता है। इसी प्रकार चिऊंटी का अध्यवसाय एकाग्र रहने से उसे गंध का ज्ञान जल्दी हो जाता है।

तात्पर्य यह है कि गर्भ के बालक का मन इधर–उधर नहीं डोलता। अतएव माता के ध्यान में जो बात आती है, वह गर्भस्थ बालक के ध्यान में भी आ सकती है।

लोग सन्तान प्राप्त करने के लिए न जाने कितनी खटपट किया करते हैं, परन्तु सन्तान पाकर उसे संस्कारयुक्त बनाने में लिए कोई विशेष प्रयत्न नहीं करते। आप यह जानते हैं कि माता के विचारों एवं चेष्टाओं का प्रभाव गर्भ के बालक पर पड़ता है। क्या माता उसे सुधारने की चेष्टा करती है? अगर आप यह चेष्टा नहीं करते तो सुधरी हुई सन्तान कैसे पा सकते हैं? आपके सामने अच्छी से अच्छी वस्तु मौजूद है, उसे लेना न लेना आपकी इच्छा पर निर्भर है।

भगवान् महावीर के भक्त भगवान् की जय बोलने से पहले महारानी त्रिशला और महाराज सिद्धार्थ की जय क्यों बोलते हैं? प्रयोजन तो भगवान् से है, फिर इनकी जय बोलने का क्या प्रयोजन है? मगर ऐसा कृतघ्न कौन होगा जो भगवान् को तो माने और उनके माता–पिता को भुला दे? कन्या का किसी वर के साथ विवाह कर देने पर अगर कन्या, उस वर के माता–पिता के प्रति अनुगृहीत न हो, उन्हें वर से भी पहले पूज्य न माने तो वह कन्या कैसी समझी जायगी? यह बात आप लोग जानते ही हैं। इसी प्रकार भगवान् महावीर में जो शक्ति आई, उसका कुछ भी श्रेय उनके माता–पिता को नहीं

है? अतएव भगवान् को पूज्य मानने वालों को चाहिए कि वे उनके माता–पिता को न भूलें, जिन्होंने भगवान् महावीर को संस्कारसंपन्न बनाने का प्रयत्न किया है। ऐसा करने से ही कृतज्ञता ठहरेगी।

लोग प्रायः गर्भवती स्त्री का कोई ध्यान नहीं रखते। गर्भवती स्त्री गंदा भोजन करे, गंदी हंसी–मसखरी करे, और गंदा व्यवहार करे तो क्या गर्भ पर बुरा प्रभाव न पड़ेगा? पुरुष, गर्भवती स्त्री से भी संसार–व्यवहार करने से बाज नहीं आते, इसका असर गर्भ पर बुरा पड़ता है। ऐसा व्यवहार तो पशु भी नहीं करता। मगर मनुष्य कहलाने वाले जीव अपने विवेक को भूल कर विषयवासना के कीड़े बने रहते हैं।

कदाचित् धर्मशास्त्र पर और विज्ञान पर विश्वास न हो तो भी डाक्टर की बात तो मानो! डाक्टर का यह निश्चित मत है कि जो पुरुष स्त्री से मैथुन करते हैं, वे गर्भ के बालक पर घोर अत्याचार करते हैं। ऐसा करने वाले लोग पिशाचों से भी गये बीते हैं।

मतलब यह है कि धर्मशास्त्र और साइंस दोनों स्पष्ट बतलाते हैं कि गर्भवती स्त्री के सामने जो दृश्य होता है, उसका असर गर्भ पर भी पड़ता है। गर्भवती के सामने जो शक्ल–सूरत होती है, उसका प्रभाव गर्भ की संतान पर पड़े बिना नहीं रहता। इसी प्रकार गर्भवती स्त्री जो सुनती या सोचती है, उसका असर भी गर्भ पर अवश्य पड़ता है। धर्म कामना और पुण्य कामना का फल मोक्ष कामना और स्वर्ग कामना है। यद्यपि कामना मात्र वर्जित है, पर यहां कामना का अर्थ दूसरा ही है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अगर स्वर्ग की भी कामना नहीं करनी चाहिए तो फिर शास्त्र में धर्म–कामना, स्वर्ग–कामना तथा मोक्षकामना का पाठ क्यों आया है? इसका उत्तर यह है कि एक आदमी पथ्य खाता है। ऐसे आदमी के लिए यह कहा जाता है कि यह निरोग रहने की कामना करता है। और जो आदमी कुपथ्य खाता है, उसके संबंध में यह कहा जाता है कि यह रोगी बनना चाहता है। इसी प्रकार धर्म सुनने वाले के प्रति, धर्मश्रवण करने के कारण यह कहा जाता है कि यह आत्मा स्वर्ग और मोक्ष का कामी है।

गर्भ का बालक स्वर्ग और मोक्ष की कामना करता है, कामना और कांक्षा में अन्तर है। अत्यन्त बढ़ी हुई कांक्षा, कामना कहलाती है। जैसे एक तो प्यास का लगना और दूसरे प्यास का अत्यधिक बढ़ जाना। प्यास बढ़ जाने पर पानी के लिए बेचैनी हो जाती है। पहली कांक्षा थी तब बेचैनी नहीं थी। जब पानी के बिना नहीं रहा जाता तब कामना हुई।

इससे आगे कहा है स्वर्ग और मोक्ष की पिपासा होती है। जैसे प्यास लगने पर पानी पीने की इच्छा होती है, इसी प्रकार धर्म सुनने पर गर्भ के बालक में स्वर्ग और मोक्ष की पिपासा होती है।

यहां भक्ति और धर्म दोनों का समावेश है। भक्ति वही सच्ची है जो धर्म को चाहे। एक भक्त ने कहा है–

भक्ति एवी रे भाइ एवी, जेम तरस्या ने पाणी जेवी।
एक माछली जल में रमे छे, निशदिन रहेवो तेने गमे छे।
कोई पापीए बाहर काढी, मुई पडफड़ी अंग पछाड़ी।।
जाव जावतां जल ने समस्यो, एम गुरू चरणो चित्त धरयो।।

धर्म–पुण्य की पिपासा या भक्ति की पिपासा एक ही वस्तु है। कोई पूछे कि भक्ति करें? तो इसका उत्तर यह होगा कि जैसे मछली जल की भक्ति करती है, वैसे ही भक्ति करो। मछली सदा जल में ही रहती है। लेकिन क्या वह कभी ऐसा सोचती है कि मुझे जल में रहते बहुत दिन हो गये, अब जल से बाहर निकलूं? नहीं। यह तो मछली से ही पूछो कि उसे निरन्तर जल में रहना कैसे अच्छा लगता है? इसी प्रकार भक्त की बात भक्त ही समझ सकता है।

मछली को कोई जल से बाहर निकाल दे तो वह तड़फड़ा कर जल को ही याद करेगी। उसे कोई मखमल की गादी पर रक्खे और बढ़िया से बढ़िया भोजन दे, लेकिन उसे वह सब अच्छा नहीं लगेगा। वह जल के लिए ही तड़फड़ाएगी। जब तक उसके प्राण नहीं निकल जाएंगे, वह जल के लिए ही बेचैन रहेगी। आप भी मछली की तरह धर्म या गुरु को मानने लगो तो आपका कल्याण होगा।

आप में धर्म की भावना तो है, किन्तु कल्याण तब होगा जब वह भावना बढ़ती जाय। धर्म की भावना में लौकिक वासना होना दुखदायी है, इसलिए वासना को मत उत्पन्न होने दो और जो पहले से विद्यमान है, उसे निकाल बाहर करो। जैसे मछली को पानी ही सुहाता है और पानी के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुहाता, इसी प्रकार आपको धर्म ही प्रिय लगे और धर्म के सिवाय और कुछ भी प्रिय न लगे। वासना त्याग दो। भक्ति किसी प्रकार के बदले के लिए मत करो। कामना रहित होकर भक्ति करने वाले का कल्याण होता है।

गर्भस्थिति

मूलपाठ

प्रश्न–जीवे णं भंते! गब्भगए समाणे उत्ताणए वा, पासिल्लए वा, अंब खुज्जए वा, अच्छेज्ज वा, चिट्ठेज्ज वा निसीएज्ज वा, तुयट्टेज्ज वा, माउए सुयमाणीए सुवइ, जागरमाणीए जागरइ सुहियाए सुहिए भवइ, दुहियाए दुहिए भवइ?

उत्तर–हंता गोयमा! जीवे णं गब्भगए समाणे जाव दुहियाए दुहिए भवई। अहे णं पासवण कालसमयंसि सीसेण वा, पाएहिं वा आगच्छइ, सम्मं आगच्छइ, तिरियं आगच्छइ, विणिहायं आवज्जइ, वण्णवज्झाणि य से कम्माइं बद्धाइं, पुटाइं, निहत्ताइं, कडाइं, पटवियाइं, अभिनिविटाइं, अभिसमण्णागयाइं, उदिण्णाइं, णो उवसंताइं, भवंति, तओ भवइ दुरूवे, दुवण्णे दुगन्धे, दुरसे, दुफासे, अणिटे, अंकते, अप्पिए, असुभे, अमणुण्णे, अमणामे, हीणस्सरे, दीणस्सरे, अणिटस्सरे, अंकतस्सरे, अप्पियस्सरे, असुभस्सरे, अमणुण्णसारे, अमणामस्सारे, अणाएज्ज वयणे, पच्चायाए, या वि भवइ। वण्णवज्झाणि य से कम्माइं नो बद्धाइं, पसत्थं णेयव्वं जाव आदिज्ज वयणे पच्चायाए या वि भवइ।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति। सत्तमो उद्देशों सम्मतो ।।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–जीवो भगवन्! गर्भगतः सत् उत्तानको वा, पार्श्वीयो वा, आम्रकुब्जको वा, आसीत् वा, तिष्ठेत् वा, त्वर्तयेत वा, मातरि स्वपत्यां, स्वपिति, जाग्रत्यां जागर्ति, सुखितायां सुखितो भवति, दुःखितायां दुःखितो भवति?

उत्तर–हन्त गौतम! जीवो गर्भगतः सत् यावत् दुःखितायां दुःखितो भवति, अथ प्रसवन कालसमये शीर्षेण वा,पादाभ्यां वा आगच्छति, सम्यग् आगच्छति, तिर्यग् आगच्छति, विनिघातं आपद्यते, वर्णवध्यानि च तस्य कर्माणि

बद्धानि, प्रष्टानि, निधत्तानि, कृतानि, प्रस्थापितानि, अभिनिविष्टानि, अभिसमन्वागतानि, उदीर्णानि, उपशान्तानि भवन्ति। ततो भवति दुरूपः दुर्वर्णः, दुरसः, दुःस्पर्शः, अनिष्टः, अकान्तः, अप्रियः, अशुभः, अमनोज्ञः, अमनोयः, हीनस्वरः, दीनस्वरः, अनिष्टस्वरः, अकान्तस्वरः, अप्रियस्वरः, अशुभस्वरः, अमनोज्ञस्वरः, अमनोस्वरः, प्रत्या जातश्चापि भवति। वर्णवध्यानि च तस्य कर्माणि नो बद्धानि, प्रशस्तं ज्ञातव्यं यावत्आदेयवचनः प्रत्या जातश्चापि भवति।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति।

मूलार्थ

प्रश्न–भगवन्! गर्भ में रहा हुआ जीव चित्त होता है? या करवट वाला होता है? आम के समान कुबड़ा होता है? खड़ा होता है? बैठा होता है? या पड़ा–होता है? तथा जब माता सो रही हो तो सोता होता है? जब माता जागती हो तो जागता है? माता के सुखी होने पर सुखी होता है ?और माता के दुःखी होने पर दुःखी होता है?

उत्तर–हे गौतम! हां, गर्भ में रहा हुआ जीव यावत् जब माता दुःखी हो तो दुःखी होता है। अब, वह गर्भ अगर मस्तक द्वारा या पैरों द्वारा बाहर आवे तो ठीक तरह आता है, अगर आड़ा होकर आवे तो मर जाता है। और उस जीव के कर्म यदि अशुभ रूप में बंधे हों, स्पृष्ट हों, निधत्त हों, कृत हों, प्रस्थापित हों, अभिनिविष्ट हों, अभिसमन्वागत हों, उदीर्ण हों, और उपशान्त न हों, तो वह जीव कुरूप, खराब वर्णमाला, खराब गंध वाला, खराब रस वाला, खराब स्पर्श वाला, अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ, अमनाम (जिस का स्मरण भी खराब लगे) हीन स्वर वाला, दीन स्वर वाला, अनिष्ट स्वर वाला, अकान्त स्वर वाला, अप्रिय स्वर वाला, अशुभ स्वर वाला, अमनोज्ञ स्वर वाला, अमनाम स्वर वाला, अनादेय वचन (जिस की बात कोई न माने) हो और यदि उस जीव के कर्म अशुभ रूप में न बंधे हों तो सब प्रशस्त समझना, यावत् वह जीव आदेय वचन वाला होता है।

'भगवन्! यह इसी प्रकार है, भगवन् यह इसी प्रकार है!' गौतम स्वामी ऐसा कह कर विचरते हैं।

व्याख्यान

गौतम स्वामी ने भगवान् से गर्भ के जीव के विषय में स्वर्ग–नरक संबंधी बात पूछी। आत्मा का स्वर्ग–नरक आदि से प्रगाढ संबंध है, फिर भी स्वर्ग नरक तो दूर रहा आत्मा को अपने ही संबंध की बात ठीक तरह समझ में नही आती। अनेक ऐसे गूढ विषय हैं जो साधारण समझ वालों की समझ

में नही आते; परन्तु समझ में न आने के ही कारण किसी बात को गलत नहीं मान लेना चाहिए। अब गौतम स्वामी, भगवान् से ऐसी बात पूछते हैं, जो प्रत्यक्ष में भी दिखाई दे सकती है। गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्! जीव गर्भ में उत्तान–आसन से रहता है यानि चित्त (ऊपर को मुख किये) सोता है, या करवट लिये रहता है? आम्रकुब्ज आसन से रहता है अर्थात् नीचे सिर और ऊपर पैर–इस प्रकार आम्र फल की भांति रहता है? अथवा खड़ा रहता है, बैठा रहता है या सोता रहता है? या सब बातें माता पर आधार रखती हैं? अर्थात् माता के खड़े रहने पर खड़ा रहता है, बैठने पर बैठता है और सोने पर सोता है? तात्पर्य यह है कि गर्भ का बालक स्वेच्छा से सोता, बैठता और खड़ा रहता है या माता के सोने, बैठने और खड़ी होने पर सोता, बैठता एवं खड़ा रहता है?

हम लोगों के लिए गर्भ की बात भूतकाल की हो गई है, परन्तु भूत और भविष्य में गर्भ का क्रम एक–सा ही है। अतएव गर्भ के विषय में माता को सब प्रकार से सावधानी रखने की आवश्यकता है। माता के संस्कारों पर ही सन्तान का शुभ–अशुभ निर्भर है। माता को गर्भ के बालक पर अपनी ओर से तो दया रखनी ही चाहिए, यद्यपि वह बालक भी अपने साथ पुण्य–पाप लाया है। मगर हमें अपने कर्त्तव्य–अकर्त्तव्य को नहीं भूलना चाहिए।

कदाचित् यह कहा जाय कि गर्भ का बालक अपने कर्म भोगता है, उसमें हम हस्तक्षेप क्यों करें? अथवा हमारे हस्तक्षेप से क्या बन–बिगड़ सकता है? तो यह कथन भ्रमपूर्ण है। गाय को घर में बांध कर भूखी प्यासी रक्खो, तो भोजन में अन्तराय देने वाला कौन होगा? कहा जा सकता है कि गाय भी अपने कर्म भोगती है तो तुम्हारी निर्दय भावना से तुम्हें अशुभ कर्म नहीं क्यों बांधेंगे? शास्त्र में भत्त–पानविच्छेद नामक अहिंसाणुव्रत का अतिचार क्यों बतलाया है? अगर तुम्हें भोजन–पानी का अन्तराय देने पर भी पाप नहीं लगता, तो फिर कसाई को बुरा कैसे कहते हो? कसाई भी अपना बचाव इसी प्रकार कर सकता है। वह कह सकता है कि पशु अपने किये कर्म भोगते हैं। मैं किसी को क्या मार सकता हूं? कसाई को बुरा कहना और अपने कर्म भुगतने के लिए किसी जीव को भूखा रहने देकर भी अच्छे बने रहो, यह बात क्या न्यायसंगत है? कसाई को अपने काम का और दयावान् को दया का बदला मिलेगा। ऐसा न समझ कर, यह कहना कि भूखा रहने वाला अपना कर्म भोगता है, हमें इससे क्या मतलब है? मिथ्या है। ऐसा होने पर तो कसाई भी निर्दोष ठहरेगा और उपदेश की, साधुओं की तथा साधुओं को जीवदया

का उपकरण रखने की भी आवश्यकता नहीं रहेगी। जिन जीवों को अपने किये कर्म के अनुसार मरना है, वे मर जाएंगे? और जिन्हें जीना है, वे जीवित रहेंगे। फिर जीवरक्षा की सावधानी का प्रयोजन ही क्या है? अगर यही निश्चय ठीक है तो फिर क्षत्रिय लोग तलवार का और साधु ओघे का भार क्यों उठावें? न कोई किसी को मार सकता है, न जिला, जीवित रख सकता है, फिर इस खटपट में पड़ने की क्या जरूरत है?

क्षत्रिय लोग रक्षा के लिए या दूसरे को मारने के लिए तलवार रखते हैं, परन्तु साधु जन केवल जीवरक्षा के ही लिए ओघा रखते हैं। तात्पर्य यह है कि गर्भ के बालक को उसके पुण्य–पाप पर छोड़ देना और उसकी रक्षा के लिए उचित सावधानी न रखना घोर निर्दयता का कार्य है। सच्ची समझदार माता एक क्षण के लिए भी ऐसा क्रूर विचार नहीं कर सकती।खेद है कि कुछ लोग आज गर्भ की रक्षा को भी पाप कहने की धृष्टता करते हैं।

भगवान् ने गौतम स्वामी को बतलाया है कि गर्भ का बालक, माता के सुख से सुखी और दुःख से दुखी होता है। बालक का माता से जितना संबंध है उतना संबंध किसी दूसरे से नहीं है। इसीलिए माता को 'देवगुरु संकासा' कहा गया है।

अब गौतम स्वामी भगवान् से बालक के जन्म–समय की हकीकत पूछते हैं कि बालक कैसे जन्मता है?

किसी–किसी बालक का प्रसव सिर की तरफ से होता है और किसी का पांव की तरफ से होता है। कोई तो पांव और मस्तक से सम होकर जन्मता है और कोई तिर्च्छा होकर। जब बालक तिर्च्छा होकर जन्मता है, तब बालक को और माता को कैसी वेदना होती है, यह या तो वही जान सकती हैं, या ज्ञानी जान सकते हैं। ऐसे समय के लिए कुछ उपाय हैं। उपाय करने से बालक अगर सीधा हो गया तब तो ठीक है, नहीं तो बालक और उसकी माता का घात हो जाता है। केई बार माता की रक्षा के लिए गर्भ का बालक काट–काट कर निकाला जाता है।

यह जन्म की बात हुई। अब जन्म के बाद की बात बतलाई जाती है। भगवान् फर्माते हैं–हे गौतम! गर्भ से निकले हुए बालक ने अगर अच्छे कर्म के काम (पूर्व भव में) नही किये हैं तो उसकी स्थिति अच्छी नही होती।

कर्म दो प्रकार के हैं–श्लाघ्य और अश्लाघ्य। कर्मों को न मानना भी मूर्खता है और कर्मों का विपरिणाम न मानना भी मूर्खता है। कर्मवाद के साथ

उद्योग वाद भी है। कर्मवाद श्रद्धा करने की चीज है और उद्योगवाद कार्य रूप में परिणत करने की वस्तु है।

हम सभी लोग गर्भ में रह कर ही बाहर आये हैं, इस बात को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। यह भी प्रकट है कि हम लोग आड़े होकर गर्भ से बाहर नहीं निकले। बल्कि सिर या पैरों की ओर से अखण्ड रीति से निकल आये हैं। लेकिन क्या कभी आप इन सब बातों का स्मरण करते हैं ? आप एक ऐसे स्थान पर थे, जहां आदमी मर भी जाता है। मगर आप उस स्थान से जीवित ही बच आये। तो अब इस जीवन को बुरी करतूतों में खपा देना अच्छा है या अच्छे कार्यों में लगाना अच्छा है? आप इस पर विचार कीजिए और दुर्लभ जीवन को सार्थक बनाइए।

गर्भ से–जहां बालक मर भी जाता है, क्या आप झूठ, कपट आदि के प्रताप से बच आये हैं? आज आप आनन्दभोग को ही अपने जीवन का लक्ष्य मानते हैं मगर क्या आनंद के प्रताप से ही आप गर्भ से जीवित निकले हैं? अगर ऐसा नहीं है तो फिर यही कहना होगा कि आप ने पूर्व जन्म में दया, शील, संतोष आदि की शुभ क्रियाएं की थीं, उस पुण्य के प्रभाव से ही आप गर्भ से अखंड निकले हैं। वह पुण्य ही आड़ा आया और ऐसे खतरनाक स्थान से बचाया है। अब जन्मने के पश्चात् आप उस पुण्य को भूल कर पाप करते हैं, तो क्या कट–कट कर गर्भ से निकलने का ध्यान नहीं है? आपकी समझ में यह बात आ गई हो तो अपने पापों को काट कर गर्भ में आने के कारण को रोको। चाहे अभी कर्मस्थिति शेष हो और गर्भ मे आना भी पड़े, तब भी चेष्टा तो यही करो कि तुम्हें फिर गर्भ में न उपजना पड़े। इस बात का सदैव ध्यान रखना कि जहां से मैं इस स्थिति में जन्मा हूं, उसी नीच योनि–मूत्रपत्र पर; जैसे शूकर विष्ठा पर लुभाता है वैसे ही लुभाकर भोग का कीड़ा क्यों बन रहा हूं? इस प्रकार विचार कर परमात्मा से प्रार्थना करना कि–हे नाथ ! मुझे बचा। मैं तेरी आज्ञा पालूंगा।

भगवान ने गर्भ की तीन दशाओं का वर्णन किया। अब जन्मने के पश्चात् की बात बतलाते हैं।

यह तो आप सभी लोग जानते हैं कि प्राणी मात्र पूर्वोपार्जित कर्म लेकर आये हैं। परन्तु समझने की बात यह है कि पूर्व–कर्म बदले भी जा सकते हैं, या जैसे बंधे हैं वैसे ही रहते हैं? आस्तिक मात्र पूर्व–कर्म तो मानता है, मगर उनके संबंध में विशेष बातें न जानने के कारण गड़बड़ी हो रही है।

पूर्व कर्म दो प्रकार के होते हैं–शुभ और अशुभ। जो कर्म श्लाघ्य प्रसंशनीयता से रहित हैं वे अशुभ कर्म कहलाते हैं अथवा 'बद्ध का अर्थ 'बाह्य' भी है अर्थात् श्लाघा प्रशंसा से जो बाहर है, वह सब अशुभ कर्म कहलाते हैं।

बद्ध कर्म कैसे होते हैं? कर्म किये बिना नहीं होते। 'क्रियते–इति कर्म' जो किया जाय वह कर्म कहलाता है। सामान्य रूप से कर्म का बंध होना बद्ध कहलाता है और बंध हुए कर्मो को विशेष पोषण देना स्पृष्ट कहलाता है।

बद्ध कर्म को पोषण किस प्रकार दिया जाता है, यह बात समझने के लिए एक उदाहरण दिया जाता है। किसी खेत में कोई बोई हुई चीज उगती है। उस उगती चीज को जल, खाद आदि द्वारा पोषण न दिया जाय तो या तो वह सूख जायगी या पैदावार बहुत कम होगी। इसके विपरीत अगर उसे पोषण मिल गया तो वह विशेष रूप से उत्पन्न होगी। इसी प्रकार एक तो सामान्य रूप से कर्म बांधना और दूसरे उन्हें खूब पोषण देकर ऐसी गाढ़ी तरह से बांध लिया कि फिर उद्वर्त्तन करण के सिवाय कोई करण न लग सके, इसे निधत्त कहते हैं। तत्पश्चात् कर्मों को घटाया नहीं किन्तु और अधिक पोषण देकर निकाचित कर दिया। निकाचित कर्म–घटते–बढ़ते भी नहीं है। उनमें कोई करण नहीं लगता।

कर्मो को बांधने और पुष्ट करने की बात समझाने के लिए एक उदाहरण लीजिएः– एक आदमी ने पाप किया, यह कर्म का बंध होना कहलाया। फिर किये हुए कर्म की प्रशंसा करके उसे खूब गाढ़ा और पुष्ट बनाया। कदाचित् उस पाप करने वाले को कोई ज्ञानी मिल गया। ज्ञानी ने पापी को समझाया–'देख, भाई! तूने यह पाप–बुरा काम किया है'। ऐसा सुन कर पाप करने वाले को पश्चात्ताप हुआ। पश्चात्ताप करते–करते उसके कर्मो का अपवर्त्तन हुआ, अर्थात् विशेष शुभ अध्यवसाय द्वारा पाप कर्म को पुण्य कर्म में पलट दिया। और ज्ञानी के बदले यदि किसी अज्ञानी की संगति हो गई और अज्ञानी ने उस पाप कर्म की प्रशंसा कर दी, जिससे पाप करने वाला फूल गया–उससे अपने किये पाप पर गर्व हुआ तो इससे कर्म का उद्वर्त्तन हुआ। अर्थात् वह बंधे कर्म और भी अधिक गाढ़े हो गये।

जीव के अध्यवसाय के अधीन ही कर्मो की न्यूनता– अधिकता और तरतमता होती है। दो मित्रों की एक कथा प्रसिद्ध ही है कि उनमें से एक धर्मस्थानक में धर्म क्रिया करने गया और दूसरा वेश्या के घर गया। धर्मस्थानक में जाने वाले ने सोचा– अरे, यहां क्यों आ फंसा मैं? मेरा मित्र तो वेश्या के घर पहुंच कर मौज उड़ा रहा होगा और मैं यहां आ पड़ा हूं! इसी प्रकार वेश्या

के घर जाने वाले मित्र ने विचार किया—ओह! मैं कितना अभागा हूं? मेरा मित्र धर्मस्थानक में पहुंच कर आत्मशोधक क्रियाएं कर रहा होगा या संतों के श्रीमुख से उपदेश सुन रहा होगा और मैं इस पापस्थानक में आकर पाप उपार्जन कर रहा हूं।

इस प्रकार भावना की विशेषता के कारण कर्म के फल में विशेषता आ जाती है अर्थात् अशुभ कर्म शुभ रूप में और शुभ कर्म अशुभ रूप में परिवर्तित हो जाता है।

शास्त्र के अनुसार कर्मों का फल भली भांति समझ लेने से बेड़ा पार हो जाता है। यों तो वेश्या के घर कभी कोई ही शुद्ध आशय वाला जाता होगा, क्योंकि वेश्या की संगति नीच संगति है। इसी प्रकार साधुओं के यहां पाप भावना वाला भी कोई—कोई ही होता है; साधारणतया साधुओं की संगति उत्तम ही है।

ऊपर बद्ध आदि के भेद से कर्म की चार अवस्थाएं बतलाई गई हैं। शास्त्र कहते हैं कि आत्मा अपने साथ पूर्वजन्म के कर्म लेकर आया है। एक के ऊपर दूसरी और दूसरी पर तीसरी सूई रख दी जाय तो जरा—सा धक्का लगते ही बिखर जाती है। अगर उन्हें धागे से बांध दिया जाय तो कुछ मेहनत से वह खुलेगी। अगर वह लोहे के तार से बंधी हों तो किसी शस्त्र का उपयोग करने पर ही वह खुलेंगी। लेकिन किसी ने उन्हें गर्म करके घन से कूट दिया हो तो वे किसी भी प्रकार नहीं खुल सकतीं। उनका नाम रूप भी बदल जायगा। वे सूई के रूप में तभी हो सकेंगी, जब फिर से उनका निर्माण किया जाय। इसी प्रकार कर्म चार प्रकार से बंधते हैं। उनमें से तीन प्रकार से बंधे कर्म तो किसी सहायता से नष्ट किये जा सकते हैं परन्तु चौथे प्रकार के कर्म भोगे बिना नहीं छूट सकते। ऐसे कर्म निकाचित कर्म कहलाते हैं। निकाचित कर्म में करण का प्रयोग नहीं होता। उन्हें तोड़ने का इरादा ही नहीं होता। जिस जीव के निकाचित कर्म बंधे हैं, उसमें ऐसी शुभ भावना उत्पन्न नहीं होती। लेकिन इससे किसी को निराश होने की आवश्यकता नहीं। जो निकाचित कर्म बद्ध हो गये हैं, उन्हें भोगना ही पड़ेगा, किन्तु जो नये शुभ कर्म बंधेंगे, वे निरर्थक नहीं जाएंगे।

जो कर्म बांधे जाते हैं, वे आटे—पिण्ड के समान एक रूप में मिले रहते हैं, फिर भी उनकी जो अलग—अलग व्यवस्था की जाती है, उसे 'पद्ववियाइं' समझना चाहिए। उदाहरणार्थ—गति नाम कर्म के पुदगल इकट्ठे किये परन्तु एकत्र किये पुदगलों से मनुष्य बनना अथवा पशु बनना, इस व्यवस्था को

'पट्ठवियाइं' कहेंगे। तात्पर्य यह है कि गृहीत कर्म पुद्गलों का विभाग करना 'पट्ठवियाइं' है।

उदय में आने वाले नामादिक कर्मो की स्थापना 'पट्ठवियाइं' है। 'अभिनिविट्ठाइं' का अर्थ है–तीव्र फल देने वाले के रूप में परिणत करना अर्थात् जो कर्म तीव्र फल देने वाले हैं वह 'अभिनिविष्ट' कहलाते हैं। कर्म बंधने और फल देने के बीच का काल अबाधाकाल कहलाता है। उस अबाधाकाल की समाप्ति अर्थात् कर्म के फल देने को उदय कहते हैं। कर्म का उदय दो प्रकार से होता है–एक तो स्थिति पकने से, दूसरे उदीरणा से। ज्ञानीजन उदीरणा द्वारा कर्मो को उदय में ले आते हैं। कर्म की नियत अवधि से पहले ही तपस्या आदि के द्वारा कर्मो को फल देने के अभिमुख कर लेना उदीरणा है।

शास्त्रकार का कथन है कि जन्मे बालक के कर्म अच्छे होंगे तो वह बालक अच्छा होगा; कर्म बुरे होंगे तो वह बालक भी बुरा होगा। अशुभ कर्म वाला बालक कुरूप होता है, कुत्सित वर्ण वाला होता है, उसके शरीर से दुर्गंध आती है, खराब रस वाला होता है, खराब स्पर्श वाला होता है। वह अनिष्ट, अकान्त, अप्रिय, अशुभ, अमनोज्ञ और अमणाम (जिसका स्मरण करना भी अच्छा न लगे) होता है। उसका स्वर भी दीन, हीन, अनिष्ट, अकान्त आदि पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त होता है। कोई उसकी बात नहीं मानता। शुभ कर्मो वाला इससे सभी बातों में विपरीत शुभ होता है।

गौतम स्वामी बोले–भगवन्! ऐसा ही है, ऐसा ही है,! यह कह कर वे संयम तप से स्वात्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

इति प्रथम
शतक का सप्तम उद्देशक समाप्त।

पंचम भाग

प्रथम शतक

आठवाँ उद्देशक

मूलपाठ

रायगिहे समोसरणं; जाव एवं वयासी।

प्रश्न–एगंतबाले णं भंते! मणुस्से किं णेरइयाउयं पकरेइ, तिरिक्खाउयं पकरेइ, मणुस्साउयं पकरेइ, देवाउयं पकरेइ? णेरइयाउयं किच्चा णेरइएसु उववज्जइ, तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ, मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जइ, देवाउयं किच्चा देवलोगेसु उववज्जइ?

उत्तर–गोयमा! एगंतबाले णं मणुस्से णेरइयाउयंवि पकरेइ, तिरियाउयंवि पकरेइ, मणुस्साउयं वि पकरेइ। णेरइयाउयंपि किच्चा णेरइएसु उववज्जइ, तिरियाउयंवि किच्चा तिरिएसु, उववज्जइ मणुस्सयाउयंवि किच्चा मणुएसु उववज्जइ, देवाउयंवि किच्चा देवलोगेसु उववज्जइ।

प्रश्न–एगंत पंडिए णं भंते! मणुस्से किं णेरइयाउयं पकरेइ, जाव–देवाउयं किच्चा देवलोएसु उववज्जइ?

उत्तर–गोयमा! एंगत पंडिए णं मणुस्से आउयं सिय पकरेइ, सिय णो पकरेइ, जइ पकरेइ णो नेरइयाउयं पकरेति, णो तिरियाउयं पकरेति, णो मणुस्साउयं पकरेइ, देवाउयं पकरेइ। णो णेरइयाउयं किच्चा णेरइएसु उववज्जइ, णो तिरियाउयं किच्चा तिरिएसु उववज्जइ, णो मणुस्साउयं किच्चा मणुस्सेसु उववज्जइ, देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ।

प्रश्न–से केणट्ठेणं जाव–देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ?

उत्तर–गोयमा! एगंत पंडियस्स णं मणूसस्स केवलं एव दो गईओ पण्णायंति, तंजहा–अंतकिरिया चेव, कप्पोववत्तिया चेव! से तेणटेणं, गोयमा! जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ।

प्रश्न–बाल पंडिए णं भंते! मणुस्से किं णेरइयाउयं पकरेइ, जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ?

उत्तर–गोयमा! णो णेरइयाउयं पकरेइ, जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ।

प्रश्न–से केणट्ठेणं, जाव–देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ?

उत्तर–गोयमा! बालपंडिए! णं मणुस्से तहारूवस्स समणस्स वा, माहणस्स वा, अंतिए एगमपि आरियं धम्मियं सुवयणं सोच्चा, णिसम्म देसं उवरमइ, देसं णो उवरमइ; देसं पच्चक्खाइ; देसं णो पच्चक्खाइ। से तेणटेणं देसोवरम–देस पच्चक्खाणेणं णो णेरइयाउयं पकरेइ, जाव देवाउयं किच्चा देवेसु उववज्जइ। से तेणट्ठेणं जाव–देवेसु उववज्जइ।

संस्कृत–छाया

राजगृहे समवसरणम्। यावत्–एवमवादीत्–

प्रश्न–एकान्तबालो भगवन्! मनुष्यः किं नैरयिकायुष्कं प्रकरोति, तिर्यगायुष्कं प्रकरोति, मनुष्यायुष्कं प्रकरोति, देवायुष्कं प्रकरोति? नैरयिकायुष्कं कृत्वा नैरयिकेषु उपपद्यते, तिर्यगायुष्कं कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते, मनुष्यायुष्कं कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते, देवायुष्कं कृत्वा देवलोकेषु उपपद्यते?

उत्तर–गौतम! एकान्तबालो मनुष्यः नैरयिकायुष्कमपि प्रकरोति, तिर्यगायुष्कमपि प्रकरोति, मनुष्यायुष्कमपि प्रकरोति, देवायुष्कमपि प्रकरोति। नैरयिकायुष्कमपि कृत्वा नैरयिकेषु उपधेते, तिर्यगायुष्कमपि कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते, मनुष्यायुष्कमपि कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते, देवायुष्कमपि कृत्वा देवलोकेषु उपपद्यते।

प्रश्न–एकन्त पण्डितो भगवन्! मनुष्यः किं नैरयिकायुष्कं प्रकरोति? यावत्–देवायुष्कं कृत्वा देवलोकेषु उपपद्यते?

उत्तर–गौतम! एकान्त पण्डितो मनुष्यः आयुः स्यात् प्रकरोति, स्यात् नो प्रकरोति, यदि प्रकरोति नो नैरयिकायुष्कं प्रकरोति, नो तिर्यगायुष्कं प्रकरोति, नो मनुष्यायुष्कं प्रकरोति, देवायुष्कं प्रकरोति। नो नैरयिकायुष्कं कृत्वा नैरयिकेषु उपपद्यते, नो तिर्यगायुष्कं कृत्वा तिर्यक्षु उपपद्यते, नो मनुष्यायुष्कं कृत्वा मनुष्येषु उपपद्यते, देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते।

प्रश्न–तत् केनार्थेन यावत्–देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते?

उत्तर–गौतम! एकान्त पण्डितस्य मनुष्यस्य केवलमेव द्वे गति प्रज्ञायत, तद्यथा–अन्तक्रिया चैव, कल्पोपपत्तिका चैव। तत् तेनार्थेन गौतम! यावद् देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते।

प्रश्न–बाल पण्डितो भगवन् मनुष्यः किं नैरयिकायुष्कं प्रकरोति यावत् कृत्वा देवेषु उपपद्यते?

उत्तर–गौतम! नो नैरयिकायुष्कं प्रकरोति, यावद् देवायुष्कं कृत्वा देवलोकेषु उपद्यते।

प्रश्न–तत् केनार्थेन, यावत्–देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते?

उत्तर–गौतम! बाल पण्डितो मनुष्यः तथारूपस्य श्रमणस्य वा, माहनस्य वा, अन्तिके एकमपि आर्यं धार्मिकं सुवचनं श्रुत्वा, निशम्य देशाद् उपरमते, देशाद् नो उपरमते देशं प्रत्याख्याति, देशं नो प्रत्याख्याति। तत्तेनार्थेन देशोपरम–प्रत्याख्यानेन नो नैरयिकायुष्कं प्रकरोति, यावद् देवायुष्कं कृत्वा देवेषु उपपद्यते। तत् तेनार्थेन यावद्–देवेषु उपपद्यते।

मूलार्थ–

राजगृह नगर में समवसरण हुआ और यावत्–इस प्रकार प्रश्नोत्तर हुए–

प्रश्न–भगवन्! एकान्त बाल (मिथ्यादृष्टि) मनुष्य क्या नारकी की आयु बांधता है, तिर्यंच की आयु बांधता है, मनुष्य की आयु बांधता है या देव की आयु बांधता है? और नारक की आयु बांध कर नारकियों में उत्पन्न होता है, तिर्यंच की आयु बांध कर तिर्यंचों में उत्पन्न होता है, मनुष्यों की आयु बांधकर मनुष्यों में उत्पन्न होता है या देव की आयु बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है?

उत्तर–गौतम! एकान्त बाल मनुष्य, नैरयिक की भी आयु बांधता है, तिर्यंच की भी बांधता है, मनुष्य की भी बांधता है और देव की भी बांधता है तथा नरकायु बांधकर नारकों में उत्पन्न होता है, तिर्यंच आयु बांधकर तिर्यंचों में उत्पन्न होता है, मनुष्यायु बांधकर मनुष्यों में उत्पन्न होता हे और देवायु बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है।

प्रश्न–भगवन्! एकान्त पंडित मनुष्य क्या नरकायु बांधता हे, या यावत् देवायु बांधता है? और यावत्–देवायु बांधकर देवलोक में उत्पन्न होता है?

उत्तर–गौतम! एकान्त पंडित मनुष्य कदाचित् आयु बांधता हे कदाचित् नहीं बांधता। अगर आयु बांधता हे तो नरकायु, तिर्यंचायु और

मनुष्यायु नहीं बांधता, किन्तु देवायु बांधता है। वह नारकी की आयु न बांधने से नारकियों में उत्पन्न नहीं होता, इसी प्रकार तिर्यचायु न बांधने से तिर्यचों में उत्पन्न नहीं होता, मनुष्यायु न बांधने से मनुष्यों में उत्पन्न नहीं होता; अलबत्ता देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

प्रश्न–भगवन्! इसका क्या कारण है कि यावत् देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है?

उत्तर–गौतम! एकान्त पंडित मनुष्य की केवल दो गतियां कही हैं। वे इस प्रकार हैं–अंतक्रिया और कल्पोपपत्तिका।
इस कारण हे गौतम! (एकान्त पंडित मनुष्य) देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

प्रश्न–भगवन्! बाल पंडित मनुष्य क्या नारकायु बांधता है, या यावत् देवायु बांध कर देवों में उत्पन्न होता है?

उत्तर–गौतम! वह नरकायु नहीं बांधता और यावत् देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है?

प्रश्न–भगवन्! इसका क्या कारण है कि यावत् देवायु बांधकर देवों में उत्पन्न होता है।

उत्तर–गौतम! बाल पंडित मनुष्य तथारूप श्रमण या माहन के पास से एक भी धार्मिक और आर्य वचन सुनकर, धारण करके, एक देश से विरत होता है और एक देश से विरत नहीं होता। एक देश से प्रत्याख्यान करता है और एक देश से प्रत्याख्यान नहीं करता। इसलिए हे गौतम! देशविरति और देश प्रत्याख्यान के कारण वह नरकायु का बंध नहीं करता और यावत्–देवायु बांध कर देवों में उत्पन्न होता है। इसीलिए पूर्वोक्त कथन किया है।

व्याख्यान–

सातवें उद्देश्क में गर्भ और जन्म का अधिकार कहा है, किन्तु गर्भ और जन्म आयुष्य के बंध बिना नहीं हो सकते। अतएव आठवें उद्देशक में आयु का विचार किया जाता है। इसके अतिरिक्त संग्रहगाथा में, आठवें उद्देशक में बाल–जीवों के वर्णन करने की प्रतिज्ञा की गई थी। अतः आयु के साथ बाल जीवों का भी वर्णन किया जायगा।

इस आठवें उद्देशक का उपोद्‌घात राजगृह नगर, गुणशील बाग के समवसरण से होता है।

गौतम स्वामी पूछते है–भगवन्! संसार में तीन प्रकार के जीव होते हैः– (1) बाल (2) पंडित और (3) बाल पंडित। इनमें से बाल जीव नरक में ही जाएंगे या तिर्यंच होंगे, या मनुष्य अथवा देव ही होंगे?

बाल अज्ञानी को कहते हैं। जैसा जाना वैसा ही आचरण करने वाला पंडित कहलाता है और जो जानता हुआ भी आचरण कम करता है, उसे बाल पंडित कहते हैं, अर्थात् अपने ज्ञान को जो आंशिक रूप में, क्रिया में परिणत करता है, वह बाल पंडित कहलाता है।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हे गौतम! बाल जीव नरक में भी जाता है, तिर्यंच भी होता है, मनुष्य भी होता है और देव भी होता है। कोई बाल जीव महा आरम्भी होता है, कोई अल्प आरम्भी होता है। कोई महाकषायी होता है, कोई अल्प कषायी होता है। अतएव उनकी गति अलग–अलग होती है।

गौतम स्वामी ने बाल जीवके विषय में जैसा प्रश्न किया था, वैसा ही वे पंडित जीव के विषय में प्रश्न करते हैं। भगवान् ने उत्तर दिया हे–गौतम! बाल जीव अगर कष्ट सहन करता है तो अज्ञान से कष्ट सहन करता है और पंडित जीव ज्ञान पूर्वक कष्ट सहन करता है। पंडित जीव ज्ञान से क्षमा करता है। अतएव वह उसी भव से मोक्ष हो जाता है। अगर उसके कर्म शेष रह जाते हैं, तो वह स्वर्ग जाता है। वहां की स्थिति पूर्ण होने पर फिर मनुष्य होता है और मोक्ष चला जाता है।

इसके पश्चात गौतम स्वामी बाल पंडित के विषय में प्रश्न करते हैं। जितनी भी अच्छी क्रिया बनती है वह पंडितपन में है और जो नहीं बनती वह बालपन में है। प्रायः सर्वत्र उत्तम, मध्यम और जघन्य, यह तीन श्रेणियां होती हैं। जहां तक संभव हो उत्तम वृत्ति धारण करनी चाहिए। उत्तम वृत्ति न बने और मध्यमवृत्ति बने तो भी कल्याणकारी है अर्थात् बड़े–बड़े पापों को त्याग करने में भी कल्याण ही है। इसे समझने के लिए एक उदाहरण उपयोगी हैः–

एक राजा और उसके प्रधान के पुत्र नहीं था। राजा सोचने लगा–मेरे पश्चात् राज्य का मालिक कौन होगा? प्रधान भी इसी प्रकार विचारता था। राजा और प्रधान दोनों एक सिद्ध पुरुष की सेवा करने लगे। सिद्ध ने एक दिन उनसे पूछा–'तुम पुत्र द्वारा अपना नाम ही करना चाहते हो या जगत् का कल्याण करना चाहते हो? राजा ने उत्तर दिया–'केवल नाम के लिए ही नहीं, किन्तु प्रजा के लिए भी पुत्र की इच्छा करता हूं। सिद्ध ने कहा–'तुम्हारी इच्छा अच्छी है, मगर ऐसा पुत्र तुम्हारे घर नहीं जन्मेगा। ऐसा पुत्र समाज में मिलेगा।' तब राजा ने पूछा–'कहां मिलेगा?' सिद्ध ने कहा–'मंगतों–भिखारियों की फौज में ऐसा पुत्र मिलेगा।' राजा ने आश्चर्य के साथ पूछा–ऐसा पुत्र और मंगतो की फौज में मिलेगा?

सिद्ध–हां, अवश्य।

राजा–तो हम उसे कैसे पहचान सकेंगे?

सिद्ध ने कहा–पहले मंगतों को खूब टुकड़े बंटवाओ, फिर उन सबको बाड़े में बंद करके, उनमें से एक–एक को बाहर निकालो। जिस मंगते को बाहर निकालो, उससे कहते जाना कि अपने पास के टुकड़े फेंक दे तो तुझे राज्य देंगे। जो मंगता तुम्हारी बात पर विश्वास करके सब टुकड़े फेंक दे, उसे तो राजा बना देना, और जो थोड़े फेंक दे तथा थोड़े रख ले उसे प्रधान बना देना।

सिद्ध के पास से राजा और प्रधान लौट आये। राजा ने आज्ञा दी–आज सब लोग मंगतों को खूब टुकड़े बांटें। मंगतों के पास बहुत–बहुत से टुकड़े हो गये। इसके पश्चात् राजा ने उन सब को एक बाड़े में घेर दिया और फिर उनमें से एक–एक को निकाल कर कहने लगा–अगर तुम अपने सब टुकड़े फेंक दो तो तुम्हें राज्य दूं।

मंगते सोचते–भला कहीं टुकड़े फेंकने से राज्य मिलता है। हमारे भाग्य में राज्य का योग–संयोग ही बदा होता तो पराये टुकड़ों पर गुजर क्यों करना पड़ता? इस प्रकार सोचकर वे कहते–आज बड़े भाग्य से टुकड़े मिले हैं। इससे टुकड़े मत फिंकवाओ। राजा ऐसे सब भिखारियों को निकालता जाता था।

आखिर एक भिखारी द्वार पर आया। उससे भी यही बात कही गई। उसने सोचा राजा कहता है तो टुकड़े फेंक देना अच्छा है, राज्य चाहे मिले या न मिले! ऐसा सोचकर उसने सब टुकड़े फेंक दिये। राजा ने उसे बिठा लिया।

उसके पश्चात् राजा ने उसी क्रम से फिर भिखारियों को निकालना आरम्भ किया। कुछ भिखारियों के पश्चात् एक भिखारी आया। टुकड़े फेंकने के लिए कहने पर उसने सोचा–'राजा कहता है, राज्य दूंगा। अगर इसने राज्य न दिया तो अभी–अभी भूखे मरना पड़ेगा। राजा की बात पर अविश्वास करना ठीक नहीं है, उसने कहा–मैं सब टुकड़े तो नहीं फेंकूंगा, हां, कुछ रख लूंगा।' राजा ने कहा–जैसी तुम्हारी इच्छा हो, करो।' भिखारी ने अच्छे–अच्छे कुछ टुकड़े रख लिये और शेष फेंक दिये। राजा ने उसे भी बैठा लिया और सद भिखारियों को छोड़ दिया।

दूसरे दिन राजा ने पहले भिखारी को राजा और दूसरे को प्रधान बना दिया। राजा बना हुआ भिखारी सोचने लगा, टुकड़े त्यागने से मुझे राज्य मिला

है, इसलिए अब और अधिक त्याग करना चाहिए। प्रधान बना हुआ भिखारी सोचता था, टुकड़े तो राजा से मिलेगा ही, इसलिए राजा और प्रजा दोनों से खाना ठीक नहीं है। इस प्रकार इन दोनों से राजा को बहुत आनन्द हुआ। पहले वाले राजा और प्रधान को भी इससे बड़ा संतोष हुआ।

इस दृष्टान्त के अनुसार संसार के भोग्य पदार्थ टुकड़े हैं और पंडित, बालपंडित तथा बाल मनुष्य, टुकड़े मांगने वाले फौज के समान हैं। ज्ञानी पुरुषों का कथन है कि अगर तुम भिखारी हो तो क्या हुआ? अगर मोक्ष रूपी राज्य के लिए सब टुकड़े फैंक दो तो तुम्हारी गणना पंडितों में होगी। अगर सब छोड़ने की उदारता नहीं है तो भी खराब–खराब टुकड़े तो फैंक ही दो। ऐसा करने पर राजा नहीं तो प्रधान तो बन ही जाओगे। अर्थात् बालपंडित–श्रावक कहलाओगे। आज थोड़ा त्यागने वाला, त्याग की महिमा समझ लेगा तो कल पूरा त्याग भी कर देगा। लेकिन जरा भी त्याग न करने वाला भिखारी ही बना रहेगा अर्थात् बाल ही रहेगा।

अगर आप सहसा त्याग नहीं कर सकते, तो कम से कम ऐसी वस्तुओं का अवश्य त्याग कीजिए, जिन्हें त्यागने से आपको कोई हानि नहीं मालूम होती। इतना त्याग करने से भी आप कल्याण के भागी होंगे। जो वस्तु त्यागनी पड़ेगी ही, उसे स्वेच्छापूर्वक त्याग देना ही बुद्धिमत्ता का काम है।

तत्पश्चात् गौतम स्वामी ने भगवान् महावीर से प्रश्न किया– प्रभो! एकान्त बालजीव मरकर किस गति में जाता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हे गौतम! बालजीव मरकर चारों गतियों में से किसी भी गति में जा सकता है।

फिर गौतम स्वामी दूसरा प्रश्न करते हैं–भगवन्! एकान्त पंडित मनुष्य मरकर कहां जाता है? यानि जिसमें विद्या चाहे कम हो किन्तु सर्वविरति विद्यमान है वह मनुष्य मृत्यु के पश्चात् किस गति में उत्पन्न होता है? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हे गौतम! एकान्त पंडित मनुष्य नरक, तिर्यंच और मनुष्य की गति में नहीं जाता। वह या तो देवलोक में उत्पन्न होता है या मोक्ष जाता है। अर्थात् कदाचित् आयु बांधता है कदाचित् नहीं बांधता।

भुज्यमान आयु के तीन हिस्सों में से दो हिस्से जब व्यतीत हो जाते हैं, और तीसरा हिस्सा आरम्भ होता है, तभी नवीन आयु का बंध होता है अर्थात् जीवन के तीसरे भाग में जीव अपने आगामी भव का निर्माण करता है।

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि जीव अपनी आयु के तीसरे भाग में भावी भव का आयुष्य बांधता है, तो फिर दो भागों में आयुष्य टूटता तो नहीं है? उदाहरणार्थ–सौं वर्ष के जीवन में से 66 वर्ष तक भावी भव का आयुष्य नहीं बांधता और अंतिम तेंतीस वर्ष में आयुष्य बंधता है। ऐसी अवस्था में छयासठ वर्ष के आयुष्य में से तो आयुष्य नहीं टूटता?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि अपनी असवधानी से आयुष्य टूटता है। अमेरिका के लोगों की औसत उम्र पचपन वर्ष की मानी जाती है, अन्यान्य देशों के मनुष्यों की औसत उम्र भी 50–45 वर्ष के लगभग गिनी जाती है, किन्तु भारतीय जनता की सिर्फ चौबीस वर्ष की उम्र है। इसका प्रधान कारण यह है कि भारतीय सावधानी नहीं रखते। अगर यह कहा जाय कि जिस देश वाले जितनी आयु लाते हैं, उतनी ही भोगते हैं, तो इस कथन से भारत के निवासी ही पुण्यहीन ठहरते हैं और अमेरिका वासी अधिक से अधिक पुण्यवान् सिद्ध होते हैं। फिर यह भी स्वीकार करना होगा कि भारत में धर्म–कर्म कम है और अमेरिका में ज्यादा है। लेकिन यह विचार सही नहीं है। भारत आर्य क्षेत्र है, इसलिए धर्म का वास यहीं है। पाश्चात्य विद्वान डाक्टर मैक्समुलर ने कहा है कि धर्म और साहित्य का जैसा प्रचार भारत में हुआ है, वैसा प्रचार और कहीं नहीं हुआ। जब अन्य देशों के लोग भी भारत के धर्म की बड़ाई करते हैं, तब भारत को पुण्यहीन कैसे कहा जा सकता है?

आयुष्य को जितना अधिक यत्नपूर्वक रक्खा जाय उतना ही अच्छा और स्थायी वह रहेगा। किसी दीपक में रात भर जलने योग्य तेल है। अगर एक बत्ती से जलाया जाय तो वह रात भर प्रकाश देगा। अगर एक के बदले दो बत्तियां जलाई जाएं तो तेल आधी रात में ही समाप्त हो जायगा। यही बात आयुष्य के विषय में है। जीव परलोक से आयुष्य अवश्य लाया है, मगर यत्न सहित उसका उपयोग करना स्वयं उसका काम है। यह बात में अपनी ही ओर से नहीं कहता। शास्त्र में भी आयु का नाश होना कहा है। शास्त्र का प्रमाण पहले दिया जा चुका है। जीव का भेद (नाश) हो जाना उपक्रम कहलाता है।

उपक्रम के दो भेद है–परिक्रम और विनाश। वृक्ष में पानी और खाद देने से उसके फलों में भी सुन्दरता आ जाती है और वह वृक्ष अधिक दिनों तक ठहरता है। यह परिकर्म कहलाता है। इसी प्रकार वृक्ष की जड़ों में नमक डाल देने से वृक्ष जल्दी सूख जाता है, यह विनाश कहलाता है। तात्पर्य यह है कि

परिकर्म से आयु अधिक दिनों तक रहती है और विनाश से उसका जल्दी अन्त आ जाता है।

आयु नष्ट होने के सात कारणों में पहला कारण अध्यवसाय अर्थात् राग, द्वेष, भय आदि है। अध्यवसाय से आयु का शीघ्र नाश होता है। अतिस्नेह, अतिक्रोध, अतिभय इत्यादि सब आयुनाश के कारण हैं।

सुना है, एक यूरोपियन के यहां एक भिश्ती रहता था। साहब ने उस भिश्ती के नाम से एक–दो रुपये लॉटरी में लगा दिये। संयोगवश लॉटरी में पहला नंबर भिश्ती का ही निकल आया। एक लाख रुपये का प्रथम पुरस्कार था। साहब के पास तार आया। साहब बहुत खुश हुआ कि गरीब भिश्ती को एक लाख रुपये मिल गये। साहब ने भिश्ती से कहा–तुझे एक लाख रुपये मिला है। भिश्ती ने समझा–साहब मजाक कर रहे हैं। उसने साहब से कहा–मुझ जैसे गरीब को एक लाख रुपया कौन दे सकता है ? साहब ने विश्वास दिलाते हुए कहा–हंसी की बात नहीं है। लो, यह एक लाख रुपये संभालो।

इतना कहकर साहव ने एक लाख के नोट भिश्ती के सामने रख दिये। इतने रुपये मिलते देख कर भिश्ती को इतनी अधिक प्रसन्नता हुई कि वह उसे सहन नहीं कर सका और उसी समय चल बसा।

शास्त्र का कथन है कि प्रसन्नता की अधिकता से मरने वाले का आयुष्य तो लम्बा भी हो सकता था, परन्तु जैसे तेल होते हुए भी पवन के झकोरे से दीपक बुझ जाता है, उसी प्रकार वह भी प्रसन्नता के झपाटे में आकर मर गया। भिश्ती को अतिराग आया था, इससे वह मर गया। इस प्रकार अतिराग भी मृत्यु का कारण है।

द्वेष और क्रोध के कारण भी आयु का नाश हो जाता है। भय से भी आयु नष्ट होती है। सुनते हैं–दो मित्रों में से एक ने दूसरे से कहा–तुम रात के समय श्मशान में खूंटी गाड़ आओगे तो मैं मिठाई खिलाऊंगा। दूसरा मित्र खूंटी गाड़ने के लिए चल दिया। उसने खूंटी गाड़ भी दी, परन्तु खूंटी के साथ, अंधेरे में उसकी धोती का पल्ला भी गड़ गया। जब वह उठने लगा, तो उसका पल्ला अटका। उसने समझा मुझे भूत ने पकड़ लिया है। इसी भय के कारण वह वहीं मर गया।

इस प्रकार आयुष्यनाश का एक कारण अध्यवसाय है। भारत में भय, शोक, मोह आदि इतना बढ़ा हुआ है कि यहां के लोगों का आयुष्य नष्ट हो रहा है।

किसी अखबार में पढा था कि एक फांसी की सजा पाये हुए कैदी को डाक्टरों ने मांग लिया। डाक्टरों ने कहा—हम इस पर प्रयोग करेंगे। डाक्टर उसे अपनी प्रयोगशाला में लाये। कैदी से कहा गया—तुम्हें फांसी का हुक्म हुआ है। वहां भी मरना पड़ता और यहां भी मरना पड़ेगा। वहां तकलीफ से मरते, यहां आराम से मरोगे, कैदी ने कहा—जो मर्जी हो, करो, मैं तो हुक्म सुनते ही एक प्रकार से मर चुका हूं।

डाक्टरों ने कैदी की आंखों पर मजबूत पट्टी बांध दी और उसे एक आराम टेबल पर लिटा दिया। फिर एक नली लगा दी उस कैदी के शरीर से खून टकप रहा हो वैसा उसे अनुभव कराते हुए डाक्टर कहने लगे—ओफ! इसके शरीर से तो बहुत खून बहा जा रहा है! कैदी की आंखों पर पट्टी थी। वह कुछ देख नहीं सकता था और डाक्टरों के कथनानुसार यही समझता था कि मेरे शरीर से रक्त निकल रहा है। थोड़ी देर में यह कैदी अपने अध्यवसाय के ही कारण मर गया।

आज के बहुत से लोग मस्तक की खटपट में पड़ कर हृदय की बात भूल जाते हैं। किन्तु शास्त्र कहता है कि राग, द्वेष, भय आदि अध्यवसाय से भी आयु नष्ट होती है। भारत के बहुत से लोगों का अध्यवसाय ही उनकी मृत्यु का कारण होता है। कई अनाड़ी वैद्य भी रोगी के सामने 'यह नहीं बचेगा' कह कर उसे घबराहट में डाल देते हैं। इसी तरह और लोग भी बीमार को कहते हैं—अमुक को भी यही बीमारी हुई थी और उस बीमारी ने उसके प्राण ले लिये। इस प्रकार की बातें सुनकर कई—एक केवल भय के मारे ही मर जाते है।

लोगों ने भूत—प्रेत और डाकिन आदि का भय भी बना रक्खा है। किन्तु शास्त्र कहता है—मारने वाला भूत नहीं है, किन्तु भूत का भय है। जितने लोग रोग से नहीं मरते, उतने भय से मर जाते हैं। भय की महामारी बहुत जबर्दस्त है। लोग यह नहीं सोचते कि कदाचित् मृत्यु आ भी गई हो तो क्या भयभीत होने से बच जाएंगे? हां, निर्भयता से बचाव हो भी सकता है, अतएव भय न करना ही अच्छा है।

बहुत सी माताएं बच्चों को भय दिखलाती रहती हैं। उन्होंने 'हौआ' नामक एक अद्भुत तत्त्व का आविष्कार किया है। उसके भय से कोमल बुद्धि बालक कांप उठते हैं। पहले के कई—एक अध्यापक भी तरह—तरह के भीषण भय बतलाया करते थे। ऐसा करके बालक को सुधारा नहीं जा सकता, वरन् बड़ा होने पर भी वह डरपोक और कायर रह जाता है। जापान का पांच वर्ष

का बालक भी तलवार लेकर श्मशान में जा सकता है, परन्तु भारत का साठ वर्ष का बूढा भी वहां जाते डरता है। ऐसी दशा में आयुष्य कम होना स्वाभाविक है। जहां पग–पग पर भय भरा है, वहां के लोगों का आयुष्य कम क्यों नहीं होगा?

बचपन के संस्कार आयु भर रहते हैं। भय के संस्कारों से धर्म–अर्थ का नाश ही होता है। इसलिए भगवान् ने 'सव्वेसु दाणेसु अभयप्पयाणं' अर्थात् सब दानों में अभयदान प्रधान है, ऐसा कहा है। भगवान् के विशेषणों में भी 'अभयदयाणं' विशेषण लगाया गया है। भगवान् ने प्राणीमात्र को निर्भय बनाने का उपदेश दिया है। अगर तुम सच्चे दयावान् हो, तो न किसी को भय दो, न किसी से भय खाओ।

जो जीव जितनी आयु लाया है, वह उतनी ही भोगता है, यह कथन एकपक्षीय है। अलबत्ता देवता, तीर्थंकर और नारकी जीवों के संबंध में यह कथन सत्य है, मगर यहां उनकी बात नहीं है। देवों और तीर्थंकर की बात कहकर अपने कर्त्तव्य को भूलना ठीक नहीं है। हमें अपने संबंध में भी विचारना चाहिए और अपने कर्त्तव्य का पालन ठीक तरह करना चाहिए।

लोग दूसरे प्राणियों को और अपने बच्चों को भयभीत करते हैं, लेकिन भयभीत करना भी हिंसा है। अतएव किसी को भयभीत नहीं करना चाहिए। हां, सच्चा उपदेश देकर नरक का वास्तविक भय बतलाना अनुचित नहीं है, पाप का भय बतलाना पाप नहीं है, क्योंकि नरक का या पाप का भय दिखलाने का अर्थ है–उस भय से मुक्त करने के लिए किसी को सावधान करना। अनावश्यक भय दिखलाकर हृदय में भीरुता उत्पन्न करना पाप है।

आयुभेद का दूसरा कारण निमित्त है। राग, द्वेष, भय आदि न होने पर भी निमित्त से जीव की मृत्यु हो जाती है। किसी के मर्मस्थान पर तलवार, लाठी, भाला या बंदूक की गोली लगने पर वह मर जाता है। यह आयुभेद का दूसरा कारण है।

शस्त्र मारने के लिए ही बने हैं। अगर वह हिंसा न कर सकें तो उन्हें 'शस्त्र' नाम ही न दिया जाय। '32 हिंसायाम्' धातु से 'शस्त्र' शब्द बना है। इसीलिए यह हिंसा के हेतु हैं। बड़े–बड़े युद्धों में लाखों मनुष्यों की मृत्यु होती देखी जाती है। अगर युद्ध न होता तो क्या एकदम इतने अधिक मनुष्य मरते? नहीं। अतएव आयुभेद का एक कारण निमित्त भी है।

आयुभेद का तीसरा कारण आहार है। बहुत से लोग आहार के अभाव में मर जाते हैं और बहुत से अधिक आहार खा जाने से भी मर जाते

हैं बल्कि भूख से मरने वालों की अपेक्षा अधिक खाने से मरनेवालों की संख्या अधिक है। आहार शरीर का निर्वाह करने के लिए है, परन्तु अधिक आहार शरीर बिगाड़ने का कारण होता है।

आज आप लोगों के शरीर में जो नानाविध विकार घुसे हुए हैं, अनका मुख्य कारण अधिक और अहितकर पदार्थों का खाना है। आंखों से आंसू निकल रहे हैं, फिर भी शाक तो वही पसंद होगा, जिसका रंग मिर्चों के कारण लाल हो गया हो। ऐसा जान पड़ता है कि आजकल भोजन का उद्देश्य जिह्वा को तृप्त करना है, शरीर–निर्वाह करना नहीं। बूढों, जवानों और बच्चों का भोजन एक–सा हो रहा है। भोजन में ब्रह्मचर्य की रक्षा को कोई स्थान नहीं है। न खाने योग्य भोजन बच्चों को खिलाया जाता है। अपथ्य भोजन आयु का नाशक है, इसीलिए भगवान् ने कहा है–आहार भी मृत्यु का कारण है।

आहार के निरोध से भी आयु का नाश होता है–अन्नपानी के त्याग से मृत्यु हो जाती है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि शरीर आहार पर टिका हुआ है, परन्तु उसकी अधिकता या उसका अभाव मृत्यु का कारण होता है। अतएव आयुभेद का तीसरा कारण आहार है।

रोग भी आयुष्य के विनाश का कारण है। अनेक रोग ऐसे होते हैं, जिससे शीघ्र ही जीवन का अन्त आ जाता है। अमेरिका आदि देशों में भारत की तरह जल्दी रोग नहीं होता; क्योंकि वहां के लोग गंदी वायु में नहीं रहते। गंदी जगह और गंदे घरों में बीमारी के कीड़े पैदा होते हैं। उनसे रोग फैलता है और मनुष्य मर जाता है। इस प्रकार बीमारी भी आयुष्य नाश का कारण है।

पराघात भी आयु–विनाश का कारण है। गड्डे में गिर जाना, कुए में पड़ जाना या मकान पर से नीचे गिर पड़ना, यह सब पराघात है और इससे मृत्यु हो जाती है।

स्पर्श से भी आयुष्य नष्ट हो जाता है। अर्थात् किसी वस्तु के छू जाने मात्र से भी मृत्यु हो जाती है। जैसे–सांप आदि का दंस, स्पर्श होना, बिजली का छू जाना आदि।

आन–प्राण अर्थात् श्वासोच्छ्वास भी मृत्यु का कारण है। श्वासोच्छ्वास के सर्वथा रुक जाने या अधिक बढ़ जाने से आयु का नाश होता है।

ग्रन्थकारों का कथन है कि मैथुन करने में श्वास अधिक आता है, जिससे आयु नष्ट होता है। इसके विरुद्ध ब्रह्मचर्य का पालन करने से आयु का नाश नहीं होता और शरीर में बल भी रहता है।

टीकाकार कहते हैं कि कई बार हजारों आघात होने पर भी मनुष्य बच जाता है, अर्थात् जो स्थान मृत्यु का है, वहां तो जीवित रह जाता है और जो जीवन का स्थान है–जहां मरने का डर नहीं है वहां मनुष्य मर जाता है।

इस कथन पर आशंका की जा सकती है कि फिर ऐसा क्यों समझा जाय कि मृत्यु का कारण यह है? और यह नहीं है? इस संबंध में शास्त्र कहता है कि आयु दो प्रकार की होती है:– (1) निरुपक्रम आयु और (2) सोपक्रम आयु। जो आयु सैकड़ों कारणों से भी अकाल में नष्ट नहीं होती, वह निरुपक्रम आयु कहलाती है। और सोपक्रम आयु के नाश के सात कारण ऊपर दिखलाये गये हैं। उन कारणों से सोपक्रम आयु का बीच में ही नाश हो जाता है।

निरुपक्रम आयु किसे प्राप्त होता है? इस बात का उल्लेख भी शास्त्र में किया गया है। त्रेसठ शलाका–पुरुष, तद्भवमोक्ष गामी (उसी भव से मोक्ष पाने वाले), देव और नारक जीव निरुपक्रम आयुष्य वाले होते हैं। साधारण मनुष्यों में निरुपक्रम आयुष्य होता भी है और नहीं भी होता। अतएव सावधानी रखने की आवश्यकता है।

जहां सत्य और झूठ–दोनों चलते हों, वही सावधानी रखने की आवश्यकता है। जो सत्य और असत्य में सावधान रहते हैं, वही असत्य से बच सकते हैं। हमारा आयुष्य सोपक्रम है या निरुपक्रम, यह निश्चित नहीं है, इसलिए सावधानी रखने की आवश्यकता है।

आप कहेंगे, यह तो भय की बात हुई और भय बुरा है। लेकिन भय से घबराना नहीं चाहिए, भय को जीतना चाहिए। चोर लूट लेंगे, इस भय से घबरा कर मरने से काम नहीं चल सकता है। अतएव भयभीत न होकर सावधान रहना चाहिए।

शंका करने वाले कह सकते हैं–आयु के विनाश की बात तात्त्विक दृष्टि से शंकास्पद है, कल्पना कीजिए, एक मनुष्य सौ वर्ष की आयु लेकर आया है, परन्तु आयुनाश का कोई कारण उपस्थित होने से वह बीच में ही मर गया। इस प्रकार उस मनुष्य ने जो आयु कर्म उपार्जित किया था, उसे नहीं भोगा और जो उपार्जित नहीं किया था उसे भोगना पड़ा। अतः कृत का नाश और अकृत का प्रसंग हुआ। ऐसा मानने से तो मोक्ष तत्त्व भी गड़बड़ में पड़ जायगा।

इसका उत्तर यह है कि जिसे भस्मक व्याधि हो जाती है, वह बहुत दिनों का भोजन थोड़े ही दिनों में नष्ट कर देता है अर्थात् खा लेता है। इसी प्रकार यह भी देखा जाता है कि कोई वृक्ष अकाल में ही फल देने लगता है।

लेकिन ऐसी बातों से कृत का नाश और अकृत के भोग का दोष नहीं आता। जीव ने जो आयुकर्म पूर्वभव में बांधा था, वही इस भव में वह भोगता है, दूसरा नहीं भोगता। इसलिए कृत का नाश और अकृत का भोग नहीं कहा जा सकता। हां, जो कर्म धीरे–धीरे बहुत वर्षों में भोगना था, वह कारणवश जल्दी–अन्तर्मुहूर्त्त में भी–भोगा जाता है। इसी को आयु का नाश कहते हैं।

एक रस्सी अगर एक सिरे से जलाई जाय तो देर तक जलती है, अगर इकट्ठी करके एक साथ जलाई जाती है तो जल्दी जल जाती है। भीगा हुआ वस्त्र तह करके रख दिया तो देर में सूखता है, अगर फैला दिया तो जल्दी सूख जाता है। पानी का शोषण तो दोनों ही अवस्थाओं में होता है किन्तु एक अवस्था में धीरे–धीरे होता है और दूसरी अवस्था में जल्दी–जल्दी।

इसी प्रकार आयुष्य भी दो प्रकार से भोगा जाता है–प्रदेश से और विपाक से। विपाक से भोगे हुए आयुष्य को तो सभी जानते हैं किन्तु प्रदेश से भोगे जाने वाले आयुष्य को नहीं जानते। लेकिन इसे न जानने के कारण ही कृत का नाश और अकृत का आगमन नहीं होता और न मोक्ष तत्त्व में ही कोई गड़बड़ पड़ती है। आयु का भोग किस प्रकार करना, यह बहुत कुछ अपने हाथ में है। इस संबंध में सावधानी रखनी चाहिए।

आयुष्य सब से बड़ी वस्तु है। सब काम इसी पर निर्भर है। खेल तभी तक है, जब तक तेल है। तेल समाप्त हो जाने पर खेल भी खत्म हो जाता है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुष खेल करने से पहले देख लेते हैं कि तेल है या नहीं? मनुष्य का जीव विघ्नों से व्याप्त है। आयु कब पूरी हो जायगी, यह नहीं कहा जा सकता। अतएव यह विवेक करने की आवश्यकता है कि पहले क्या करना और पीछे क्या करना चाहिए? सर्वप्रथम धर्म–कार्य कर लेना ही श्रेयस्कर है।

भगवान् ने फरमाया है कि बाल–मनुष्य को कदाचित् स्वर्ग मिल जाता है, मगर मोक्ष नहीं मिल सकता। इस कथन से स्पष्ट है कि स्वर्ग मिलना कोई बड़ी बात नहीं है, पण्डितपन ही महत्त्वपूर्ण वस्तु है। एकान्त पण्डित में मनुष्य का आयुष्य कभी बंधता है और कभी नहीं भी बंधता। आशय यह है कि एकान्त पण्डित प्रथम तो उसी भव में मोक्ष प्राप्त कर लेता है–इसलिए आयु के बंध का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। कदाचित् उसी भव में मोक्ष न हो तो वैमानिक देव में जाता है और फिर जन्म लेकर आयु का आत्यन्तिक विनाश करके मोक्ष जाता है।

पण्डित मनुष्य वही है जो नरक जाने के काम न करे, तिर्यंच होने के काम न करे, मनुष्य या देव होने के भी काम न करे, वरन् एकान्त मोक्षप्राप्ति के कार्य करे–मोक्ष ही एकमात्र जिस का ध्येय हो।

किस–किस कार्य से कौन–कौन सी गति प्राप्त होती है, यह बात भी ज्ञानियों ने स्पष्ट रूप से बतला दी है। उन्होंने कहा है कि महारंभी, महापरिग्रही, पंचेन्द्रिय, घातक और मद्य–मांस का सेवन करने वाला नरक में जाता है। ऐसे काम करने वाला पण्डित नहीं है, किन्तु सब प्रकार के आरंभ और परिग्रह के त्यागी मुनि ही पण्डित हैं, चाहे वह पढ़े हुए न भी हों। सर्वारंभ और सर्वपरिग्रह को त्यागने वाला अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी और प्रत्याख्यानी की चौकड़ियों को लांघ गया है। अगर उसमें संज्वलन का भी आरंभ और परिग्रह न रहे, तो वह उसी भव में मोक्ष जाता है, अगर वह विद्यमान रहे तो परम्परा से मुक्त होता है।

इसके पश्चात् *गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! बालपंडित मनुष्य मर कर कहां जाता है?*

जो जीव तत्त्व को जान गया है, जिसने वस्तु–स्वरूप को भलीभांति ठीक–ठीक समझ लिया है, परन्तु आंशिक रूप में ही अपने ज्ञान के अनुसार आचरण कर सकता है अर्थात् जो कुछ बातों को त्याग सका है और कुछ को नहीं त्याग सका है, वह जीव बालपंडित कहलाता है। यहां यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि अगर उस जीव ने वस्तु–स्वरूप को भलीभांति जान लिया है तो उसे पंडित क्यों नहीं कहते? इसका उत्तर यह है कि अगर पंडितपन सिर्फ ज्ञान पर ही निर्भर होता तो एकान्त पंडित और बालपंडित की व्याख्या में कोई अन्तर न रहता। यद्यपि ज्ञान या बुद्धि बालपंडित और एकान्त पंडित दोनों में ही है, परन्तु पंडितपन या बालपन को यहां ज्ञान या बुद्धि के साथ नहीं जोड़ा गया है। इनका संबंध क्रिया के साथ है। जो पुरुष ज्ञान के साथ तदनुसार पूरा आचरण भी करता है वही पंडित है क्योंकि ज्ञान का फल आचरण है और यह फल उसे प्राप्त हो गया है। जिसे पूर्णरूप में चरित्र रूप फल प्राप्त नहीं हुआ, कुछ अंश में ही प्राप्त हुआ है, वह न एकान्त पंडित है, न एकान्त बाल है, इसलिए उसे बालपंडित कहते हैं।

जब तक क्रिया की मान्यता रही है, तब तक आनन्द रहा है। जब से लोगों ने क्रिया के प्रति उपेक्षा दिखलाई और कोरे अक्षर ज्ञान में पड़ गये हैं तभी से गड़बड़ हुई है। वास्तव में वही ज्ञान सफल है, जिससे चारित्र की उत्पत्ति हो।

पहले कहा जा चुका है कि जिसके पास जरा भी परिग्रह नहीं है, जो निरारंभी है वह तीन चौकड़ियों को लांघ गया है और वही पंडित है। इस प्रकार क्रिया के साथ पंडितपन का संबंध है, अगर क्रिया के साथ पंडितपन का संबंध न जोड़कर ज्ञान के साथ जोड़ा जाता तो बहुत पढ़े आदमी को, चाहे वह क्रिया से सर्वथा हीन ही होता तब भी पंडित कहना होता। और अनपढ़ क्रियावान् को पंडित न कह सकते। ऐसा करने से क्रिया का महत्व नष्ट हो जाता। अतएव क्रिया के साथ ही पण्डितपन का संबंध स्थापित किया गया है।

देव को धुतज्ञान है और साधु जो आरंभ–परिग्रह से रहित है, उसे ज्ञान अधिक नहीं है। फिर भी पण्डित देव को कहेंगे या आरंभ–परिग्रह के त्यागी साधु को? साधु को!

देव की बात ही क्या है, देवराज इन्द्र भी आरंभ परिग्रह के त्यागी को ही पण्डित कहेगा। अर्थात् यह कहेगा कि जो क्रियानिष्ठ है वही धन्य है। इस बात को समझने के कारण ही बालपण्डितपन आता है। जो इतना भी नहीं समझता और क्रिया में सर्वथाहीन है, वह एकान्त बाल है।

वैद्य स्वास्थ्य के नियमों को जानता है। वह अपनी तबीयत खराब होने पर यदि बात स्वीकार करता है कि मुझ से अमुक नियम का पालन न हो सका, तब तो उसका महत्व है, अन्यथा नहीं। इसी प्रकार यदि इन्द्र से पूछो कि आरंभ–परिग्रह में डूबा हुआ मनुष्य पण्डित है या आरंभ–परिग्रह को त्यागने वाला? तो इन्द्र उत्तर देगा कि आरंभ–परिग्रह को त्यागने वाला ही पंडित है। तब तुम उससे पूछो कि तुम स्वयं आरंभ–परिग्रह को क्यों नहीं त्यागते? इन्द्र उत्तर देगा–मुझ में इतनी शक्ति नहीं। अगर इन्द्र इस प्रकार का उत्तर न दे तो उसका ज्ञान भी अज्ञान ही समझना चाहिए।

युद्ध के समय चारण तो केवल गाते ही हैं, मगर वीर पुरुष उस गायन को सुनकर अपना सिर कटवा देते हैं। सिर कटवा देने वाले ही युद्ध–वीर कहलाते हैं, गीत गाने वाले चारणों को यह विरुद नहीं मिलता। इसी प्रकार वही पुरुष राजा–महाराजा कहलाते हैं जो सदा सिर कटवाने को उद्यत रहते हैं, चारण तो चारण ही रहते हैं।

मतलब यह है कि बालपंडित की व्याख्या यह है कि जो कुछ क्रिया पाले और कुछ न पाले तथा अपनी कमजोरी को स्वीकार करके आरंभ–परिग्रह के त्यागी को धन्य माने।

गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् कहते हैं—हे गौतम! बालपंडित मनुष्य भी देवायु का ही बंध करता है। वह नरक, तिर्यंच या मनुष्य का आयुष्य नहीं बांधता।

भगवान् के इस उत्तर पर गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! बालपंडित जीव देवयोनि में ही क्यों जाता है? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम! वह बालपंडित मनुष्य भी देवायु का ही बंध करता है। वह नरक तिर्यंच या मनुष्य का आयुष्य नहीं बांधता।

भगवान् के इस उत्तर पर गौतम स्वामी फिर प्रश्न करते हैं—भगवन्! बालपंडित जीव देवयोनि में ही क्यों जाता है? इसके उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम ! वह बालपंडित मनुष्य तथारूप के श्रमण—महान के वचन सुनकर देश से आरंभ—परिग्रह का त्याग करता है। उस त्याग के प्रताप से वह जीव तीन गतियों से बच जाता है और चौथी देवगति में ही जन्म लेता है।

प्रत्याख्यान, संवर में है। संवर में मोक्ष की क्रिया होती है। भले ही यह क्रिया थोड़ी हो, परन्तु इसके होने पर मोक्ष की नींव पड़ जाती है। मोक्ष चाहे अनेक जन्मों के बाद मिले, परन्तु वह नरक एवं तिर्यंच योनि में उत्पन्न नहीं होता, केवल देव और मनुष्य ही होता है।

प्रत्याख्यान, संवर में है और शास्त्र के अनुसार देवगति संवर से नहीं, किन्तु आस्रव से होती है। संवर तो मोक्ष का कारण है। अतएव देव होने में प्रत्याख्यान से जो शेष बचता है, उसका भी कुछ प्रताप है एकान्त बालपन को त्यागने का कुछ लाभ हुआ ही, लेकिन त्याग करने से जो शेष रहा उसका भी रस घट गया, अर्थात् वह अप्रत्याख्यानी चौकड़ी से निवृत्त हो गया, प्रत्याख्यानी क्रिया रही। पहले अव्रत की क्रिया लगती थी, वह प्रत्याख्यान करने पर बंद हो गई। शास्त्र कहता है कि जिसके परिग्रह की ही क्रिया है और अव्रत की क्रिया नहीं है, वह जीव देव या मनुष्य ही होता है, व नरकगति या तिर्यंचगति में नहीं जाता। सारांश यह है कि परिग्रह की जो क्रिया रही हैं, उसके कारण देवलोक की प्राप्ति होती है, मगर प्रत्याख्यानी क्रिया से ही यह सब होता है।

मृगघातक पुरुष आदि

मूलपाठ

प्रश्न–पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा, दहंसि वा, उदगंसि वा, दवियंसि वा, वलयंसि वा, णूमंसि वा, गहणंसि वा, गहणवि दुग्गंसि वा, पव्वयंसि वा, पव्वयवि दुग्गंसि वा, वणंसि वा, वणवि दुग्गंसि वा, मिय वित्तीए, मिय संकप्पे, मिय पणिहाणे, मियवहाए गंता 'एते मिए' त्ति काउं अण्णयरस्स मियस्स वहाए कूड़पासं उद्दाइ; तओ णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए पण्णत्ते?

उत्तर–गोयमा! जावं च णं से पुरिसे कच्छंसि वा, जाव–कूडपासं उद्दाइ, तावं च णं से पुरिसे सिय तिकिरिए, सिय चतुकिरिए, सिय पंचकिरिए।

प्रश्न–से केणटेणं भंते! एवं वुच्चइ–सिय तिकिरिए, सिय चतुकिरिए, सिय पंचकिरिए?

उत्तर–गोयमा! जे भविए उद्दवणयाए, णो बंधणयाए, णो मारणयाए, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसियाए, तिहिं किरियाहिं पुटे। जे भविए उद्दवणयाए वि, बंधणयाए वि, णो मारणरयाए, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए पाउसियाए, परितावणियाए चउहिं किरियाहिं पुटे। जे भविए उद्दवणयाए वि बंधणयाए वि, मारणयाए वि, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहिगरणियाए, पाउसिआए– परितावणियाए पाणाइवाय किरियाए–पंचहिं किरियाहिं पुटे। से तेणट्ठेणं जावपंचकिरिए।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–पुरुषो भगवन्! कच्छे वा, ह्रदे वा, उदके वा, द्रवके वा, वलये वा, नूने वा, गहने वा, गहन विदुर्गे वा, पर्वते वा, पर्वत विदुर्गे वा, वने वा, वन

विदुर्गे वा, मृगवृत्तिकः मृगसंकल्पः मृगप्रणिधानो वा, मृगवधाय गत्वा 'एते मृगाः' इति कृत्वा अन्यतरस्य वा मृगस्य वधाय कूटपाशं उद्ददाति; ततो भगवन्! स पुरुषः कतिक्रियः प्रज्ञप्तः?

उत्तर—गौतम! यावत् च स पुरुषः कच्छे वा, यावत् कूटपाशं उद्ददाति, तावत् च स पुरुषः स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः।

प्रश्न—तत् केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते—स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पंचक्रियः?

उत्तर— गौतम! यो भव्य उद्द्रवणतया, नो बन्धनतया, नो मारणतया तावच्च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, तिसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। यो भव्य उद्द्रवण तयाऽपि, बन्धनतयाऽपि नो मारणतया तावच्च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, पारितापनिक्या, चतुसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। यो भव्य उद्द्रवणतयाऽपि, बन्धनतयऽपि मारणतयाऽपि, तावच्च स पुरुषः कायिक्या आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, यावत्— प्राणातिपात क्रियया पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। तत् तेनार्थेन यावत् पञ्चक्रियः।

शब्दार्थ

प्रश्न—भगवन्! हिरनों से आजीविका चलाने वाला हिरनों का शिकारी और हिरनों के शिकार में तल्लीन कोई पुरुष हिरन को मारने के लिए कच्छ में (नदी के पानी से घिरे हुए झाड़ियों वाले स्थान में) दह में, जलाशय में, घास आदि के समूह में, वलय (गोलाकर नदी वगैरह के पानी से आड़े—टेढ़े स्थान) में, अंधकार वाले प्रदेश में, गहन में (वृक्ष, बेल आदि के समुदाय में) पर्वत के एक भागवर्ती वन में, पर्वत में, डूंगर वाले प्रदेश में, वन में, और बहुत वृक्षों वाले वन में जाकर 'ये मृग है' ऐसा सोचकर किसी मृग को मारने के लिए कूटपाश रचे अर्थात् गड्ढा बनावे या जाल फैलावे; तो हे भगवन्! वह पुरुष कितनी क्रियाओं वाला कहा गया है?

उत्तर—हे गौतम! वह पुरुष कच्छ में यावत्—जाल फैलावे तो कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाता है।

प्रश्न—भगवन्! क्या कारण है कि वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाता हैं?

उत्तर—हे गौतम! जब तक वह पुरुष जाल को धारण करता है, और मृगो को बांधता नहीं है तथा मृगों को मारता नहीं है, तब तक वह पुरुष

कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी—इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट है अर्थात् तीन क्रिया वाला कहलाता है और जब तक वह जाल को धारण किया हुआ है और मृगों को बांधता है, किन्तु मारता नहीं है, तब तक वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी—इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट है और जब वह पुरुष जाल को धारण किया हुआ है, मृगों को बांधता है और मारता है, तब वह कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपात क्रिया—इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट है—अर्थात् पांच क्रिया वाला है। इस कारण हे गौतम! वह पुरुष यावत् पांच क्रिया वाला है।

व्याख्यान

एकान्त पण्डित, एकान्त बाल और बालपण्डित का विचार हो चुका है। अब क्रियाओं के विषय में विचार किया जाता है; क्योंकि नरक या देव आदि का आयुष्य क्रिया से ही बांधता है। जीव जैसी क्रिया करता है, वैसा ही आयुष्य बांधता है।

क्रिया के दो भेद हैं—शुभक्रिया और अशुभक्रिया। अशुभक्रियाएं पांच हैं:— (1) कायिकी—काया द्वारा होनेवाला सावद्य व्यापार कायिकी क्रिया है। (2) आधिकरणिकी—हिंसा के साधन जुटाना आधिकरणिकी क्रिया है। (3) प्राद्वेषिकी—हिंसा के साधनों का उपयोग करना। (4) पारितापनिकी—जिसे मारने का विचार किया है उसे पीड़ा पहुंचाना। (5) प्राणातिपात क्रिया—जिसे मारने का संकल्प किया था उसे मार डालना।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! कच्छ आदि स्थानों में मृग रहते हैं और किसी आदमी ने मृग मारने की आजीविका अंगीकार कर रक्खी है। वह आदमी गुफा, जंगल आदि मृग रहने के स्थान पर, मृग को मारने के संकल्प से गया। उसने मृग को फंसाने के लिए जाल फैलाया। तो हे भगवन्! उस जाल फैलाने वाले को कितनी क्रियाएं लगीं?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम! केवल जाल फैलाने पर तीन क्रियाएं लगीं, मृग के फंसने पर चार क्रियाएं लगीं और मृग को मार डालने पर पांच लगीं।

शास्त्र में कहा है कि प्रतिक्रमण करने वाला साधु अगर प्रतिक्रमण करने में असावधानी करता है तो उसे पांच क्रियाएं लगती हैं। वह छह काया के जीवों का विरोधक माना जाता है। इधर गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते हैं कि शिकारी पुरुष ने जब मृग मारने का संकल्प कर लिया है, मृग मारने का उपाय कर लिया है, तब भी उसे तीन ही क्रियाएं

विदुर्गे वा, मृगवृत्तिकः मृगसंकल्पः मृगप्रणिधानो वा, मृगवधाय गत्वा 'एते मृगाः' इति कृत्वा अन्यतरस्य वा मृगस्य वधाय कूटपाशं उद्दधाति; ततो भगवन्! स पुरुषः कतिक्रियः प्रज्ञप्तः?

उत्तर–गौतम! यावत् च स पुरुषः कच्छे वा, यावत् कूटपाशं उद्दधाति, तावत् च स पुरुषः स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः।

प्रश्न–तत् केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते–स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पंचक्रियः?

उत्तर– गौतम! यो भव्य उद्द्रवणतया, नो बन्धनतया, नो मारणतया तावच्च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, तिसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। यो भव्य उद्द्रवण तयाऽपि, बन्धनतयाऽपि नो मारणतया तावच्च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, पारितापनिक्या, चतुसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। यो भव्य उद्द्रवणतयाऽपि, बन्धनतयऽपि मारणतयाऽपि, तावच्च स पुरुषः कायिक्या आधिकरणिक्या, प्राद्वेषिक्या, यावत्– प्राणातिपात क्रियया पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। तत् तेनार्थेन यावत् पञ्चक्रियः।

शब्दार्थ

प्रश्न–भगवन्! हिरनों से आजीविका चलाने वाला हिरनों का शिकारी और हिरनों के शिकार में तल्लीन कोई पुरुष हिरन को मारने के लिए कच्छ में (नदी के पानी से घिरे हुए झाड़ियों वाले स्थान में) दह में, जलाशय में, घास आदि के समूह में, वलय (गोलाकर नदी वगैरह के पानी से आड़े–टेढ़े स्थान) में, अंधकार वाले प्रदेश में, गहन में (वृक्ष, बेल आदि के समुदाय में) पर्वत के एक भागवर्ती वन में, पर्वत में, डूंगर वाले प्रदेश में, वन में, और बहुत वृक्षों वाले वन में जाकर 'ये मृग है' ऐसा सोचकर किसी मृग को मारने के लिए कूटपाश रचे अर्थात् गड्ढा बनावे या जाल फैलावे; तो हे भगवन्! वह पुरुष कितनी क्रियाओं वाला कहा गया है?

उत्तर–हे गौतम! वह पुरुष कच्छ में यावत्–जाल फैलावे तो कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाता है।

प्रश्न–भगवन्! क्या कारण है कि वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाता है?

उत्तर–हे गौतम! जब तक वह पुरुष जाल को धारण करता है, और मृगों को बांधता नहीं है तथा मृगों को मारता नहीं है, तब तक वह पुरुष

कायिकी, आधिकरणिकी और प्राद्वेषिकी—इन तीन क्रियाओं से स्पृष्ट है अर्थात् तीन क्रिया वाला कहलाता है और जब तक वह जाल को धारण किया हुआ है और मृगों को बांधता है, किन्तु मारता नहीं है, तब तक वह पुरुष कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी और पारितापनिकी—इन चार क्रियाओं से स्पृष्ट है और जब वह पुरुष जाल को धारण किया हुआ है, मृगों को बांधता है और मारता है, तब वह कायिकी, आधिकरणिकी, प्राद्वेषिकी, पारितापनिकी और प्राणातिपात क्रिया—इन पांच क्रियाओं से स्पृष्ट है—अर्थात् पांच क्रिया वाला है। इस कारण हे गौतम! वह पुरुष यावत् पांच क्रिया वाला है।

व्याख्यान

एकान्त पण्डित, एकान्त बाल और बालपण्डित का विचार हो चुका है। अब क्रियाओं के विषय में विचार किया जाता है; क्योंकि नरक या देव आदि का आयुष्य क्रिया से ही बांधता है। जीव जैसी क्रिया करता है, वैसा ही आयुष्य बांधता है।

क्रिया के दो भेद हैं—शुभक्रिया और अशुभक्रिया। अशुभक्रियाएं पांच हैं:— (1) कायिकी—काया द्वारा होनेवाला सावद्य व्यापार कायिकी क्रिया है। (2) आधिकरणिकी—हिंसा के साधन जुटाना आधिकरणिकी क्रिया है। (3) प्राद्वेषिकी—हिंसा के साधनों का उपयोग करना। (4) पारितापनिकी—जिसे मारने का विचार किया है उसे पीड़ा पहुंचाना। (5) प्राणातिपात क्रिया—जिसे मारने का संकल्प किया था उसे मार डालना।

गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! कच्छ आदि स्थानों में मृग रहते हैं और किसी आदमी ने मृग मारने की आजीविका अंगीकार कर रक्खी है। वह आदमी गुफा, जंगल आदि मृग रहने के स्थान पर, मृग को मारने के संकल्प से गया। उसने मृग को फंसाने के लिए जाल फैलाया। तो हे भगवन्! उस जाल फैलाने वाले को कितनी क्रियाएं लगीं?

भगवान् ने उत्तर दिया—हे गौतम! केवल जाल फैलाने पर तीन क्रियाएं लगीं, मृग के फंसने पर चार क्रियाएं लगीं और मृग को मार डालने पर पांच लगीं।

शास्त्र में कहा है कि प्रतिक्रमण करने वाला साधु अगर प्रतिक्रमण करने में असावधानी करता है तो उसे पांच क्रियाएं लगती हैं। वह छह काया के जीवों का विरोधक माना जाता है। इधर गौतम स्वामी के प्रश्न के उत्तर में भगवान् फरमाते है कि शिकारी पुरुष ने जब मृग मारने का संकल्प कर लिया है, मृग मारने का उपाय कर लिया है, तब भी उसे तीन ही क्रियाएं

लगती हैं। साधु को प्रतिक्रमण में असावधानी करने मात्र से पांच क्रियाएं लगती हैं और उस पुरुष को तीन ही लगती है। इस अंतर का क्या कारण है?

गौतम स्वामी ने पूछा—भगवन्! एक आदमी मृग मारने चला। उसने अपने धनुष पर बाण चढ़ाया। उसी समय पीछे से कोई दूसरा आदमी आ पहुंचा और उसने बाण चढ़ाने वाले को मार डाला। लेकिन इसी बीच में उस आदमी के हाथ से बाण छूट गया और मृग मर गया। अब इन दो मनुष्यों में से कौन मनुष्य का घातक है और कौन मृग का घातक है? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! जिसके बाण से मृग मरा, वह मृगघातक है और जिसने मनुष्य को मारा, वह मनुष्य का घातक है, क्योंकि 'कडमाणे कडे' यह सिद्धांत सर्वत्र लागू होता है।

संसार के कानून में भी ऐसा ही अन्तर है। कल्पना कीजिए, एक आदमी किसी आदमी को मारने चला, पर पुलिस ने उसे बीच में ही पकड़ लिया। एक दूसरा मनुष्य किसी को मारने गया, पर वह कुछ घाव ही कर सका, जान से न मार सका और बीच में ही पकड़ लिया गया। तीसरे आदमी ने जाकर किसी को जान से मार डाला। लेकिन कानून के अनुसार इन तीन आदमियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की सजा दी जाती है। अगर तीनों को एक ही प्रकार सजा दी जाय तो संसार में न्याय की व्यवस्था ही न रहे। भगवान् कहते हैं—जब संसार को न्याय देना है तो तीन, चार और पांच क्रियाओं का विचार करो, परन्तु जब स्वयं का विचार करो तब ऐसा समझो कि संकल्प करने मात्र से पांचों क्रियाएं लगती हैं।

कभी-कभी संकल्प करने वाला मारने वाले से भी बढ जाता है। उदाहरणार्थ एक आदमी निशान साधने का अभ्यास कर रहा है अचानक उस आदमी का निशाना चूक गया और उसकी गोली से एक आदमी मर गया। क्या संसार के कानून से उसे फांसी की सजा मिलेगी? नहीं!

क्योंकि उसकी नीयत किसी को मारने की नहीं थी। अतएव उसे सिर्फ असावधानी का दण्ड मिलेगा। इस प्रकार जब राजा नीयत देखकर निर्णय करता है तब धर्म के न्याय में ऐसा क्यों नहीं होगा?

मन एव मनुष्याणां, कारणं बन्धमोक्षयोः।

अर्थात्—मन ही मनुष्य के बंध और मोक्ष का कारण है।

क्रियाधिकार

मूलपाठ

प्रश्न—पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा, जाव वणवि दुग्गंसि वा तणाइं ऊसविय, ऊसविय अगणिकायं णिस्सरइ। तावं च णं से भंते। से पुरिसे कतिकिरिए?

उत्तर—गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउ किरिए, सिय पंच किरिए।

प्रश्न—से केणट्ठेणं?

उत्तर—गोयमा! जे भविए उस्सवणयाए तिहिं। उस्सवणयाए वि, णिस्सरणयाए वि, णो दहणयाए चउहिं। जे भविए उस्सवणयाए वि, णिस्सरणयाए वि, दहणयाए वि, तावं च णं से पुरिसे काइयाए जाव—पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। से तेणट्ठेणं गोयमा!

प्रश्न—पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा, जाव वणवि दुग्गंसि वा मियवित्तीए मियसंकप्पे, मियपणिहाणे, मियवहाए गंता, 'एए मिय' त्ति काउं अण्णयरस्स मियस्स वहाए उसुं णिसिरइ तओ णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए?

उत्तर—गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए!

प्रश्न—से केणट्ठेणं?

उत्तर—गोयमा! जे भविए णिसिरणयाए, नो विद्धंसणयाए वि, नो मारणयाए वि तिहिं। जे भविए णिसिरणयाए वि, विद्धंसणयाए वि, नो मारणयाए चउहिं। जे भविए णिसिरणयाए वि, विद्धंसणयाए वि, मारणयाए वि, तावं च णं से पुरिसे जाव—पंचहिं किरियाहिं पुटे। से तेणट्ठेणं गोयमा! सिय तिकिरिए, सिय चउकिरिए, सिय पंचकिरिए।

प्रश्न–पुरिसे णं भंते! कच्छंसि वा, जाव अण्णयरस्स–मियस्स वहाए आययकण्णाययं उसुं आयामेत्ता चिट्ठेज्जा, अण्णे य से पुरिसे मग्गओ आगम्म सयपाणिणा असिणा सीसं छिंदेज्जा, से य उसू ताए चेव पुव्वाया मणयाए तं मियं विंधेज्जा, से णं भंते! पुरिसे किं मिय वेरेणं पुटे? पुरिस वेरेणं पुटे?

उत्तर–गोयमा! जे मियं मारेइ, से मिय वेरेणं पुटे जे पुरिसं मारेइ, से पूरिस वेरेणं पुटे?

प्रश्न–से केणटेणं भंते! एवं वुच्चइ जाव पुरिस वेरेणं पुटे?

उत्तर–से णू णं गोयमा! कज्जमाणे कडे, संधिज्जमाणे संधिए, णिव्वत्तिज्जमाणे निव्वत्तिए, निसरिज्जमाणे णिसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया?

'हंता, भगवं! कज्जमाणे कड़े, जाव निसरिज्जमाणे णिसिट्ठे त्ति वत्तव्वं सिया।'

से तेणट्ठेणं गोयमा! जे मियं मारेइ, से मिय वेरेणं पुट्ठे। जे पुरिसं मारेइ, से पुरिस वेरेणं पुट्ठे। अंतो छण्हं मासाणं मरइ काइयाए, जाव पंचहिं करियाहिं पुट्ठे बाहिं छण्हं मासाणं मरइ, काइयाए, जाव–पारियावणियाए चउहिं किरियाहिं पुट्ठे।

प्रश्न– पुरिसे णं भंते! पुरिस सत्तीए समभिधंसेज्जा, सय पाणिणा वा, से असिणा सीसं छिंदेज्जा, तओ णं भंते! से पुरिसे कतिकिरिए?

उत्तर–गोयमा! जावं व णं से पुरिसे तं पुरिसं सत्तीए समभिध ंसेइ, सय पाणिणा वा, से असिणा सीसं छिंदइ, तावं च णं से पुरिसे काइयाए, अहि गरणियाए, जाव–पाणाइवाय किरियाए पंचहिं किरियाहिं पुट्ठे। आसण्ण वहएण य अणवकंखणवत्तीए णं पुरिसवेरेणं पुट्ठे।

प्रश्न–दो भंते! पुरिसा सरिसया, सरित्तया, सरिव्वया, सरिस भंड–मत्तोवगरणा, अण्णमण्णेणं सद्धिं संगामं संगामेइ, तत्थ णं एगे पपुरिसे पराइणिइ, एगे पुरिसे पराइज्जइ; से कहमेयं भंते ! एवं ?

उत्तर–गोयमा! एवं वुच्चइ–सवीरिए परायिणइ, अवीरिए परायिज्जइ।

प्रश्न–से केणट्ठेणं जाव–परायिज्जइ?

उत्तर–गोयमा! जस्स णं वीरियवज्झाइं कम्माइं णो बद्धाइं, णो पुट्ठाइं, जाव–णो अभिसमण्णा गयाइं णो उदिण्णाइं, उवसंताइं भवति,

से णं परायिणइ। जस्स णं वीरिय वज्झाइं कम्माइं जाव–उदिण्णाइं णो उवसंताइं भवंति, से णं पुरिसे परायिज्जइ, से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–सवीरिए परायिणइ, अवीरिए परायिज्जइ।

संस्कृत–छाया

प्रश्न–पुरुषो भगवन्! कच्छे वा यावत् वनविदुर्गे वा तृणानि उत्सर्य्य उत्सर्य्य अग्निकायं निसृजाति, तावच्च स भगवन्! पुरुषः कतिक्रियः?

उत्तर–गौतम! स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः।

प्रश्न–तत् केनार्थेन?

उत्तर–गौतम! यो भव्यउच्छ्रयणतया तिसृभिः, उच्छ्रयणतयाऽपि, निसर्जनतयाऽपि नो दहनतया चतुसृभिः, यो भव्य उच्छ्रयणतयाऽपि, निसर्जनतयाऽपि, तावच्च स पुरुषः कायिक्या, यावत्–पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। तत् तेनार्थेन गौतम!

प्रश्न–पुरुषो भगवन्! कच्छे वा, यावत् वनविदुर्गे वा मृगवृत्तिकः, मृगसंकल्पः मृगप्रणिधानः, मृगवधाय गत्वा 'एते मृगाः' इति कृत्वा अन्यतरस्य मृगस्य वधाय इषुं निसृजति, ततो भगवन्! स पुरुषः कतिक्रियः?

उत्तर–गौतम! स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् प०चक्रियः।

प्रश्न–तत् केनार्थेन?

उत्तर–यो भव्यो निसर्जनतया, नो विध्वंसनतयाऽपि, नो मारणतयाऽपि तिसृभिः, यो भव्यो निसर्जनतयाऽपि, विध्वंसनतयाऽपि, नो मारणतया चतुसृभिः, यो भव्यो निसर्जन तयाऽपि, विध्वंसनतयाऽपि मारणतयाऽपि तावच्च सः पुरुषो यावत्–पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। तत् तेनार्थेन गौतम ! स्यात् त्रिक्रियः, स्यात् चतुष्क्रियः, स्यात् पञ्चक्रियः।

प्रश्न–पुरुषो भगवन्! कच्छे वा, यावत् अन्यतरस्य वधाय आयत कर्णायतम् इषुम् आयम्य तिष्ठेत्, अन्यश्च स पुरुषो मार्गतः आगत्य स्वकपाणिना, असिना शीर्ष छिन्द्यात्, स च इषुः तया चवे पूर्वोऽऽय मनतया तं मृगं विध्येत्, स भगवन्! पुरुषः किं मृग वैरेण स्पृष्टः? पुरुषवैरेण स्पृष्टः?

उत्तर–गौतम! यो मृगं मारयति, स मृग वैरेण स्पृष्टः, यः पुरुषं मारयति स पुरुष वैरेण स्पृष्टः।

प्रश्न–तत् केनार्थेन भगवन्! एवमुच्यते यावत् 'स पुरुषवैरेण स्पृष्टः।'

उत्तर–तद् नूनं गौतम! क्रियमाणं कृतम्, संधीयमानं संधितम्, निर्वृत्यमानं निर्वृत्तितम्, निसृज्यमानं निसृष्टम्, इति वक्तव्यं स्यात्।

'हन्त भगवन्! क्रियमाणं कृतम्, यावत्–निसृज्यमानं निसृष्टम् इति वक्तव्यं स्यात्।'

तत् तेनार्थेन गौतम! यो मृगं मारयति स मृगवैरेण स्पृष्ट, यः पुरुषं मारयति, स पुरुषवैरेण स्पृष्टः; अन्तः वण्णां मास नां म्रियते कायिक्या, यावत् पारितापनिक्या चतुसृभिः क्रियाभिः स्पृष्टः।

प्रश्न–पुरुषो भगवन् पुरुषं शक्त्या समभिध्वंसेत, स्वकपाणिना वा, सोऽसिना शीर्षं छिन्द्यात् ततो भगवन्! स पुरुषः कतिक्रियः'?

उत्तर–गौतम! यावच्च स पुरुषस्तं पुरुषं शक्त्या सममभिध्वंसते तस्य पाणिना वा, तस्याऽसिना शीर्षं छिनत्ति, तावच्च स पुरुषः कायिक्या, आधिकरणिक्या, यावत्–प्राणातिपात क्रिययाः पञ्चभिः क्रियाभिः स्पृष्टः। आसन्नव धकेन च अनवकाङ्क्षण वृत्तिकेन पुरुष वैरेण स्पृष्टः।

प्रश्न–द्वौ भगवन्! पुरुषो सदृशौ, सदृक्त्वचौ, सदृग्वयसौ, सदृग्भण्डवात्रोपकरणौ अन्योन्येन सार्धं संग्रामं संग्रामयेते तत्र एकः पुरुषः पराजयते, एकः पुरुषः पराजीयते। तत् कथमेतद् भगवन् एवम्?

उत्तर–गौतम! एवमुच्यते–सवीर्यः पराजयते, अवीर्यः पराजीयते।

प्रश्न–तत् केनार्थेन यावत् पराजीयते?

उत्तर–गौतम! यस्य वीर्यवर्जानि कर्माणि नो बद्धानि, नो स्पृष्टानि यावद् नो अभिसमन्वागतानि, नो उदीर्णानि, उपशान्तानि, भवन्ति, स पराजयते। यस्य वीर्यवर्जानि कर्माणि बद्धानि, यावत् उदीर्णानि, नो उपशान्तानि भवन्ति, स पुरुषः पराजीयते। तत् तनार्थेन गौतम! एवमुच्यते सवीर्यः पराजयते, अवीर्यः पराजीयते।

मूलार्थ–

प्रश्न–भगवन्! कच्छ में यावत् वनविदुर्ग में (अनेक वृक्षों वाले वन में) कोई पुरुष तिनके इकट्ठे करके उनमें आग डाले। तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला कहा जायगा?

उत्तर–हे गौतम! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाएगा।

प्रश्न–भगवन्! इसका क्या कारण?

उत्तर–हे गौतम! जब तक वह पुरुष तिनके इकट्ठे करता है, तब तक वह तीन क्रिया वाला कहलाता है। जब वह तिनके इकट्ठे कर लेता है और उसमें आग डालता है किन्तु जलाता नहीं है, तब तक वह चार क्रिया वाला कहलाता है और जब वह तिनके इकट्ठे करता है, आग डालता है और जलाता

है, तब वह पुरुष कायिकी आदि यावत् पांच क्रिया वाला कहलाता है। इसलिए हे गौतम! इस कारण पूर्वोक्त कथन किया है।

प्रश्न–भगवन्! मृगों से आजीविका चलाने वाला, मृगों का शिकारी और मृगों के शिकार में तल्लीन कोई पुरुष, मृगों को मारने के लिए कच्छ में यावत् वनविदुर्ग में जाकर 'यह मृग है' ऐसा सोचकर मृग को मारने के लिए बाण फैंकता है, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला कहलाएगा?

उत्तर–हे गौतम! वह पुरुष कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाएगा।

प्रश्न–भगवन्, इसका क्या कारण है?

उत्तर–हे गौतम! जब तक वह पुरुष बाण फैंकता है, पर मृग को बेधता नहीं है, तथा मृग को मारता नहीं है, तब तक वह पुरुष तीन क्रिया वाला कहलाता है। जब वह बाण फैंकता है और मृग को बेधता है, पर मृग को मारता नहीं है तब तक वह चार क्रिया वाला कहलाता है और जब वह बाण फैंकता है, मृग को बेधता है और मारता है तब वह पुरुष पांच क्रिया वाला कहलाता है। इसलिए हे गौतम! इस कारण कदाचित् तीन क्रिया वाला, कदाचित् चार क्रिया वाला और कदाचित् पांच क्रिया वाला कहलाता।

प्रश्न–भगवन्! कोई पुरुष कच्छ में यावत् किसी मृग का वध करने के लिए कान तक लंबे किये हुए बाण को प्रयत्न पूर्वक खींच कर खड़ा हो और दूसरा कोई पुरुष पीछे से आकर उस खड़े हुए पुरुष का मस्तक अपने हाथ से, तलवार द्वारा काट डाले। वह बाण पहले वाले पुरुष के हाथ से छूट कर उस मृग को बेध डाले तो हे भगवन्! वह पुरुष मृग के बैर से स्पृष्ट है या पुरुष के बैर से स्पृष्ट है।

उत्तर–हे गौतम! जो पुरुष मृग को मारता है वह मृग के बैर से स्पृष्ट है और जो पुरुष, पुरुष को मारता है वह पुरुष के बैर से स्पृष्ट है।

प्रश्न–भगवन्! इसका क्या कारण है कि–यावत् 'वह पुरुष, पुरुष के वैर से स्पृष्ट है?

उत्तर–गौतम! यह निश्चित है कि जो किया जा रहा है वह किया हुआ कहलाता है, जो मारा जा रहा है वह मारा हुआ कहलाता है, जो जलाया जा रहा है वह जलाया हुआ कहलाता है और जो फेंका जा रहा है वह फैंका हुआ कहलाता है?

भगवन्! हां, जो किया जा रहा है वह किया कहलाता है और–यावत् जो फैंका जा रहा है वह फैंका हुआ कहलाता है।

इसलिए हे गौतम! इसी कारण जो मृग को मारता है वह मृग के वैर से स्पृष्ट कहलाता है और जो पुरुष को मारता है वह पुरुष के वैर से स्पृष्ट कहलाता है। और अगर मरने वाला छह मास के भीतर मरे तो मारने वाला कायिकी यावत्–पांच क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है। अगर मरने वाला छह मास के बाद मरे तो मारने वाला पुरुष कायिकी यावत्–पारितापनिकी क्रिया से चार क्रियाओं से स्पृष्ट कहलाता है।

प्रश्न–भगवन्! कोई पुरुष, किसी पुरुष को बरछी से मारे अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काट डाले, तो वह पुरुष कितनी क्रिया वाला होगा?

उत्तर–हे गौतम! जब तक वह पुरुष उसे बरछी द्वारा मारता है अथवा अपने हाथ से तलवार द्वारा उस पुरुष का मस्तक काटता है, तब वह पुरुष कायिकी, आधिकारणिकी यावत् प्राणातिपातिकी क्रिया से–पांचों क्रियाओं से स्पृष्ट होता है और वह पुरुष, आसन्नवधक तथा दूसरे के प्राणों की परवाह नहीं करने वाला पुरुष वैर से स्पृष्ट होता है।

प्रश्न–भगवन्! एक सरीखे, सरीखी चमड़ी वाले, सरीखी उम्र वाले, सरीखे द्रव्य और उपकरण (शस्त्र आदि) वाले, कोई दो पुरुष आपस में एक दूसरे के साथ संग्राम करें। उसमें एक पुरुष जीतता है और एक पुरुष हारता है। हे भगवन्! ऐसा क्यों होता है?

उत्तर–गौतम! जो पुरुष सवीर्य होता है वह जीतता है और जो वीर्यहीन होता है वह हारता है।

प्रश्न–भगवन्! इसका क्या कारण है कि यावत्–'वीर्यहीन हारता है'?

उत्तर–गौतम! जिसने वीर्यव्याघातक कर्म नहीं बांधे, नहीं स्पर्श किये, यावत् नहीं प्राप्त किये और उसके वे कर्म उदय में नहीं आये हैं, पर उपशान्त हैं, वह पुरुष जीतता है। जिसने वीर्यव्याघातक कर्म बांधे हैं, स्पर्श किये हैं और यावत्–उसके वे कर्म उदय में आये हैं पर उपशान्त नहीं हैं, वह पुरुष पराजित होता है। इसलिए हे गौतम! इस कारण ऐसा कहा है कि वीर्य वाला पुरुष जीतता है और वीर्यहीन हारता है।

व्याख्यान

अब गौतम स्वामी प्रश्न करते हैं–भगवन्! जंगल, वन आदि किसी भी जगह कोई आदमी घास इकट्ठा करके उसमें आग लगाना चाहता है, तो आग लगाने से क्रिया लगती है या नहीं? अगर लगती है तो कितनी क्रियाएं लगती

हैं? इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया—हे गौतम! आग लगाने में भी तीन, चार या पांच क्रियाएं लगती हैं। जब घास में आग लगाने का संकल्प किया, तब तीन क्रियाएं लगीं। घास इकट्ठा करने में प्राणियों को कष्ट हुआ, इसलिए उस समय चार क्रियाएं हुई। फिर घास में जब आग लगा दी, जिससे अनेक प्राणी मरे, तब पांच क्रियाएं हुई।

इन प्रश्नोतरों में देखना यह है कि कहां तो मृग मारने की क्रिया और कहां आग लगाने की क्रिया; दोनों में बहुत अन्तर नजर आता है। फिर दोनों क्रियाएं बराबर कैसे हुई? इसके अतिरिक्त जीवन के लिए आग आवश्यक है। कर्मभूमि का पहला चिह्न आग ही है। कई लोग अग्नि को सहायक मान कर उसकी पूजा भी करते हैं। सांसारिक जीवन में आरंभ बिना निभ नहीं सकता। इसलिए प्रश्न होता है कि क्या मृग मारने वाला और अग्नि का आरंभ करने वाला, क्रिया के लिहाज से बराबर है?

इस प्रश्न का उत्तर यह है कि प्रत्येक क्रिया हल्की भी होती है और भारी भी होती है। आग लगाने वाले को आग की क्रिया लगती है और मृग मारने वाले को मृग मारने की क्रिया लगती है। उदाहरण के लिए—एक आदमी पर पांच कौड़ी का कर्ज है और दूसरे आदमी पर पांच रुपये का कर्ज है। यहां कर्ज दोनों पर है और पांच की संख्या भी समान है, तथापि एक का कर्ज हल्का और दूसरे का भारी है। दोनों में यह अन्तर है।

अब यह देखना चाहिए कि अग्नि में भी जीव होते हैं। उन जीवों की क्रिया लगती है या नहीं? शास्त्र कहता है—आग में भी जीव है। महाभारत भी पांच प्रकार के स्थावर योनि वाले जीवों को स्वीकार करता है। कई लोगों का कथन है कि वृक्ष में जीव नहीं है, मगर यह कथन ठीक नहीं है। उद्भिज जीव, जो जमीन फोड़ कर निकलते हैं, वह झाड़ हैं। जगदीशचन्द्र बसु ने भी झाड़ में जीव सिद्ध किये हैं।

सार यह है कि मृग मारने में त्रस जीव की हत्या की क्रिया लगती और आग जलाने में स्थावर जीवों के प्राणनाश की क्रिया लगती है। स्थावर योनि के भी जीव होते हैं। ऐसा न होता तो संयमी को आग जलाने से न रोका जाता। मगर संयमी पुरुष के लिए आग जलाने का निषेध किया गया है। मनु ने पांच सूना—कर्म बतलाये हैं। उनमें एक चूल्हा, दूसरी चक्की, तीसरा ऊखला, चौथा परिंडा और पांचवां झाडू है। गृहस्थ को यह पांच कर्म लगते ही हैं।

अगर गृहस्थ इन्हें छोड़ने चले तो उसे दूसरी प्रकार की और अधिक क्रियाएं लगेंगी। हां मुनिधर्म का पालन करने की इच्छा वाला पुरुष इन्हें अवश्य छोड़ता है और उसे छोड़ना भी चाहिए। सूनाकर्म से बचने के लिए बहुत–से सत्कार्य बतलाये हैं; जैसे अतिथिसत्कार आदि। इस प्रकार गृहस्थजीवन में क्रिया लगती तो है ही, मगर जहां तक बन सके , भारी क्रिया नहीं लगने देना चाहिए। मृग मारे बिना संसार का काम चल सकता है, मगर आग के बिना नहीं चल सकता। फिर भी तीन, चार और पांच क्रियाओं का विचार रखना ही चाहिए।

फिर गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! एक आदमी मृग मारने की आजीविका व्यापार करता है। वह दिन–रात मृग मारने का ही अध्यवसाय रखता है। ऐसा मनुष्य वन, झाड़ी आदि किसी स्थान पर जाकर 'यह मृग है, इन्हें मारूं' ऐसा संकल्प करके उन पर बाण का संधान करता है। भगवन्! इस पुरुष को बाण छोड़ने पर कितनी क्रियाएं लगेंगीं?

गौतम स्वामी के इस प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने फरमाया–हे गौतम! कदाचित् तीन क्रियाएं लगती है, कदाचित् चार और कदाचित् पांच।

तब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन् ऐसा क्यों? भगवान् ने कहा–हे गौतम! उस आदमी ने बाण चलाया है मगर वह अभी बीच में ही है–मृग को लगा नहीं है। तब तक उसे तीन क्रियाएं लगती हैं। जब मृग को लगा नहीं है तब तक उसे तीन क्रियाएं लगती हैं। जब मृग को बाण लग गया और उसे पीड़ा हो रही है, पर मरा नहीं है, तब तक चार क्रियाएं लगती हैं और मर जाने पर पांच क्रियाएं लगती हैं।

यहां विचारणीय यह है कि शिकारी ने मृग को मारने का संकल्प किया, उसकी नीयत उसे मारने की हो गई, फिर भगवान ने तीन, चार और पांच क्रियाएं क्यों कही हैं? क्या शारीरिक क्रिया ही हिंसा का कारण है ? मन के विचार का पाप नहीं लगता है? अगर ऐसा नहीं है तो इस कथन का आशय क्या है?

शास्त्र में कायिक और मानसिक–दोनों प्रकार के पाप बतलाये गए हैं। मानसिक क्रिया से मानसिक और कायिक क्रिया से कायिक पाप लगता है। व्यवहार में शारीरिक क्रिया ही मुख्यता से ली जाती है और निश्चय में तो मानसिक संकल्प होते ही जीव पापी बन जाता है। निश्चय की बात व्यवहार

में नहीं ला सकते। उदाहरणार्थ–किसी राजा को योग सिद्ध है। कौन आदमी क्या संकल्प करता है, यह बात उसे मालूम है। लेकिन वह अगर संकल्प के आधार पर ही सजा देने बैठे तो नित्य न जाने कितने आदमी दण्ड भोगेंगे? और बड़ी गड़बड़ी पड़ेगी। मतलब यह है कि केवल संकल्प ही मानने से व्यवस्था नहीं रह सकती। व्यवहार के साथ संकल्प का विचार तो किया जाता है पर केवल संकल्प व्यवहार में नहीं देखा जाता। राजकीय कानून के अनुसार भी अगर कोई आदमी किसी आदमी पर गोली चलावे, पर गोली लगे नहीं और जिस पर गोली चलाई गई है, वह बच जाय तो गोली चलाने वाले को फांसी की सजा नहीं होती। अर्थात् मारने वाले ने जिसके संबंध में संकल्प किया है, उसकी हानि का भी विचार किया जाता है। इसी प्रकार मृग मारने का संकल्प करने से निश्चय में तो पांच क्रियाएं लगीं, मगर व्यवहार में तीन, चार और पांच क्रियाओं का भेद है।

यद्यपि पाप की जड़ मन ही है, परन्तु व्यवहार में पाप कार्य देख कर ही किसी को पापी कहा जा सकता है। मन में पाप करने का संकल्प हुआ, किन्तु पीछे मन में ही उस पाप के विषय में पश्चात्ताप कर लिया, तो मानसिक पाप का प्रायश्चित्त मानसिक पश्चात्ताप से ही हो जाता है।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं–भगवन्! एक पुरुष मृग मारने की आजीविका करता है। वह मृग मारने के उद्देश्य से वन में गया। उसने 'यह मृग है' ऐसा विचार कर किसी एक मृग पर बाण चढाया। वह बाण छोड़ने को ही था कि पीछे से एक और आदमी आ गया और उसने बाण चढाने वाले पुरुष को मार डाला। परन्तु बाण चढाने वाले आदमी के हाथ से बाण छूट गया और उससे वह मृग मर गया। तो पीछे से आकर मारने वाला पुरुष मृग के वैर से स्पृष्ट हुआ या पुरुष के वैर से स्पृष्ट हुआ? पहले वाले पुरुष का सिर कट गया था और सिर कटने के बाद बाण छूटा। ऐसी दशा में उस पुरुष को, मारने वाले दूसरे पुरुष को पुरुष और मृग–दोनों का वैर लगा अथवा केवल पुरुष या केवल मृग का?

इस प्रश्न का उत्तर भगवान् ने दिया–हे गौतम! जो पुरुष पुरुष को मारने के लिए तत्पर हुआ उसे पुरुष का वैर लगा और जो मृग मारने के लिए तत्पर हुआ उसे मृग का वैर लगा।

गौतम स्वामी फिर पूछते हैं–हे भगवन्! उस पुरुष का सिर तो पहले ही कट गया था, फिर उसे मृग मरने का वैर क्यों लगा? दूसरे पुरुष ने पहले

पुरुष की हत्या की, इससे पहले पुरुष के हाथ से बाण छूटा और मृग मर गया। इस प्रकार दोनों हत्याएं उस दूसरे पुरुष को क्यों नहीं लगती?

भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! 'कडमाणे कड' यानी जो काम करने लगे वह किया, जो निकल रहा है वह निकला, कहना चाहिए। पहले आदमी ने मृग मारने का संकल्प करके बाण चढाया, तो समझना चाहिए कि उसने मृग की हिंसा कर दी।

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! एक पुरुष की शक्ति लेकर कोई दूसरा पुरुष जिसकी शक्ति है, उसी को मारने लगे तो उसे कितनी क्रियाएं लगेंगी? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! तीन क्रिया, चार क्रिया और पांच क्रिया लगेंगी।

वीर्यविचार

मूलपाठ

प्रश्न–जीवा णं भंते! किं सवीरिया अवीरिया?

उत्तर–गोयमा! सवीरिया वि, अवीरिया वि।

प्रश्न–से केणट्ठेणं?

उत्तर–गोयमा! जीवा दुविहा पणणत्ता! तं जहा–संसार समावण्णगा य असंसार समावण्णगा य। तत्थ णं जे ते असंसार समावण्णगा ते णं सिद्धा, सिद्धाणं अवीरिया। तत्थ णं जे ते संसार समावण्णगा ते दुविहा पण्णत्ता। तं जहा–से लेसि पडिवण्णगा य, असेलेसि पडिवण्णगा य। तत्थं णं जे ते सेलेसि पडिवण्णगा ते णं लद्धि वीरिएणं सवीरिया, करण वीरिएणं अवीरिया। तत्थ णं जे ते असेलेसि पडिवण्णगा ते णं लद्धि वीरिएणं सवीरिया, करण वीरिएणं सवीरिया वि, अवीरिया वि। से तेणट्ठेणं गोयमा! एवं वुच्चइ–जीवा दुविहा पण्णत्ता, तंजहा–सवीरिया वि, अवीरिया वि।'

प्रश्न–णेरइया णं भंते! किं सवीरिया, अवीरिया?

उत्तर–गोयमा! णेरइया लद्धि वीरिएणं सवीरिया, करण वीरिएणं सवीरिया वि, अवीरिया वि।

प्रश्न–से केणट्ठेणं?

उत्तर–गोयमा! जेसि णं णेरइयाणं अत्थि उट्ठाणे, कम्मे, बले, वीरिए पुरिसक्कारपरक्कमे, ते णं णेरइया लद्धि वीरिएणं वि सवीरिया, करण वीरिएणं वि सवीरिया, करण वीरिएणं वि सवीरिया । जेसि णं णेरइयाणं णत्थि उट्ठाणे जाव–परकक्मे, ते णं णेरइया लद्धि वीरिएणं सवीरिया, करण वीरिएणं अवीरिया। से तेणट्ठेणं।

जहा णेरइया, एवं जाव–पंचिंदिय त्तिरिक्ख जोणिया। मणूसा जहा ओहिया जीवा। सवरं–सिद्धवज्जा भाणियव्वा। वाणमंतर–जोइस–वेमाणिया जहा णेरइया।

सेवं भंते! सेवं भंते! त्ति जाव विहरइ। अट्ठमो उद्देशो सम्मत्तो

संस्कृत–छाया

प्रश्न–जीवा भगवन्! किं सवीर्याः, अवीर्याः?

उत्तर–गौतम! सवीर्याः अपि, अवीर्याः अपि।

प्रश्न–तत्केनार्थेन?

उत्तर–गौतम! जीवा द्विविधाः प्रज्ञप्तः। तद्यथा संसारसमापन्नकाश्च, असंसारसमापन्नकाश्च तत्र ये तेऽसंसारसमापन्नकास्ते सिद्धाः, अवीर्याः। तत्र ये ते संसारसमापन्नकास्ते द्विविधाः प्रज्ञप्तः! तद्यथा– शैलेशी प्रतिपन्नकाश्च, अशैलेशी प्रतिपन्नकाश्च। तत्र ये ते शैलेशी प्रतिपन्नकास्ते लब्धिवीर्येण सवीर्याः, करणवीर्येणऽवीर्याः। तत्र ये ते अशैलेशी प्रतिपन्नकास्ते लब्धवीर्येण सवीर्याः, करणवीर्येण सवीर्याः अपि, अवीर्याः अपि। तत् तेनार्थेन गौतम! एवमुच्यते–' जीवा द्विविधाः प्रज्ञप्तः, तद्यथा–सवीर्या अपि, अवीर्या अपि।'

प्रश्न–नैरयिका भगवन्? किं सवीर्याः, अवीर्याः?

उत्तर–गौतम! नैरयिका लब्धिवीर्येण सवीर्याः, करणवीर्येण सवीर्या अपि, अवीर्या अपि।

प्रश्न–तत् केनार्थेन?

उत्तर–गौतम! येषां नैरयिकाणाम् अस्ति उत्थानम्, कर्म, बलम्, वीर्यम्, पुरुषकार पराक्रमस्ते नैरयिका लब्धिवीर्येणाऽपि सवीर्याः, करणवीर्येणाऽपि सवीर्याः। येषां नैरयिकाणां नास्ति उत्थानम्, यावत् पराक्रमस्ते नैरयिका लब्धिवीर्येण सवीर्याः करणवीर्येण अवीर्याः। तत् तेनार्थेन।

यथा नैरयिकाः, एवं यावत् पञ्चेन्द्रिय तिर्यग्योनिकाः। मनुष्याः यथा औधिका जीवाः। नवरम्–सिद्धवर्जा भणितव्याः। वानव्यन्तर ज्योतिष्क–वैमानिका यथा नैरयिका।

तदेवं भगवन्! तदेवं भगवन्! इति यावत् विचरति।

प्रश्न–भगवन्! क्या जीव वीर्यवाले हैं या वीर्यरहित हैं?

उत्तर–गौतम! वीर्यवाले भी हैं और वीर्यरहित भी हैं।

प्रश्न–भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर–गौतम! जीव दो प्रकार के हैं–संसार समापन्नक (संसारी) और असंसार समापन्नक (सिद्ध)। उनमें जो जीव असंसार समापन्नक हैं, वे सिद्ध

जीव हैं और वे वीर्यरहित हैं। जो जीव संसार समापन्नक हैं, वे दो प्रकार के हैं—शैलेशी प्रतिपन्न और अशैलेशी प्रतिपन्न। उन में जो शैलेशीप्रतिपन्न हैं, वे लब्धिवीर्य की अपेक्षा सवीर्य हैं। और करणवीर्य की अपेक्षा अवीर्य हैं। तथा उनमें जो अशैलेशी प्रतिपन्न हैं वे लब्धिवीर्य से सवीर्य हैं, किन्तु करणवीर्य से सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी है। इसलिए, गौतम! ऐसा कहा है कि जीव दो प्रकार के हैं—सवीर्य भी और अवीर्य भी।

प्रश्न—भगवन्! नारकी जीव वीर्यवाले हैं या वीर्यरहित हैं?

उत्तम—गौतम! नारकी लब्धिवीर्य से सवीर्य और करणवीर्य से सवीर्य भी है और अवीर्य भी हैं।

प्रश्न—भगवन्! इसका क्या कारण है?

उत्तर—हे गौतम! जिन नारकियों के उत्थान, कर्म, बल, वीर्य और पुरुषकार पराक्रम हैं, वे नारकी लब्धिवीर्य और करणवीर्य से भी सवीर्य हैं और जो नारकी उत्थान यावत् पुरुषकार पराक्रम से रहित हैं, वे नारकी लब्धिवीर्य से सवीर्य हैं और करणवीर्य से अवीर्य हैं। अतएव हे गौतम! इस कारण पूर्वोक्त कथन किया गया है।

इस प्रकार यावत्—पञ्चेन्द्रिय तिर्यंच योनि वाले जीवों तक नारकियों के समान समझना। मनुष्यों के विषय में सामान्य जीवों के समान समझना। विशेषता यह है कि सिद्धों को छोड़ देना तथा वाणव्यंतर, ज्योतिषी और वैमानिक नारकियों के समान जानना।

हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। हे भगवन्! यह इसी प्रकार है। ऐसा कहकर गौतम स्वामी विचरते हैं।

व्याख्यान—

अब गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! सब जीव बल, वीर्य, पराक्रम से युक्त हैं या नहीं? भगवान् ने फर्माया—गौतम! सहित भी हैं और रहित भी हैं। जीव दो प्रकार के होते हैं "संसारिणो मुक्ताश्च" संसारी और सिद्ध। सिद्ध जीव लब्धि पराक्रम वाले नहीं होते। वे कृत्य—अकृत्य से परे हैं। संसारी जीव दो प्रकार के हैं—किसी में लब्धिवीर्य होता है, किसी में करणवीर्य होता है। किसी में दोनों प्रकार का वीर्य होता है।

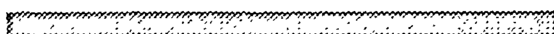
गौतम स्वामी पूछते हैं—भगवन्! नरक के जीव में भी वीर्य होता है या नहीं? भगवान् ने उत्तर दिया—गौतम! होता है, वे लब्धिवीर्य और करणवीर्य—दोनों से सवीर्य है; मगर कभी करणवीर्य होता है, कभी किसी को नहीं भी होता है।

नरक के जीवों के समान भवनवासी, अग्निकाय, पृथ्वीकाय, वायुकाय, वनस्पतिकाय, ज्योतिषी देव और वैमानिक देव आदि सब जीवों के विषय में अलग–अलग प्रश्न किये और भगवान् ने उत्तर दिया–यह सब सवीर्य भी हैं और अवीर्य भी हैं।

एक प्रकार का आत्मबल वीर्य कहलाता है। जब वह आत्मबल किसी प्रकार की क्रिया नहीं करता, तब लब्धिवीर्य कहलाता है और जब क्रिया में व्यावहृत होता है तब करणवीर्य कहलाता है।

भगवान् के उत्तर सुनकर गौतम स्वामी कहने लगे ! प्रभो ! आप का कथन सत्य है, तथ्य है। ऐसा कहकर वे संयम और तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरने लगे।

श्री विवाह प्रज्ञप्ति सूत्र का
आठवां उद्देशक समाप्त

श्री जवाहर विद्यापीठ, भीनासर

– एक परिचय –

स्थानकवासी जैन परम्परा में आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. एक महान् क्रांतिकारी संत हुए हैं। आषाढ़ शुक्ला अष्टमी, संवत् 2000 को भीनासर में सेठ हमीरमलजी बांठिया स्थानकवासी जैन पौषधशाला में उन्होंने संथारापूर्वक अपनी देह का त्याग किया। उनकी महाप्रयाण यात्रा के बाद चतुर्विध संघ की एक श्रद्धांजलि सभा आयोजित की गई, जिसमें उनके अनन्य भक्त भीनासर के सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया ने उनकी स्मृति में भीनासर में ज्ञान–दर्शन–चारित्र की आराधना हेतु एक जीवन्त स्मारक बनाने की अपील की। तदनन्तर दिनांक 29.4. 1944 को श्री जवाहर विद्यापीठ के रूप में इस स्मारक ने मूर्त रूप लिया।

शिक्षा, ज्ञान एवं सेवा की त्रिवेणी प्रवाहित करते हुए संस्था ने अपने छह दशक पूर्ण कर लिए हैं। आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. के व्याख्यानों के संकलित, सम्पादित ग्रंथों को 'श्री जवाहर किरणावली' के नाम से प्रकाशित किया जा रहा है। वर्तमान में इसकी 32 किरणों का प्रकाशन संस्था द्वारा किया जा रहा है। इनमें गुंफित आचार्यश्री की वाणी को जन–जन तक पहुंचाने का यह कीर्तिमानीय कार्य है। आज गौरवान्वित है गंगाशहर–भीनासर की पुण्यभूमि, जिसे दादागुरु का धाम बनने का सुअवसर मिला और ज्योतिर्धर आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. की कालजयी वाणी जन–जन तक पहुंच सकी।

संस्था द्वारा एक पुस्तकालय का संचालन किया जाता है जिसमें लगभग 5000 पुस्तकें एवं लगभग 400 हस्तलिखित ग्रंथ हैं। इसी से सम्बद्ध वाचनालय में दैनिक, साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक–कुल 30 पत्र–पत्रिकाएं उपलब्ध करवाई जाती हैं। प्रतिदिन करीब 50–60 पाठक इनसे लाभान्वित होते हैं। ज्ञान–प्रसार के क्षेत्र में पुस्तकालय–वाचनालय की सेवा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और क्षेत्र में अद्वितीय है।

महिलाओं को स्वावलम्बी बनाने हेतु संस्था द्वारा सिलाई, बुनाई, कढाई प्रशिक्षण केन्द्र का संचालन किया जाता है, जिसमें योग्य अध्यापिकाओं द्वारा महिलाओं व छात्राओं को सिलाई, बुनाई, कढ़ाई व पेन्टिंग कार्य का प्रशिक्षण दिया जाता है। इससे वे अपने गृहस्थी के कार्यों में योगदान दे सकती हैं और आवश्यकता पड़ने पर इस कार्य के सहारे जीवन में स्वावलम्बी भी बन सकती हैं।

संस्था के संस्थापक स्वर्गीय सेठ श्री चम्पालालजी बांठिया की जन्म जयन्ती पर प्रत्येक वर्ष उनकी स्मृति में एक व्याख्यानमाला का आयोजन किया जाता है जिसमें उच्च कोटि के विद्वानों को बुलाकर प्रत्येक वर्ष अलग–अलग धार्मिक, सामाजिक विषयों पर प्रवचन आयोजित किए जाते हैं।

उपरोक्त के अलावा प्रदीपकुमारजी रामपुरिया स्मृति पुरस्कार के अन्तर्गत भी प्रतिवर्ष स्नातकस्तरीय कला, विज्ञान एवं वाणिज्य संकाय में बीकानेर विश्वविद्यालय में प्रथम व द्वितीय स्थान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को नकद राशि, प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है एवं स्नातकोत्तर शिक्षा में बीकानेर विश्वविद्यालय में सर्वाधिक अंक प्राप्त करने वाले एक विद्यार्थी को विशेष योग्यता पुरस्कार के रूप में प्रशस्ति–पत्र एवं प्रतीक–चिह्न देकर सम्मानित किया जाता है।

विद्यापीठ द्वारा ठण्डे, मीठे जल की प्याऊ का संचालन किया जाता है। जनसाधारण के लिए इसकी उपयोगिता स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार अपने बहुआयामी कार्यों से श्री जवाहर विद्यापीठ निरन्तर प्रगति–पथ पर अग्रसर है।